संस्थापक
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

The Founder of
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya



स्वामी श्रद्धानन्द जी
Swami Shraddhanand Ji
(1856 – 1926)

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (तृतीयोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

अंक 3 मार्च 2005

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

2005

सम्पादक-मण्डल

प्रकाशक प्रो. ए.के. चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

मूल्य १०० रुपये वार्षिक

मुदक- किरण प्रिन्टिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगडी फार्मेसी हरिद्वार- फोन २४५६७५

विषयानुक्रमणिका

1. सम्पादकीयम्	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री	1
2. श्लेषकाव्यपरम्परा	प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री	11
3. वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा	प्रो. अमरनाथ पाण्डेय	21
4. ऋग्वेद में उपसर्ग	डॉ0 महावीर अग्रवाल	27
5. ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात	डॉ0 मीरा रानी रावत	35
6. वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र	डॉ0 सोमदेव शतांशु	41
7. निघण्टु में अनुपलब्ध-निरुक्त में व्याख्यात पद	डॉ0 वेदपाल	47
8. वेदों में निहित लोकमंगल की भावना	डॉ0 मंजुलता शर्मा	54
9. वैदिक यज्ञ और महर्षि दयानन्द सरस्वती	डॉ0 बलवीर आचार्य	59
10. वैदिक पञ्चकोश-एक विवेचन	डॉ0 कृष्णा आचार्य	74
11. काम, क्रोध व लोभ के शमन में सहायक मन्त्र	ले0 मनोहर विद्यालंकार	81
12. वैदिक वाङ्मय में पशुतत्त्वचिन्तन	डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा	85
13. वैदिक इन्द्र के विभिन्नार्थ-दर्शन	डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार	89
14. वेदों में यज्ञ	डॉ0 रमा दुबे	95
15. उपनिषदों का एक भौगोलिक अध्ययन	डॉ0 विजेन्द्र कुमार तोमर	101
16. आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण	डॉ0 जगत नारायण त्रिपाठी	110
17. जैन चिन्तन में कर्मफलभोग	डॉ0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार	115
18. श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग	डॉ0 (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता	121
19. महाभारत का वनपर्व-आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में	डॉ0 (श्रीमती) निरूपा सिंह	125
20. कालिदास और वैदिक व्यवस्था	डॉ0 वेदप्रकाश उपाध्याय	129
21. कालिदास का प्रकृतिदर्शन	कु0 पुष्पा	134
22. पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्	डॉ0 भारतेन्दु पाण्डेय:	140
23. डॉ0 रामकिरण शर्मा के उपन्यासों में आदर्शवाद	डॉ0 मंजुल गुप्ता	144
24. राजशेखर और साहित्यिक आदान-प्रदान	डॉ0 किरण टण्डन	157
25. शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ	डॉ0 वीना बिश्नोई शर्मा	165
26. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य के कवि पन्त	डॉ0 सत्यप्रकाश शर्मा	174
27. मानसिक स्वास्थ्य का सुधार एवं उन्नति	डॉ0 विजयलक्ष्मी	187
28. नारी-मानव-निर्माण	डॉ0 मृदुल जोशी	192
29. प्राचीन भारत में सती-प्रथा	डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता	196
30. Yajna and air Pollution	D.R. Khanna	204
31. Yajna Samagri for different season	Navneet and Prabhat	212
32. Globaliation of Ayurveda and its Impact on South East Asia	Dr. S.K. Joshi	221
33. Water in Vedas	R. Bhutiani & D.R. Khanna	225
34. Stress and Health	Vikram Singh & Dr. C.P. Khokar	232

ब्राह्मण-साहित्य में अध्यात्म

विश्वसाहित्य की सबसे प्राचीनतम धरोहर वेद है। वेद उस ज्ञानराशि का नाम है, जिसमें समस्त मानवीय मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ आत्मचिन्तन भी मुखरित हुआ है। उपर्युक्त साहित्य में जीवन को जीने के लिये जिन मानदण्डों की स्थापना की गयी है, वे यथार्थ अनुभूति पर आधारित हैं, इसलिये वेद का यथार्थ सत्य है और जीवन का यथार्थ भी इससे भिन्न नहीं है। सम्भवतः, इसी कारण ब्राह्मणग्रन्थ सत्यवक्ता को धर्म वक्ता और धर्मवक्ता को सत्यवक्ता मानता है।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवनयात्रा का प्रथम सोपान भी सत्य है और अन्तिम सोपान भी।

आचार्य यास्क ने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा माना है। इन ऋषियों ने अन्तर्दृष्टि विहीन परवर्ती पीढ़ियों को मन्त्र का उपदेश दिया। समय के साथ आगे आने वाली पीढ़ियाँ, जब मन्त्र के उपदेश को समझने में असमर्थ हो गयीं, तब इस निरुक्त, वेद तथा वेदाङ्गों का समाम्नान किया गया।'[2]

उपर्युक्त यास्क के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदाङ्ग अर्थात् वेद को समझने में सहायक ब्राह्मणग्रन्थ आदि का गठन किया गया। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र और ब्राह्मण मूलतः, भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वेद के मर्म को हृदयङ्गम कराने के लिये, जिन विधाओं का गठन प्रारम्भ हुआ, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण विधा ब्राह्मण ग्रन्थ है। ब्राह्मण के विषय में ब्राह्मणग्रन्थ कहता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही ब्राह्मण हुए।[3] इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि सृष्ट वाणी को चार भागों में बाँटा गया तथा जो वाक् शेष रह गयी, उसको ब्राह्मण में स्थापित कर दिया गया, अतः, ब्राह्मण दो प्रकार की वाणी बोलते हैं, एक वेद की और अन्य जो वेद की नहीं है।[4] इससे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों की विषयवस्तु वेद से भिन्न भी है।

जहाँ तक ब्राह्मण-साहित्य में अध्यात्म का प्रश्न है, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उक्त साहित्य की मुख्य धारा अध्यात्म नहीं है। वैदिक काल का ऋषि जिस तरह सत्य की गवेषणा के लिये

---

१ शत०ब्रा०,१४.४.२.२६. 'यो वै सधर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति।'

२ निरु०,१.२०.

३ जै०ब्रा०,२.२६६. 'ऋषिर्ह स्म मन्त्रकृद् ब्राह्मण आजायते।'

४ मै०सं०,१.११.५. 'सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् . . . . . ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुस्तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न।'

कटिबद्ध दिखायी देता है, उस प्रवृत्ति के दर्शन ब्राह्मण-साहित्य में नहीं होते। यह शैलीगत भिन्नता सर्वथा अस्वाभाविक नहीं है।

ब्राह्मण-साहित्य में, निरुक्त की तरह, अधिदैवत और अध्यात्म शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। ब्राह्मणग्रन्थ 'अयन' शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है कि आदित्य ही अयन है, क्योंकि वही लोकों में जाता है, यह अधिदैवतपक्ष है। प्राण ही अयन है, क्योंकि वही सबमें गतिशील रहता है, यह अध्यात्मपक्ष है।[१] एक अन्य स्थल पर 'अक्षर' की त्रिविध व्याख्या करता हुआ ब्राह्मणग्रन्थ कहता है कि तीन सौ साठ अक्षर, तीन सौ साठ ऊष्म तथा तीन सौ साठ सन्धियाँ हैं। जो अक्षर हैं, वे दिन हैं, जो ऊष्म हैं, वे रात्रियाँ हैं और जो सन्धियाँ हैं, वे अहोरात्र की सन्धियाँ हैं, यह अधिदैवतपक्ष है। अधिदैवतपक्ष में अक्षर थे, वे अध्यात्मपक्ष में अस्थियाँ हैं और जो अधिदैवतपक्ष में ऊष्म थे, वे अध्यात्मपक्ष में मज्जा हैं।[२]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में अध्यात्म वह है, जो कर्मकाण्ड प्रधान बाह्य जगत् से हटकर शरीर की ओर केन्द्रित होता है। हम कह सकते हैं कि जिसमें चिन्तन की दृष्टि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होती हो, वह अध्यात्म है। इस पथ का पथिक समस्त प्रपञ्चों से मुक्त होकर अपने को जानने का प्रयास करता है। तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है कि 'सावित्र अग्नि को जानने वाला, इस लोक से मुक्त होकर आत्मा को जानता है कि यह मैं हूँ।'[३] 'यह मैं हूँ' इस सत्य का साक्षात्कार ही आत्म अथवा अध्यात्म दर्शन है। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि यह जो शरीर में तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही अध्यात्म है और जो आत्मा है, वह अमृत है तथा यह सब कुछ ब्रह्म है।[४]

उपर्युक्त शतपथ-ब्राह्मण के उद्धरण से आत्मा तेजोरूप, अविनाशी तथा सर्वव्यापक सिद्ध होती है। वह पुरुष होने के कारण ब्रह्म है। ब्राह्मणग्रन्थ इस आत्मा को अविनाशी के साथ अविच्छेद्य भी मानता है।[५]

ब्राह्मणग्रन्थ के अनुसार अन्तरात्मन् पुरुष हिरण्मय है, वह धूमरहित ज्योति, आकाश, पृथिवी, सम्पूर्णभूत इत्यादि की अपेक्षा बहुत बड़ा है। वह प्राण का आत्मा है, मेरा आत्मा है। ऐसे इस आत्मा को **

---

१ जै०ब्रा०,२.२९. 'आदित्य एवायनम्। स ह्येषु लोकेष्वेति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। प्राण एवायनम्। स ह्यस्मिन् सर्वस्मिन्नेति।'

२ ऐ०आ०,३.२.२-४. 'अथाध्यात्मम्। यान्यक्षराण्यधिदैवतमवोचामास्थीनि तान्यध्यात्मं यानूष्मणोऽधिदैवतमवोचाम मज्जानस्तेऽध्यात्मम्।'

३ तै०सं०,३.१०.११.१. 'अथ यो ह वैतमग्निः सावित्रं वेद। स एवास्माल्लोकात्प्रेत्यात्मानं वेद। अयमहमस्मीति।'

४ शत०ब्रा०,१४.५.५.१. 'यश्चायमध्यात्मः शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम्।'

५ शत०ब्रा०,१४.७.३.१५. 'अविनाशी वाऽरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।'

लोक को छोड़ने के बाद प्राप्त करूँगा। जिसके प्राप्त होने पर, फिर वास्तव में, कोई सन्देह नहीं रहता।[1] उक्त उद्धरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि इन लौकिक पदार्थों की तुलना में वह आत्मतत्त्व अधिक व्यापक तथा इनसे पृथक् भी है।

शाङ्खायन-आरण्यक कहता है कि नेति, नेति के द्वारा उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये, यह जो कुछ भी है, वह सब कुछ आत्मा है। उसको 'तत्त्वमसि' के द्वारा जानना चाहिये कि मैं ब्रह्म हूँ। यह आत्मा ब्रह्म है, यह सबकी अनुभूति है, ऐसा आचार्य याज्ञवल्क्य का उपदेश है।[2] यह सब कुछ आत्मा ही है, इस तथ्य की पुष्टि शतपथ-ब्राह्मण से भी हो जाती है।[3] कहीं आत्मा को लौकिक पदार्थों से पृथक् बताया गया है, तो कहीं जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है, का प्रतिपादन ब्राह्मणों ने किया है। स्थूलदृष्ट्या इन दोनों तरह के वक्तव्यों में अन्तर है, परन्तु तत्त्वदृष्टि से विवेचन करने पर दोनों कथनों में पूर्ण अविरोध है। जहाँ ब्राह्मण की भेदक दृष्टि है, वहाँ वह सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का प्रतिपादन करना चाहता है और जहाँ अभेद दृष्टि है, वहाँ वह सर्वकाल में, सर्वत्र स्थित रहने वाले स्वरूप को ध्यान में रखकर वक्तव्य देता है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादन करने की एक विशिष्ट शैली है। वह एक ही वस्तु को अनेक रूपों में और अनेक वस्तुओं को एक रूप में प्रतिपादन करता है, जैसे-आत्मा को त्रिष्टुप्,[4] देवता,[5] पङ्क्ति,[6] पञ्चमी,[7] प्रजा,[8] यजमान,[9] वपा,[10] वृषाकपिः,[11] यज्ञ का होता,[12] हृदय,[13] प्रजापति,[14] वाक्[15] इत्यादि अनेक

---

१ शत०ब्रा०,१०.६.३.१. 'अयमन्तरात्मपुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान्दिवो ज्यायानाकाशाज्ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्सर्वेभ्यो भूतेभ्य स प्राणस्यात्मैष मऽआत्मैतमित आत्मानं प्रेत्याभिसंभविष्यामिति। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति।'

२ शां०आ०,१३.१. 'स एष नेत्यात्मा न गृह्यः। . . . . . .इदं सर्वं यदयमात्मा, स एष तत्त्वमसीत्यात्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मीति. . . . . .अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनमिति याज्ञवल्क्यः।'

३ शत०ब्रा०,४.२.२.१. 'सर्वं ह्ययमात्मा।'

४ शत०ब्रा०,६.२.१.२४.

५ तै०सं०,२.५.११.६.

६ ऐ०ब्रा०,२.२१.

७ काठ०सं०,२२.४.

८ षड्०ब्रा०,२.८.

९ गो०ब्रा०,२.५.४.

१० तै०सं०,६.३.९.

११ ऐ०ब्रा०,६.२९.

१२ कौ०ब्रा०,९.६.

१३ मै०सं०,३.१०.२.

१४ शत०ब्रा०,४.६.१.१.

१५ मै०सं०,१.९.५.

रूपों में देखता है। इस शैलीगत विशिष्टता के कारण आचार्य यास्क ब्राह्मणों के विषय में कहते हैं कि **'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति'**[१] कि किसी गुण वैशिष्ट्य के आधार पर ब्राह्मण सभी को सब प्रकार से कहता है।[२] परन्तु वर्णन की यह शैली सर्वथा निराधार नहीं है, कोई न कोई तत्त्व उसके मूल में होता है। सम्भवतः, वैदिक साहित्य में इस प्रकार की शैली के अन्यत्र दर्शन नहीं होते। इस शैली का आधार भारतीय दर्शन का अध्यात्म-चिन्तन है। एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की अवधारणा का, जितना सफल प्रयोग, ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ है, वैसा विश्वसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिये निश्चयात्मकता का अभाव होते हुए भी यह ग्राह्य है। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अपनी परम्परा से ब्राह्मणग्रन्थ के ऋषियों को शब्द और उसके अर्थ को देखने की एक विशिष्ट शैली प्राप्त हुई, जिसमें वैदिक शब्दों के विविध अर्थ निहित हैं। मन्त्रार्थ करते समय उनमें से किसी एक अथवा अनेक अर्थों को लेकर प्रकरण आदि के औचित्य के आधार पर मन्त्र की व्याख्या करनी चाहिये।

उपर्युक्त शैली के परिप्रेक्ष्य में हम ब्राह्मणग्रन्थों के अध्यात्म-चिन्तन की विवेचना करेंगे।

अक्षर को स्पष्ट करते हुए जैमिनीयोपनिषद् में कहा गया है कि वह नष्ट नहीं होता, इसलिये उसका नाम 'अक्षय' है, परोक्षवृत्ति में 'अक्षय' ही 'अक्षर' होगया है।[३] गोपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि देवता परोक्षप्रिय और प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले होते हैं।[४] शतपथ-ब्राह्मण देवताओं को परोक्ष मानता है और उन्हें परोक्षकाम बतलाता है।[५]

उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि देवता परोक्षप्रिय हैं। इस तथ्य की परीक्षा, चाहे हम, व्याकरण की दृष्टि से करें या फिर दार्शनिक दृष्टि से, दोनों दृष्टियों से देखने पर लगभग ९० प्रतिशत देवतावाचक शब्द अव्युत्पन्न अथवा ऐकपदिक हैं। प्रस्तुत अक्षर शब्द भी पाणिनि व्याकरण में उणादिकोष की सहायता से व्युत्पन्न किया जाता है।[६] यह भी नहीं माना जा सकता कि आचार्य पाणिनि को देवतावाचक पदों का ज्ञान नहीं था। जो आचार्य अपने व्याकरण की आधारशिला वैदिक साहित्य को बनाकर चल रहा हो, जिसका प्रत्येक प्रत्यय, आगम और आदेश वैदिक स्वरप्रक्रिया को ध्यान में रखकर कल्पित किये

१ निरु०,७.२४.

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ७१०.

३ जै०उप०,१.७.२.२. 'यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षरम्। अक्षयं ह वै नामैतत्। तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते।'

४ गो०ब्रा०,१.२.२१. 'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।'

५ शत०ब्रा०,३.१.३.२५. 'परोक्षं वै देवाः।' शत०ब्रा०,६.१.१.२, ७.४.१.१०. 'परोक्षकामा हि देवाः।'

६ उणा०,३.७०. 'अशेः सरन्।'

गये हों, वह देवता वाचक पदों से अपरिचित रहा हो, नहीं माना जा सकता। पर फिर भी उसने इन पदों को व्युत्पन्न बनाने का प्रयास नहीं किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि पाणिनि ने 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' सिद्धान्त का अनुसरण किया है।

दार्शनिक दृष्टि से देखने पर भी देवता परोक्षप्रिय सिद्ध होते हैं। देवता या आत्मतत्त्व की प्राप्ति सहज नहीं होती। उसके लिये एक जीवनदृष्टि का विकास परम आवश्यक है। धर्म का तत्त्व जितना गूढ है, उसे देखते हुए उपर्युक्त वक्तव्य सर्वथा युक्तिसङ्गत है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति धर्मरूपी वृक्ष का फल है, अतः, परोक्ष को प्रत्यक्ष करने का सङ्केत देकर ब्राह्मणग्रन्थ अध्यात्म दर्शन की दिशा का निर्देश कर रहे हैं।

एकत्व में अनेकत्व का दर्शन और अनेकत्व की एकता में प्रतिष्ठा अध्यात्म दर्शन का आधार है। शतपथ-ब्राह्मण में अग्नि को रुद्र, वरुण, इन्द्र और ब्रह्म कहा गया है। जब अग्नि प्रदीप्त होकर द्योतित होता है, तब वह रुद्र है,[१] जब यही अग्नि प्रदीप्ततर होता है, तब वह वरुण है,[२] जब यह प्रदीप्त होकर ऊँचे उठते हुए धूम समूह के साथ अत्यन्त वेग से प्रज्वलित होता है, तब वह इन्द्र है,[३] जब इसकी ज्वालायें तिरछी होकर शान्त होती हैं, तब वह मित्र है,[४] और जब यह अङ्गार रूप में चमकता है, तब वह ब्रह्म है।[५] काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण से भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।[६] रुद्र से प्रारम्भ होकर, ब्रह्म तक की अवस्थायें अग्नि के क्रमिक विकास को द्योतित करती हैं। ब्रह्म से पूर्व तक की सभी अवस्थाओं में क्रियाशीलता विद्यमान है, परन्तु ब्रह्म में पहुँचकर क्रिया निष्क्रिय हो जाती है। इस निष्क्रियता की प्राप्ति ही ब्रह्म है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य और स्पष्ट होता है कि वह एक वस्तु अवस्था में अन्तर आ जाने अथवा अपने सहजरूप को प्राप्त होने पर ब्रह्म बन जाती है। योगदर्शन में योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध योग है।[७] यहाँ वृत्ति-निरोध से तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के शमन से है। उपर्युक्त ब्राह्मण-साहित्य के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

---

१ शत०ब्रा०,२.३.२.९. 'अथ यत्रैतत्प्रथमः समिद्धो भवति, धूप्यत एव तर्हि हैष भवति रुद्रः।'
२ शत०ब्रा०,२.३.२.१०. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति, तर्हि हैष भवति वरुणः।'
३ शत०ब्रा०,२.३.२.११. 'अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति, उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति, तर्हि हैष भवतीन्द्रः।'
४ शत०ब्रा०,२.३.२.१२. 'अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः।'
५ शत०ब्रा०,२.३.२.१३. 'अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकाशयन्त इव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म।'
६ का०शत०ब्रा०,३.१.२.१. 'स यत्र ह वा एष प्रथमः संप्रधूप्य प्रज्वलति तद्ध वरुणो भवति, अथ यत्र संप्रज्वलितो भवत्यवरेणेव वर्षिमाणं तद्ध रुद्रो भवत्यथ यत्र वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवत्यथ यत्र नितरामर्चयो भवन्ति तद्ध मित्रो भवति, अथ यत्राङ्गारा मल्मलायन्तीव तद्ध ब्रह्म भवति।'
७ योगदर्शन, १.१.

अग्नि पद का निर्वचन करते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि सबसे पहले उत्पन्न होने के कारण यह 'अग्रि' है और परोक्षवृत्ति में यह 'अग्रि' ही 'अग्नि' हो गया है।[1] पुरुष सूक्त में पुरुष से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्त्व 'विराट्' है।[2] शतपथ-ब्राह्मण की दृष्टि में 'अग्नि' और पुरुषसूक्त के ऋषि की दृष्टि में 'विराट्' अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया का प्रथम चरण है। अग्नि की अग्रता का आधार प्रकाश है और विराट् अथवा महत् की महत्ता का आभास विना प्रकाश के सम्भव नहीं है, अतः, विराट् और अग्नि एक तत्त्व के दो नाम हैं।

ब्राह्मण-साहित्य में ब्रह्म को अग्नि बताया गया है।[3] शतपथ-ब्राह्मण में अग्नि को ब्रह्म का मुख कहा गया है।[4] काठक-संहिता में मुख से उत्पन्न होने वाला तत्त्व अग्नि बताया गया है।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अग्नि है, उसका मुख भी अग्नि है और उस मुख से उत्पन्न होने वाला भी अग्नि है। कहने का आशय यह है कि सत्ता भी अग्नि है और सत्ता का विकार भी अग्नि है। सत्ता का जन्म सत्ता से होता है और विलय अथवा मृत्यु भी सत्तारूप होती है। सम्भवतः, इसीलिये वैदिक ऋषि 'पुरुष एवेदं सर्वम्'[6] के रूप में शाश्वत सत्य का उद्घोष करता है। यही पुरुष प्रलय अवस्था में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।[7] ब्राह्मण-साहित्य में सत्ता के सत् और असत् रूपों का वर्णन निश्चय ही वैदिक परम्परा के दार्शनिक विकास को द्योतित करता है।

ब्राह्मण-साहित्य में सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो देवता और प्राणों से भिन्न है, वह सत्य है। देवता और प्राण त्य अर्थात् प्रथम पुरुष है।[8] कहा गया है कि प्रजापति प्रजा को उत्पन्न करके पुनः उसीमें प्रवेश कर गये,[9] यह पुनः प्रविष्ट हुआ आत्मतत्त्व सत् त्यद् अर्थात् स्वयं और स्वयं से भिन्न हो गया।[10] इसलिये जो कुछ भी है, वह सत्य ही है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि 'ओ३म्' सत्य है और

---

१ शत०ब्रा०,६.१.१.११. 'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्।'

२ ऋ०,१०.९०.५.

३ कौ०ब्रा०,९.१.५, जै०ब्रा०,१.१८२. 'ब्रह्म वा अग्निः।' शत०ब्रा०,१.५.१.११. 'ब्रह्म ह्यग्निः. . . .तस्मादाह ब्राह्मणेति।'

४ शत०ब्रा०,६.१.१.१०. 'मुखः ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म।'

५ काठ०सङ्क०,१०१. 'मुखादग्निरजायत।'

६ ऋ०,१०.९०.२.

७ ऋ०,१०.१२९.२.

८ शां०आ०,३.६. कौ०उप०,१.६. 'किं तद्यत्सत्यमिति, यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ, यद्देवाश्च प्राणाश्च तत् त्यम्।'

९ काठ०सं०,१२.५, २७.१. 'सेमाः प्रजा असृजत, सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्।' ऋ०,१०.९०.४.

१० तै०आ०,८.६.१. तै०उप०,२.६१. 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। . . . . .यदिदं किं च तत्सत्यमित्याचक्षते।'

'न' अनृत है।[1] कहने का आशय यह है कि भावात्मक सत् है और अभावात्मक असत्। भाव का अस्तित्व होता है और अस्तित्व ही सत्ता है और अभाव अस्तित्व से रहित होता है, अतः, अभाव असत् है। संसार में अभाव के प्राप्त होने वाली वस्तु सत् नहीं हो सकती, इसलिये उसे आत्मा नहीं मान सकते।

एक वस्तु को अनेक कोणों से देखने की प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मणग्रन्थ आत्मा अथवा ब्रह्म को अन्तरिक्ष कहते हैं।[2] अन्तरिक्ष नामकरण का दूसरा कारण जैमिनीयोपनिषद् के अनुसार यह है कि सब कुछ इसके अन्दर स्थित है, इसलिये परोक्षवृत्ति में 'अन्तर्यक्ष' से 'अन्तरिक्ष' शब्द निष्पन्न हुआ है।[3] जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार अन्तः ईक्षण शक्ति के कारण यह 'अन्तरिक्ष' नाम से अभिहित होता है।[4] अन्तरिक्ष के उपर्युक्त सभी निर्वचन अन्तरिक्ष के ब्रह्मत्व को ध्यान में रखकर किये गये हैं, क्योंकि ब्रह्म ब्रह्माण्ड के अन्दर है और ब्रह्माण्ड ब्रह्म के अन्दर। इसके अतिरिक्त अन्तः ईक्षण शक्ति चेतनतत्त्व के प्रत्येक अंश में विद्यमान है। वही अन्तर्यामी होकर इहलोक, परलोक तथा सम्पूर्ण भूतों का अन्दर से नियमन करता है।[5] ब्राह्मणग्रन्थ की दृष्टि से अन्तरिक्ष का अध्ययन करने पर यह तथ्य विशेषरूप से रेखाङ्कित होता है।

ब्राह्मण-साहित्य में 'अप्' शब्द का वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। ब्राह्मण के अनुसार जलरूप होकर प्रजापति ने सबको व्याप्त किया।[6] गोपथ-ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म ने कहा कि मैं इसके द्वारा 'जो कुछ भी है' उस सबको व्याप्त करूँगा, इस कारण आपः होता हुआ वह सभी कामनाओं को व्याप्त कर लेता है।[7]

उपर्युक्त अध्ययन से 'आपः' के सम्बन्ध में एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि व्यापनशीलता के कारण इसका नाम 'आपः' है। यह व्यापनशीलता जहाँ सलिल के पक्ष में घटित होती है, वहाँ वह आत्मतत्त्व की चरित्रगत विशेषता को भी प्रकट करती है। यदि 'आपः' का कोई भौतिक अर्थ है तो निश्चितरूप से उसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। जिस प्रकार विना 'आपः' के सृष्टि को समझना सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार अध्यात्मक्षेत्र में ब्रह्म के आपत्व (व्यापकत्व) को समझे विना आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

---

१ ऐ०आ०,२.३.६. 'ओ३मिति सत्यं, नेत्यनृतम्।'

२ काठ०सं०,१६.२. 'आत्मा अन्तरिक्षम्।' जै०उप०,२.३.३.६. 'तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्।'

३ जै०उप०,१.६.१.४. 'तद्यस्मिन्निदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्। तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते।'

४ जै०ब्रा०,२.५६. 'यदस्मिन् सर्वस्मिन् अन्तरीक्षते तस्मादन्तरिक्षम्।'

५ शत०ब्रा०,१४.६.७.३. 'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयतीति।'

६ शत०ब्रा०,१.१.१.१४, २.१.१.४, ४.५.७.७. 'अद्भिर्वाऽइदं सर्वमाप्तम्।' जै०ब्रा०,१.३१४. 'आपो भूत्वा सर्वमाप्नोत्।' काठ०सङ्क०,४९: ६-७. 'आपो वा इदं सर्वमाप्नुवंस्तदेनमाह सर्वमाप्नुहीति।'

७ गो०ब्रा०,१.१.२. 'तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते।'

ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड परक यज्ञ है। फिर भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि-विधानों की छायां में अध्यात्म का सन्देश मुखरित हुआ है। न केवल अन्य प्रसङ्गों में, अपितु जहाँ विशुद्धरूप से यज्ञ अथवा अग्निहोत्र का वर्णन चल रहा है, वहाँ भी ब्राह्मणग्रन्थों के ऋषि ने यज्ञ का अध्यात्मपरक अर्थ करने में सङ्कोच नहीं किया है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि आत्मा ही यज्ञ है।[१] जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है।[२] गोपथ-ब्राह्मण रूपक के माध्यम से पुरुषरूपी यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है। उसके अनुसार यज्ञरूपी पुरुष का हविर्धान शिर, आहवनीय मुख, सदस् उदर, उक्थ अन्तःकरण, मार्जालीय (वेदि के दक्षिण का वह स्थान जहाँ यज्ञपात्रों का मार्जन किया जाता है) और आग्नीध्रीय (वह स्थान जहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती है) भुजायें और देवता अन्तःसदस् के धिष्ण्य अर्थात् यज्ञाग्नि स्थापन करने के स्थान हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ ही आत्मा है, और वह अव्यक्त पुरुष यज्ञ से ही व्यक्त होता है, इसलिये सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। तैत्तिरीय-आरण्यक कहता है कि यज्ञ का मेघ ही हविर्धान है, विद्युत् ही अग्नि है, वर्षा ही हवि है, मेघ-गर्जना ही वषट्कार है, वायु ही आत्मा है और अमावस्या ही स्विष्टकृत् है।[४] यज्ञ की वेदि को शतपथ-ब्राह्मण की दृष्टि में इसलिये वेदि कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ के द्वारा वह विष्णु इस सम्पूर्ण को प्राप्त कर लेता है।[५] यह यज्ञ ही यजमान की आत्मा है।[६]

तैत्तिरीय आरण्यक एक विस्तृत रूपक के द्वारा आत्मसाधना का रूप स्पष्ट करता हुआ कहता है कि यजमान यज्ञ की आत्मा है, श्रद्धा उसकी पत्नी है, शरीर समिध है, उरस् ही वेदि है, लोम ही आसन है, शिखा ही वेद है, हृदय ही यज्ञमण्डप का स्तम्भ है, इच्छाएँ ही घृत हैं, क्रोध ही पशु है, तप ही अग्नि है, दम ही शमयिता है, वाक् ही यज्ञ की दक्षिणा है, प्राण ही होता है, चक्षु ही उद्गाता है, मन ही अध्वर्यु है, श्रोत्र ही ब्रह्मा है, जो धारण किया जाता है, वह दीक्षा है, जो खाया जाता है, वह हवि है, जो पिया जाता है, वह सोमपान है .

---

१ शत०ब्रा०,६.२.१.७. 'आत्मा वै यज्ञः।'

२ मै०सं०,३.६.७. 'अजातो वै पुरुषः, स वै यज्ञेनैव जायते।' जै०उप०,३.३.४.८. 'अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न यजते। स यज्ञेनैव जायते।'

३ गो०ब्रा०,२.५.४. 'पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीय उदरं सदः, अन्तरुक्थानि, बाहू मार्जालीयश्चाग्नीध्रीयश्च या इमा देवतास्तेऽन्तः सदसं धिष्ण्याः, प्रतिष्ठे गार्हपत्यव्रतश्रपणाविति।'

४ तै०आ०,२.१४.१. 'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षं हविस्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावस्या स्विष्टकृत्।'

५ शत०ब्रा०,१.२.५.७. 'तद्यदनेन इमां सर्वां समविन्दत, तस्माद्वेदिर्नाम।'

६ शत०ब्रा०,११.१.८.६. 'एष ह वै यजमानस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति यद्यज्ञः।'

. . . . . .जो मरण है, वह यज्ञान्त स्नान है।[1] इस प्रकार आत्मसाधनारूप यज्ञ का आधार यजमान है और वह श्रद्धारूपापत्नी के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता। साधना का माध्यम शरीर होता है और यज्ञ विना समिधाओं के प्रारम्भ नहीं हो सकता, अत:, इस साधना में शरीर को समिधा बनाना पड़ता है। आत्मसाधना के मार्ग में विशेषरूप से इच्छा और क्रोध दोनों को छोड़ना पड़ता है, अत:, ब्राह्मण का ऋषि इच्छाओं को घृत तथा क्रोध को यज्ञीय पशु बनाकर दोनों को तपरूपी अग्नि में भस्म करने का निर्देश देता है। सम्पूर्ण ब्रह्म को यज्ञमय देखता हुआ वह सम्पूर्ण भक्ष्य पदार्थ को हवि तथा सम्पूर्ण पेय को सोम के रूप में चित्रित करता है। इस आत्म-साधनारूपी यज्ञ की पूर्णता मरण के साथ होती है।

शाङ्खायन-आरण्यक का ऋषि इस आत्मसाधना रूपी यज्ञ का दर्शन कुछ भिन्न प्रकार से करता है। उसके अनुसार यह वैराज दश प्रकार का अग्निहोत्र है। इसका आहवनीय ही प्राण है, गार्हपत्य ही अपान है, अन्वाहार्य ही व्यान है, मन ही अग्नि है, मन्यु ही धूम है, दन्त ही ज्वालायें हैं, श्रद्धा ही अङ्गार हैं, वाक् ही पयस् है, सत्य ही समित् है, प्रजा ही आहुति है, वह आत्मतत्त्व ही रस है।[2] इस प्रकार शरीर में स्थित प्राण, अपान, व्यान आदि वायु के प्रकार ही यज्ञ हैं। मन, मन्यु और श्रद्धा- ये तपरूप अग्नि के विभिन्न रूप हैं। वाक् अर्थात् ज्ञान, सत्य तथा प्रज्ञा- ये उस यज्ञाग्नि के आधार हैं और आत्मा इस यज्ञ का सार है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य साधन आत्मसाधना के लिये अनावश्यक हैं। वस्तुत:, आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को अपने से भिन्न किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। जब मन में उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये सच्ची लगन लग जाये, तभी से उसके अन्दर तपरूप अग्नि का जन्म होता है। मनुष्य के सहज मनोविकार इस अग्नि का हव्य हैं। श्रद्धा, ज्ञान और सत्य- इस यज्ञ के मन्त्र हैं तथा फल आत्मतत्त्व की प्राप्ति है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि यज्ञ की परिणति अध्यात्म मानता है। यदि यज्ञ उस अव्यक्त को व्यक्त करता है, तब उस यज्ञ का पर्यवसान व्यक्त के अव्यक्त होने में है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना अध्यात्म है। अध्यात्म-दर्शन का केन्द्रबिन्दु आत्मतत्त्व है। ब्राह्मण की दृष्टि में यह आत्मतत्त्व एक और

---

१ तै०आ०,१०.६४.१. 'यज्ञस्यात्मा यजमान: श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेद: शिखा हृदयं यूप: काम आज्यं मन्यु: पशुस्तपोऽग्निर्दम: शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा वेत्रमग्नीद् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानम् . . . . . .यन्मरणं तदवभृथ:।'

२ शा०आ०,१०.८. 'तदेतद्वैराजं दशविधमग्निहोत्रं भवति, तस्य प्राण एवाहवनीयोऽपानो गार्हपत्यो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो मनो धूमो मन्युरर्चिर्दन्ता अङ्गाराश्श्रद्धा पयो वाक् समित् सत्यमाहुति: प्रज्ञात्मा स रस:।'

सर्वव्यापक है, अतः, नित्य भी है। अनेकत्व में एकत्व का, वैविध्य में साम्य का, यज्ञ में पुरुष का, व्यक्त में अव्यक्त का तथा सत्ता में सत्य का दर्शन करना ब्राह्मणग्रन्थ की अध्यात्म वर्णनशैली है।

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल-शोध-भारती अंक २००५ (पृ०११-२०)

श्लेषकाव्यपरम्परा

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री

संस्कृतकाव्यानि प्रायशः सालङ्काराणि दृश्यन्ते। महाकविभिः सर्वेऽपि काव्यभेदा अनेकैरलङ्कारैरलंकृताः। उपमारूपकाद्यलङ्कारास्तु बाहुल्येन सर्वत्रैव दृग्गोचराः। केचन कवयस्तु श्लेषालङ्कारप्रयोगमीप्सितं मत्वा तत्रैव स्वशब्दरचनाचातुर्यं प्रकटयाञ्चक्रिरे। यतो हि बुद्धिविस्तारैकवित्तानां संस्कृतकवीनां श्लेषेऽस्त्येव कोऽप्यादरः। बुद्धिमतां प्रियेषु बहुष्वलङ्कारेषु श्लेषालङ्कारोऽन्यतमः। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे श्लेषालङ्कारस्य लक्षणं तु न कृतं परं तत्र गुणक्रमे श्लेषगुणं विवेचयता श्लेषालङ्कारस्य बीजं काव्यशास्त्राचार्याणां बुद्धिभूमावुप्तमेव। भरतमुनिमनुसरता दण्डिना गुणगणनायां त्वयं श्लेषः पठित परं, अर्थालङ्कारविवेचनक्रमे श्लेषस्यार्थलङ्कारत्वमपि स्वीकृतम्। यथा-**श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।**[1]

यद्यपि भामह-वामन-शोभाकरमित्र-रुद्रट-विद्यानाथादिभिः शब्दालङ्कारपरिगणने श्लेषो न स्वीकृतः, परं अर्थालङ्कारेषु श्लेषालङ्कारस्य वर्णनं सोदाहरणं कृतम्। रुद्रट-भोज-मम्मट-हेमचन्द्र-जयदेवादयस्तु यथा शब्दालङ्कारेषु तथैवार्थालङ्कारेषु श्लेषालङ्कारं स्वीकृतवन्तः। शब्दे चार्थे चोभयत्र विद्यमानत्वादस्य श्लेषस्योभयालङ्कारत्वं सिध्यति। महाकविदण्डिनः काव्यादर्शे '**द्विसन्धान**'शब्दो विभाति, अयं द्विसन्धानशब्द एवापरस्मिन् काले शब्दश्लेषालङ्कारतां प्रपेदे। आचार्यरुद्रटः काव्यालङ्कारे शब्दश्लेषमर्थश्लेषं च विस्तृतरूपेण निरूपयामास। यथा-

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाश्लिष्टविविधपदसन्धिः।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः॥[2]
यत्रैकमनेकार्थैः वाक्यरचितं पदैरनेकमेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥[3]

आचार्यमम्मटेन रुद्रटमतानुसारमेव शब्दश्लेषो वर्णितः, यथा-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥[4]

---

१. काव्यादर्श-२.३१.
२. काव्या०४.१.
३. काव्या०१०.१.
४. का०प्र०९.८४.

अर्थाद् . वर्ण-पद-प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-भाषा-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा शब्दश्लेषः। संस्कृतकविभिः स्वकाव्यरचनायां शब्दश्लेष एव बहुधा प्रयासः कृतः। हृदयप्रधानैः कविभिः श्लेषनिर्मितवत्यादरो न प्रदर्शितः परं बुद्धिप्रधानैः कविभिः सर्वं बुद्धिवैभवं श्लेषरचनायामेवैकीकृतम्। श्लेषमाध्यमेनानेकार्थग्रहणप्रवृत्तिर्वेदेष्वपि विलोक्यते यथा '**इन्द्रशत्रुः**' शब्दोऽनेकार्थकः। यथा च-'**चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः**' अस्य मन्त्रस्यानेकार्थाः स्वीक्रियन्ते। वैदिककालादेवारभ्य श्लेषरचनोत्तरोत्तरं वृद्धिं गता। लौकिकसंस्कृतसाहित्ये तु श्लेषेण पूर्णाधिकारः प्राप्तः। यद्यपि बहुसंख्यकेषु काव्येषु श्लेषो द्रष्टुं शक्यते, परं सर्वाणि काव्यानि श्लेषकाव्यान्तर्गतानि न। श्लेषकाव्येषु तान्येव काव्यानि गण्यन्ते येषु श्लेषरचनायामेव कवीनामत्यादरः प्रयत्नश्च विलोक्यते। श्लेषकाव्यरचनायां महाकविः सुबन्धुः कनिष्ठिकामधितिष्ठति। सुबन्धुः स्वयमेवात्मविकत्थने कृतभूरिश्रमो विदग्धजनवेद्यं पद्यं प्रयुङ्क्ते। यथा-

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्॥

गद्यमयेन काव्यबन्धेन निबद्धायां वासवदत्तायां स्वरचनायां महाकविना सुबन्धुना क्वचित् सभङ्गश्लेषः क्वचिद्याभङ्गश्लेषः सुतरां विरचितः। नृपतिं चिन्तामणिं वर्णयन् सरलं सभङ्गश्लेषं प्रकटयति, यथा-'**कृष्ण इव कृतवसुदेव तर्पणः कंसारातिरिव जनितयशोदानन्दसमृद्धिः नृसिंह इव दर्शितहिरण्यकशिपुक्षेत्रदानविस्मयः, जलनिधिरिव वाहिनीशतनायकः समकरप्रचारश्च।**'[१]

सभङ्गश्लेषेण सह प्रयुक्ते परसंख्यालङ्कारे श्लेषावलिः कस्य नास्त्याह्लादकारिणी, यथा-'छलनिग्रहप्रयोगो वादेषु, नास्तिकता चार्वाकेषु, कण्टकयोगो नियोगेषु, परीवादो वीणासु, खलसंयोगः शालिषु, नेत्रोत्पाटनं मुनीनाम्, द्विजराजविरुद्धता पङ्कजानाम्।'

वासवदत्तायाः संस्कृतटीकाकारेण पण्डितशङ्करदेवशास्त्रिणा अनल्पेनायासेन स्वमेधया बहवोऽर्थाः प्रकाशिताः। श्लेषनिरूपणे सुबन्धोर्नाम विदुषां हृदये वसति।

महाकविबाणभट्टविरचिते गद्यकाव्ये श्लेषोल्लासः प्रायशः परिदृश्यते। कादम्बर्यां स्थाने स्थाने श्लेषालङ्कारोऽयं बहुभिरलङ्कारैः सह प्रयुक्तो विभाति। श्लेषालङ्कारस्येदमपरं वैशिष्ट्यं विद्यते यदसौ केनाप्यलङ्कारेण सह प्रयुक्तः सन् कामपि चमत्कारकारिणीं शोभामाधत्ते। नृपतिशूद्रकवर्णने श्लिष्टानि विशेषणानि प्रयुक्तानि सन्ति, यथा-'**कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः**' '**दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृतकरः**'

१. वासवदत्ता पृ०११-१२.

'वैनतेय इव विनतानन्दजननः।' अत्रोपमालङ्कारेण सह सभङ्गश्लेषो विद्यते। कादम्बर्यामेकं पद्यमपि सभङ्गश्लेषस्य शोभामावहति, यथा-

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्तिहृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

बाणभट्टेन कादम्बर्यां विन्ध्याटवीवर्णने, शाल्मलीतरुवर्णने, शबरसेनापतिवर्णने, चाण्डालकन्यावर्णने, जाबाल्याश्रमवर्णने, हारीतवर्णने च प्रायश उपमालङ्कारेण विरोधाभासालङ्कारेण, परिसंख्यालङ्कारेण च सह श्लेषो वृद्धिं नीतः।

महाकविना त्रिविक्रमभट्टेन चम्पूकाव्यपरम्परायां नलचम्पूकाव्यस्य विशिष्टा रचना कृता। यद्यपि नलचम्पूकाव्यं श्लेषकाव्येषु न परिगण्यते। परं त्रिविक्रमभट्टेन स्वग्रन्थे पदे पदे श्लेषस्यैव महिमा प्रकाशिता। अलङ्कारशास्त्रिभिः श्लेषस्य येऽपि भेदाः प्रभेदाश्च समुद्भावितास्ते सर्वे नलचम्पूकाव्ये तत्प्रणेत्रा यथास्थानं व्यवस्थापिताः। त्रिविक्रमभट्टस्य काव्यप्रतिभा-प्रसारः सभङ्गश्लेष-प्रगुम्फने समजायत। यद्यपि प्रथमं तु श्लेषस्य तत्रापि च सभङ्गश्लेषस्य रचनाऽतीव कष्टसाध्या परं श्रीमता त्रिविक्रमभट्टेन महता प्रयासेन साध्यायां तस्यामेव निजाभिलाषः परिवर्धितः। स्वयमेव श्लेषविषये भावसारल्येन स्वमतं प्रकटयति। यथा-

भङ्गश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।
दुगस्तारतुमारब्धा बाहुभ्यामम्भसा पातः॥[1]

यद्यप्यात्मविश्वासं संवर्ध्य नलचम्पूकारेण स्वरचना वृद्धिं नीता तथापि तन्मनसि पाठकानुद्दिश्य कश्चित्संशयलेशोऽपि प्रादुरासीत्। किं सभङ्गश्लेषस्याधिक्येन मम काव्यं सचेतसां हृदि नैरस्यं तु नोत्पादयिष्यति? किं जना मम काव्यपठनात् पराङ्मुखास्तु न भविष्यन्ति, इत्यादयो भावा यस्मिन् पद्ये सम्पद्यन्ते तत्पद्यमिदम्-

[illegible]
नोद्वेगस्तत्र कर्त्तव्यो यस्मान्नैको रसः कवेः॥[2]

त्रिविक्रमभट्टेनातीव सरलतया सभङ्गश्लेषो निबद्धः। सामान्यतः सभङ्गश्लेषोऽतीव कठिनो भवति परं भट्टेनेयं भावना खण्डिता। सभङ्गश्लेषान्वितानि कानिचित् पद्यानि गद्यानि वा यथेप्सितानि समुदाह्रियन्ते। कुकवि-बालकयोः साम्यं सभङ्गश्लेषरचनयेत्थं ब्रूते—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।

१. नलचम्पू १.२२.
२. नलचम्पू १.१६.

सन्त्येके बहुलालापा कवयो बालका इव॥

गद्यभागेऽपि मृगयां वर्णयन् सभङ्गपदश्लेषरचनायां स्वबुद्धिचातुर्यं प्रकटयति भट्टः। यथा-

ततश्च तैः क्रियन्ते विकलभा वनानि कुञ्जाः कुञ्जराश्च। म्रियन्तेऽनेकधारयातिपातिनः खड्गाः खड्गिनश्च॥[1]

त्रिविक्रमभट्टेन मनोहारिणा सभङ्गपदश्लेषरचनया पक्षिगणमुनिगणयोः समता प्रदर्शिता, यथा-

राजन् जलपक्षिणो मुनय इव येऽमीनाहारं वाञ्छन्ति बहुधावनव्यसनिनो विसाधाराः॥[2]

नलचम्पूकाव्ये सभङ्गश्लेषः

त्रिविक्रमभट्टः सभङ्गवचनश्लेषेऽपि परमां प्रौढीमुपेतः। स्वकाव्यस्य द्वितीयोच्छ्वासे राज्ञो भीमस्य वर्णयन् तत् क्रीडावनवृक्षाणां पुरवासिनां च स्वरूपं सभङ्गवचनश्लेषमय्या वाचा प्रोवाच-यथा-'**यस्यावनरतमुत्कृष्टालयः क्रीडावनपादपाः पौरलोकाश्च।**'

नलचम्पूकाव्ये सभङ्गलिङ्गश्लेषः

तृतीयोच्छ्वासे स्वप्नावस्थायां प्रियङ्गुमञ्जर्याश्चन्द्रमण्डलादवतीर्य समीपमागच्छन् दृक्पथमवतीर्णः शिवः कीदृशोऽस्ति। शिवमेव सभङ्गवचनश्लेषेण वर्णयति, यथा-'**सालसदृशं भुजवनं भवानीं च दधानः सर्वदा नववारं त्रिशूलं मन्दाकिनीं च धारयन्।**'

नलचम्पूकाव्ये विभक्तिश्लेषः

नलचम्पूकाव्ये विभक्तिश्लेषोऽपि पाठकानां मनांसि सम्मोहयति। अन्यरचनायां कस्यांचिदेव क्वचिदेवैवंविधः श्लेषः सुधीभिर्विलोक्यते। परं त्रिविक्रमभट्टस्य रचनायां त्वेवंविधाः प्रयोगा बहुत्र दृश्यन्ते। राज्ञो भीमस्य वर्णने विभक्तिश्लेषेऽपि सभङ्गश्लेषतां कविरयं चारुतया निबध्नाति, यथा-'**यस्याश्च सुमधुरया वाचा सदृशी शोभते कण्ठे कुसुममालिका। अलिकालयाऽप्यलकवल्लरीमालया सह विराजते तिलकवल्लरी।**'

चतुर्थोच्छ्वासे दमयन्त्याः पुरस्तात् नलपितुर्वीरसेनस्य श्रेष्ठतां राजहंसः समुचितेन विभक्तिश्लेषेण समुद्गायति। यथा-'**यस्य च बहुशोभयाङ्गप्रभया सह स्फुरत्युदारा मनोवृत्तिः, अखण्डनयाऽऽज्ञया सदृशी राजते राज्यस्थितिः, सज्जया सेनया सह श्लाघनीया कृपाणयष्टिः।**'

एवं प्रकारेण नलचम्पूकाव्ये त्रिविक्रमभट्टेन श्लेषरचनया वैशिष्ट्यमुत्पाद्य संस्कृतजगत्यां महद्यशः समर्जितम्।

१. नलचम्पू पृ०६७.
२. नलचम्पू पृ०१०५.

श्लेषकाव्यपरम्परा

श्रीहर्षविरचिते नैषधीयचरितमहाकाव्ये श्लेषस्य **प्रयोगो नूनमनल्पतामावहति।** सम्प्रति तस्मिन् काव्ये द्वाविंशतितमाः सर्गाः सन्ति। यद्यपि सर्वेषु सर्गेषु क्वचित् क्वचित् तु श्लेषः स्वकान्तिं प्रकाशयत्येव। परं त्रयोदशसर्गे स्वयंवरवर्णने तु श्लेषस्योत्कृष्टतमं रूपं विलोक्यते। '**ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि वीरसेनोः**' अस्मात् श्लोकादारभ्य '**किं ते तथा मतिरमुष्य यथाशयः स्यात्।**' इति पद्यं यावत् सर्वाण्यपि पद्यानि द्व्यर्थकानि सन्ति। प्रथमार्थो यदि देवपक्षे तर्हि द्वितीयार्थो श्लेषप्रभावेण नलपक्षे, प्रथमार्थो यदि नलपक्षे तर्हि द्वितीयार्थो देवपक्षे गृह्यते। परं तत्रैकं पद्यमीदृशं दृक्पथमवतरति यत्र सभङ्गश्लेषमाहात्म्येन एकस्मिन्नेव पदे युगपद् पञ्चार्थाः प्रस्फुरन्ति। यथा-

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलो खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते॥

अस्मिन् पद्ये पञ्चार्थानां दर्शनं पण्डितप्रवरेण नारायणनामधारिणा कृतम्। '**अर्थस्य टीकनं टीकेति**' टीकालक्षणानुसारं नारायणकृतायां नैषधीयप्रकाशाख्यायां टीकायामस्य श्लोकस्य पञ्चार्था निपुणतया विदग्धजनैरभिगम्यते।

अत्र ये पञ्चार्था टीकाकारेण नारायणेन समुद्भावितास्ते संक्षेपरूपेण प्रस्तूयन्ते—

इन्द्रपक्षे—अराणां पर्वतानामजनं पादः क्षेपणं तत्र गतिरूपाय भूतो वज्रस्तेन कृत्वायं नः पुरुषः सामर्थ्यवान् वज्रायुधो देव इन्द्रः पतिर्भतो भर्तृत्वेन किं न निश्चीयते। निश्चितश्चेतत् किं न व्रियत इति वा। अथवा- धराजगत्या भूलोकस्य पतिः पालयिता न किन्तु अर्थात् स्वर्लोकस्य पतिः इन्द्रस्त्वया किमु किमिति न निर्णीयते इन्द्रत्वेन किमिति न निश्चीयते।

वह्निपक्षे—धरतीति धरो वाहनं स चासावजश्च मेषः, धर इव पर्वततुल्यो वा यो मेषस्तेन कृत्वा या गतिः, धरायां भूमौ अजेन कृत्वा या गतिस्तयोपलक्षितः, देवो द्युतिमानमरश्च वह्निः न निश्चीयत इति न।

यमपक्षे—एष धरान् पर्वतान् शृङ्गाभ्यां खुरैर्वा अजति क्षिपति धराजो महिषस्तस्य गत्या तेन वा या गतिस्तयोपलक्षितः धर्मरूपत्वात् पतिः पालयिता देवः क्रीडापरोऽमरश्च यमो न निर्णीयत इति न।

वरुणपक्षे—एष धराजगत्या भूलोकस्य पतिर्न किन्वर्थात् पातालस्य। धरतीति धरो धर्ता जगतः पोषकः स चासावजश्च तस्य धराजस्य श्रीविष्णोर्गतिः प्रथममयनमाधारो जलं तस्य पतिर्न। अपितु तत्पतिर्वरुण एव किमिति न निर्णीयते।

नलपक्षे—एष धराजगत्या भूलोकस्य पतिः स्वामी ना मनुष्यो नलो देवो राजा न अपितु नल एवेति किं न निश्चीयते किं वा नाव्रियते। अपितु निश्चेयो वरणीयश्च। नैषधराज एव गतिर्यस्यास्तया भवत्या मनुष्योऽयं नलो

राजा पतिः किं न निश्चीयते किं वा न व्रियते। एष धरायां भूलोकेऽतिसौन्दर्याजः काम इति बुद्ध्या प्राणेशो मनुष्यो नलो न तु देवः कश्चिदिति किं न निर्णीयते किं वा न व्रियते। निकटस्थानामेषां चतुर्णामाकारधारणात् कृत्रिमं सौन्दर्यं अस्य तु सहजमिति दर्शनमात्रेण तारतम्यं ज्ञात्वा एष नलो निश्चेयो वरणीयश्चेत्यर्थः।

श्लेषकाव्यपरम्परायामेतानि काव्यानि गणनीयानि तु सन्ति संस्कृतसाहित्येतिवृत्तविद्भिस्तु नैषां नामानि श्लेषकाव्यगणनायां पठितानि तत्र तु तान्येव काव्यानि सन्ति येषां प्रणेत्रा काव्यस्याभिधानमेव द्व्यर्थकत्वेनाकारि। यतो हि तत्र कवीनामखिला रचना निश्चप्रचत्वेनार्थद्वयं त्रयं ततोऽधिकं वा प्रकाशयति। अतोऽग्रे तेषामेव काव्यानां परिचये स्वमतिमातनोमि यानि श्लेषकाव्यपरम्परापोषितानि।

श्लेषकाव्यानामधिकं प्रणयनं दशमशताब्द्याः समारभ्य षोडशशताब्दीं यावदथवा एकोनविंशतिशताब्दीं यावदजायत।

श्लेषकाव्ये त्वेकमपि पद्यं बह्वीं प्रतिष्ठां लभते यदि तत्र बहवोऽर्थाः प्रकाशन्ते। प्रसिद्धाचार्यस्य हेमचन्द्रसूरिणः शिष्येण वर्धमानसागरनामधेयेन '**कुमारविहारप्रशस्ति**'नामककाव्यस्यैकस्य पद्यस्य व्याख्या षोडशोत्तरैकशतैरर्थैरकारि। अस्य कालो द्वादशशताब्द्याः काल एव। प्राप्तं पद्यं त्वेवं प्रस्तूयते[१]—

गम्भीरः श्रुतिभिः सदाचरणतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः
सत्कान्तारचितप्रियो बहुगुणो यः साम्यमालम्बते।
श्री-चालुक्य-नरेश्वरेण-विविध-श्री-हेमचन्द्रेण च
श्रीमद्वाग्भटमन्त्रिणा च परिवादिन्या च मन्त्रेण च॥

द्वादशशताब्द्या उत्तरार्धमधिवसता सोमप्रभसूरिणा एकमभूतपूर्वं पद्यं विरच्य तस्यैकशतार्थाः स्वोपज्ञवृत्तौ प्रकाशिताः। पद्यमिदं वर्तते–

कल्याणसारसविता न हरेक्षमोहकान्तारवारणसमानजयाद्यदेव।
धर्मार्थ-कामद-महोदय-वीरधीर-सोमप्रभाव-परमागमसिद्धसूरे॥

अस्य चतुर्विंशत्यर्थास्तु तीर्थंकराश्रिताः शेषाश्च सिद्धसूर्योपाध्याय-मुनि-गौतमाश्रिताः।

धर्मदासगणिविरचितोपदेशमाला नाम्नि पुस्तके '**दोस-समय**' इत्याख्यः शब्दएकपञ्चाशत् पद्यारम्भे विद्यते। अस्मिन् '**दोससमय**' इत्याख्ये शब्दे लावण्यधर्मस्य शिष्य–उदयधर्मगणि एकोत्तरशतार्थान् ददर्श। अस्य

१. अनेकार्थसाहित्यसंग्रह, पृ०६३–६४.

ग्रन्थस्य रचनाकालः सप्तदशशताब्द्याः पूर्वार्ध एव मन्यते।[१] अस्य मूलग्रन्थस्य प्रतिलिपिः बड़ोदरास्थिते कान्तिविजयभण्डारे विद्यते।

एकं पञ्चपद्यात्मकं **'त्रिसन्धानस्तोत्रम्'** कर्णगतमस्ति। अत्र रत्नशेखरसूरि ऋषभ-नेमि-पार्श्वजिन-सम्बद्धांस्त्रीनर्थान् दृष्ट्वा विवेचयामास।

'अष्टलक्ष्मी' इत्याख्ये ग्रन्थस्त्वप्रतिमप्रतिभोद्भूत एव। अत्र **'राजानो ददते सौख्यम्'** इदं वाक्यमस्ति। एतस्मिन् वाक्ये सुन्दरसूरिणा अष्टलक्षार्थाः संनिवेशिताः। अञ्चलगच्छीयमाणिक्यचन्द्रसूरिणा **'राजानो ददते सौख्यम्'** इत्यस्य वाक्यस्य चतुःषष्ठ्यर्थाः कृताः। उक्तार्थसमन्विता प्रतिलिपिरद्यापि नाहटाग्रन्थालये वर्तते।[२] **'काव्यद्वयर्थकरणस्तव'** इत्याख्यं स्तोत्रकाव्यं सप्तपद्यात्मकं विद्यते। अत्र प्रथमेषु षट्सु पद्येषु क्रमशः कुमारसम्भव-मेघदूत-शिशुपालवध-तर्कशास्त्र-सप्तपदार्थी-वृत्तरत्नाकर-ग्रन्थानां मङ्गलश्लोका आभासन्ते। श्रीसमयसुन्दरमणिः समस्तेषु मङ्गलश्लोकेषु पार्श्वनाथस्तुतिपरानेवार्थान् दृष्टवान्। अत्र सर्वेषु पद्येषु निश्चितमेव एकाधिका अर्थाः दृश्यन्ते। पार्श्वस्तव स्तोत्रस्य समुल्लेखोऽपि प्राप्यते।[३] द्विसन्धान-साहित्यपरम्परायामस्यापि नाम ग्राह्यम्।

'विविधार्थमर्मज्ञ'स्तोत्रे सोमतिलकसूरिणा श्लेषमय्या वाचा जिनदेवस्य स्तवनमकारि। अस्मिन् प्रत्येकस्मात् पद्याद् द्वित्रा नापितु चत्वारोऽर्था निःसरन्ति।[४] सोमतिलकसूरिरयं महान् मेधावानासीत्। अनेन विदुषा **'विविधार्थमयविवरणे'** गायत्रीमन्त्रमादाय श्लेषमाध्यमेनार्हत्-प्रजापति-शंकर-पार्वत्यादीनां स्तुत्यात्मकं विवरणं व्यलेखि।

'चतुर्विंशतिसन्धानकाव्यस्य' सन्धानकाव्यकृतिषु नूनमुत्तमं स्थानं वर्तते। चतुर्विंशतिसन्धान-काव्यस्य प्रणेता पं० जगन्नाथ आसीत्। पं० जगन्नाथस्य कालः षोडशशताब्द्याः पूर्वार्ध एव स्वीक्रियते। अमुं ग्रन्थं पं० जगन्नाथो ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ रविवासरे रम्य-वासगृहशोभिते अम्बावतनाम्निनगरे प्रणिनाय प्रणीय च सन्धान-काव्यं जगति यशो लेभे।

श्रीसोमदेवसूरिकृतं **'पञ्चविंशतिसंधानकाव्यमपि'** विद्यते। अस्मिन् ग्रन्थे सोमसूरिणा श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रादारभ्य द्वादशपद्यैर्वीरजिनेन्द्र-स्तवनं कृतम्। अत्र प्रथमपद्यादन्तिमपद्याद्यान्यत्र सर्वत्रैव

१. अनेकार्थरत्नमञ्जूषा-प्रस्तावना, पृ०१०.
२. अनेकार्थ-साहित्य-लेखः।
३. दिगम्बरजैन ग्रन्थकर्ता एवं ग्रन्थकार।
४. जैन अनेकार्थ साहित्यलेख- अग स्त्यचन्द्रनाहटा, जैनसिद्धान्त भास्करभाग-८, किरण १.

पञ्चविंशत्यर्था द्रष्टुं शक्यन्ते। चतुर्विंशत्यर्थास्तु तीर्थंकराश्रिता: सन्ति, पञ्चविंशत्यर्थस्तु गुरुपक्षाश्रित:। अस्मिन् काव्ये वीरजिनेन्द्रस्तवने **'षट्चक्रबन्धस्य' 'अष्टदलकमलबन्धस्य'** च निर्देश: समुपलभ्यते।

संस्कृतभाषायां राजप्रशस्तिपरम्परापि विलोक्यते। अस्यां प्रशस्तिपरम्परायामपि बहूनि ग्रन्थरत्नानि सन्ति। राजप्रशस्तिष्वपि श्लेषालङ्कारस्य बहुलता दृश्यते। धारानरेशभोजराजानुसारं महाकविना दण्डिनापि द्विसन्धानकाव्यस्य प्रणयनं कृतम्। यत्र रामायणमहाभारतयो: कथा युगपदेव श्लिष्टै: पदैर्गुम्फिता। भोजराजस्त्वाह—**'तृतीयस्य यथा- दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धो रामायण-महाभारतार्थमनुबध्नाति।'** इति।

श्लेषकाव्यपरम्पराया: प्रमुखा: कवयस्त्रय एव गण्यन्ते। **'रामचरितम्'** काव्यस्य रचयिता सन्ध्याकरनन्दी द्विसन्धानमहाकाव्यस्य रचयिता जैनकविर्धनञ्जय:, 'राघवपाण्डवीयम्' इत्याख्यस्य महाकाव्यस्य प्रणेता कविराज पण्डितश्च।

श्लेषकाव्यपरम्परायां कविराजपण्डित: स्वात्मानं सुबन्धु-बाणभट्टाभ्यां तुलयन् प्राह—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रय:।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

अस्मिन् पद्ये कविराजपण्डितेन महदात्मविकत्थनं कृतम्। अस्यामात्मश्लाघायामतिशयोक्तिर्न विद्यते। यतो हि यथा सुबन्धोर्वासवदत्तायां बाणभट्टस्य च कादम्बर्यां श्लेषरचना रम्या, सरसा मनोहारिणी च विद्यते तथैव कविराजपण्डितस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** इत्याख्ये महाकाव्ये श्लेष: पदे पदे सुतरां शोभते विदुषां चेतसि च लभते प्रतिष्ठाम्।

राघवपाण्डवीये महाकाव्ये त्रयोदशसर्गा: सन्ति पद्यानि च चतु:षष्ट्युत्तरशतानि। महाकविना कविराज-पण्डितेन सर्वत्र सर्गान्तेऽन्तिमे पद्ये निजाश्रयदातु: कामदेवस्य सादरं नाम गृहीतम्। महाकाव्यमिदं कामदेवाङ्कपदाभिधेयमप्यस्ति। द्विसन्धानशब्दस्तु श्लेषकाव्यरचनापद्धतिं निर्वक्ति। यतो हि तत्र सर्वेषां पद्यानां द्विधा व्याख्या सारल्येन काठिन्येन वा कर्तुं शक्यते। श्लेषालङ्कारस्य परिपालनं यथा कविराजकृते महाकाव्ये दृश्यते तथा नान्येषां कवीनां श्लेषरचनासु। कविराजपण्डितेन रामायणमहाभारतयो: सर्वा: कथा: स्वकाव्ये श्लेषमय्या शब्दरचनया समाख्याता:। अस्मिन् काव्ये तेषामेव छन्दसां प्रयोगो संदृश्यते येषां प्रयोग: श्लेषालङ्काररचनायां कामपि बाधां न जनयति। कविना काव्ये प्रयुक्तानां छन्दसां नामानि प्रस्तूयन्ते—अनुष्टुप्-इन्द्रवज्रा-उपजाति-पृथ्वी-द्रुतविलम्बित-गाथा-विषमपद-पुष्पिताग्रा-प्रमिताक्षरा-प्रहर्षिणी-मालिनी-मन्दाक्रान्ता-मञ्जुभाषिणी-रथोद्धता-रुचिरा-वसन्ततिलका-शालिनी-हरिणी-शिखरिणी—इत्यादीनि छन्दांसि स्वकाव्यशोभाभिवर्धनाय महाकविना प्रयुक्तानि।

श्लेषकाव्यपरम्परा

राघवपाण्डवीयेऽस्मिन् महाकाव्ये कविराजेन येन पद्यद्वयेन पाण्डुदशरथयोर्वर्णनं कृतं तदेव पद्यद्वयं विदुषां तोषाय समुदाह्रियते। यथा-

रत्नावतंस इव भारतमण्डलस्य क्रामन्दिशो दशरथः स्फुटवीरलक्ष्मीः॥
राजा सुमन्त्रविहिताभिरतिर्बभूव पाण्डुर्यशोभिरभिरञ्जित-सर्वलोकः॥ [१]
विचित्रवीर्यस्य दिवंगतस्य पितुः सः राज्यं प्रतिपद्य बाल्ये।
पुरीमयोध्यां धृतराष्ट्रभद्रां सहस्तिशोभां सुखमध्युवास॥ [२]

एकस्मिन्नेव पद्ये महाकविना कविराजेन दशरथमृगयाविहारः पाण्डुमृगयाविहारश्च श्लिष्टैः पदैर्निरूपितः। यथा-

स गाढबुद्धिस्तमसोपकण्ठे विवर्तमानं गतभीरभीकम्।
मत्वा मृगं मार्गणलक्ष्यभूतमनग्रजन्मानमृषिं चकार॥

कविराजे स्वकाव्यस्य प्रथमे सर्गे विलक्षणं पद्यं निर्मितम्, षट्सु पक्षेषु तस्यार्थाः कृताः। पद्यमिदं विद्यते—

विशिष्टगीता धृतवंशदीप्तिः श्रुतिप्रतिष्ठा पुरुषार्थसूतिः।
सन्मार्गविस्तारवती सुजातिर्यं भारतश्रीर्भजतेऽभिरामा॥ [३]

एकादशशताब्द्या उत्तरार्धे सन्ध्याकरनन्दी **'रामचरितमहाकाव्यम्'** रचयामास। श्लेषपरम्पराया इदमपि काव्यमुत्कृष्टम्। अत्र सर्वेषु पद्येषु द्वावर्थौ भासेते। प्रथमार्थः- रामपक्षे द्वितीयार्थश्च रामपालपक्षे। पालवंशीयो राजारामपालः पूर्ववङ्गे राजपदमलञ्चकार तदाश्रयमवाप्यैव सन्ध्याकरनन्दी महाकविर्बभूव। **'रामचरित'**महाकाव्ये पञ्चदशसर्गाः सन्ति श्लोकाश्च पञ्चशताधिकाः।

महाकवेर्धनञ्जयस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** महाकाव्यमतीव प्राचीनमस्ति। दिगम्बरजैनसम्प्रदायस्य प्रचारको महाकविर्धनञ्जयो द्वादशशताब्द्याः पूर्वार्धे स्वग्रन्थं जग्रन्थ। महाकाव्यस्य सर्गान्ते धनञ्जयस्य नाम पठ्यते। धनञ्जयरचितस्य **'राघवपाण्डवीयम्'** महाकाव्यस्य अपरं नाम **'द्विसन्धान'**महाकाव्यमपि श्रूयते। अत्राष्टादशसर्गाः सन्ति।

एकादशशताब्द्यां धारानरेशभोजराजस्य शासनकाले द्रोणाचार्यस्य शिष्यः सुराचार्यः **'नेमिनाथचरितम्'** महाकाव्यं प्रणिनाय। अस्मिन् काव्ये ऋषभदेवस्य नेमिजैनसाधूनां च कथायुगपद् प्रसरति।

१. १.४९.
२. १.५१.
३. १.३१.

द्वादशशताब्द्याः पूर्वार्धे चालुक्यनरेशस्य सोमदेवस्य राजकविर्विद्यामाधवः **'पार्वतीरुक्मणीयम्'** महाकाव्यं रचयामास। कविरयं नीलालये वसति स्म। गुणवत्या समीपे नीलालयोऽस्ति। **'पार्वतीरुक्मणीये'** महाकाव्ये नवसर्गाः सन्ति। अत्र पार्वतीपरमेश्वरयोः रुक्मणीकृष्णयोश्च प्रणयकथा कथ्यते। काव्यमिदं विलोमकाव्यमपि कथ्यते।

श्रीमता विद्वद्धौरेयेण पुष्पदन्तेन श्रीमद्भागवतपुराणनिहितमेकस्य पद्यस्य स्वटीकायां एकोत्तरशतसंख्याका अर्थाः कृताः।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेन ब्रह्म हृदाय आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

श्लेषकाव्यचातुरीमञ्चता नैषधमहाकाव्यनिर्मात्रा श्रीमता हर्षकविना वचनश्लेषविषये स्वप्रातिभमप्रतिमतयोन्मेषितम्। एकस्मिन्नेव वचने त्रीणि वचनानि विराजन्ते। यथा—

अपिलोकयुगं दृशावपि श्रुतिदृष्टारमणी गुणेष्वपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते नितरां धरापते:॥

लोकयुगं मातृकुलं पितृकुलं 'व्यतिभाते' विनिमयं कुरुते, नेत्रे उभेऽपिऽन्योन्यं विनिमयकरणपरे, गुणा अपि अनाकर्णिता दृष्टाश्च अन्योन्यं व्यतिरेकं विनिमयं कुरुते। श्रुतिगामितया अन्योन्यं व्यतिपूर्वस्य **'भा'** धातोः **'कर्तरिकर्मव्यतिहारे'** अनेनात्मनेपदं 'व्यतिभाते'। इदमेव रूपं द्विवचने स वर्णे दीर्घे कृते 'व्यतिभाते' बहुवचने च **'आत्मनेपदेष्वनतः'** इति झस्यादादेशश्च, अतो बहुवचनेऽपि 'व्यतिभाते' पदं भवति एवं प्रकारेण त्रिष्वपि वचनेषु 'व्यतिभाते' पदं वचनश्लेषचातुरी समातनोति नितराम्।

सप्तदशशताब्द्या पूर्वार्धे वेङ्कटवर्धनमहोदयो **'यादवराघवीयम्'** महाकाव्यं प्रणीतवानिति कथ्यते काव्यमिदं विलोमकाव्यरचनासु पदं निदधाति। एवं श्लेषकाव्यपरम्परा पुरातनी। श्लेषकाव्यानि बहूनि सन्ति। श्लेषरचनायां जैनकवीनां महद्यशः। यद्यपि श्लेषकाव्यानि चित्रकाव्यान्तर्गतानि सन्ति तथापि बुद्धिवैभवं कृतभूरिश्रमाणां तपस्विनां काव्यपुरुषाणां महाकवीनां चरणयोर्नतिं वितनोमि।

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0 1-21-26)

वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा

प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय

एन 1/30, ए-9, नगवा, वाराणसी-221005

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त 108 सरमापणिविषयक है। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है कि इन्द्र ने पुरोहित बृहस्पति की गायों को पणियों ने चुरा लिया था। बृहस्पति ने इन्द्र को प्रेरित किया। इन्द्र ने गायों को खोजने के लिए सरमा नामक देवशुनी (देवताओं की कुतिया) को भेजा। वह नदी पारकर वल के पुर में पहुँची और उसने गुप्त स्थान में छिपायी गयी गायों को देखा-**ऐन्द्रपुरोहितस्य बृहस्पतेर्गोषु वलनाम्नोऽसुरस्य भटैः पणिनामकैरसुरैरपहृत्य गुहायां निहितासु सतीषु बृहस्पतिप्रेरितेनेन्द्रेण गवामन्वेषणाय सरमा नाम देवशुनी प्रेषिता। सा च महतीं नदीमुत्तीर्य बलपुरं प्राप्य गुप्तस्थाने नीतास्ता गा ददर्श।''** पणियों ने सरमा से पूछा-क्या इच्छा करती हुई इस स्थान पर पहुँची हो? मार्ग बहुत दूर, उभड़ा हुआ तथा गमनागमन से रहित था। हम लोगों में तुम्हारा क्या अभिप्राय है? तुम्हारी यात्रा कैसी थी? तुमने रसा के जल को किस प्रकार पार किया-

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि॥[1]

सरमा ने कहा- मैं इन्द्र की दूती हूँ। इन्द्र के द्वारा भेजी गयी मैं तुम लोगों की बड़ी निधि की इन्छा करती हुई घूम रही हूँ। मेरे कूदने के भय से रसा के जल ने मेरी सहायता की। उस प्रकार रसा के जल को मैंने पार किया-

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इन्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि॥[2]

फिर पणि कहते हैं-इन्द्र कैसा है? उसकी दृष्टि कैसी है, जिसकी दूती तुम दूर से यहाँ आयी हो ? यदि वह आये, तो हम उसे मित्र बनायेंगे; तब वह हमारी गायों का स्वामी होगा। अब सरमा उत्तर देती है- मैं नहीं, समझती कि उसको कोई कष्ट पहुँचा सकता है। वह शत्रुओं को कष्ट देता है, जिसकी दूती मैं दूर से आयी हूँ। बहती हुई गहरी नदियाँ उसे छिपा नहीं सकतीं। इन्द्र द्वारा मारे जाकर तुम लोग पृथ्वी पर पड़ जाओगे। पणि सरमा से कहते हैं- बिना युद्ध किये इन गायों को कौन मुक्त करा सकता है? हमारे शस्त्र तीक्ष्ण हैं। इस पर सरमा कहती है- हे पणियो! तुम्हारे वचन शस्त्र के आघात से सुरक्षित हो सकते हैं, शरीर बाणों के लक्ष्य से

1 ऋग्वेद 10.108.1

2 ऋ0 10.108.2

बच सकते हैं, तुम्हारे पास पहुँचने का मार्ग भी अगम्य हो सकता है, किन्तु बृहस्पति किसी भी प्रकार दया नहीं करेंगे-

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥[3]

जर्मनी के विद्वान् Hanns-Peter Schmiat का कथन है कि प्रारम्भ में बृहस्पति इन्द्र का विशेषण था। इन्द्र राजा भी था और पुरोहित भी था। इन्द्र में ही पुरोहित तथा राजा के कार्य संनिविष्ट थे। विकास के क्रम में बृहस्पति का कार्य अर्थात् पुरोहित का कार्य पृथक् हो गया। यह तब हुआ होगा, जब इन्द्र ने पुरोहित के कार्य के लिए एक विशेषज्ञ को नियुक्त किया होगा, जो इस कार्य में निपुण रहा होगा। इस प्रकार राजा से पौरोहित्य पृथक् हुआ होगा। यह तब हुआ होगा, जब राजा के लिए सम्भव नहीं रहा होगा कि वह शासन भी करे और पुरोहित के जटिल कार्य का सम्पादन भी करे। यह स्थिति ऋग्वेद-काल के अन्त में हुई होगी-

"Indra himself acts as a priest and bears himself the epithet brhaspati, It is hardly Conceivable that he should have borrowed the functions and the name of the god Brhaspati, on the Contrary, the emergence of the god Brhespati can only be explained if we assume that the divine king Indra in whom the priestly function was combined with the royal function was in the course of development divisted of his priestly function. This meant divisted of his priestly function. This development will have taken place when the Vedic king relinquished his priestly prerogatives and transferred them to a professional priest. The reason for the king's withdrawal from his priestly duties was, at least partly, the specialization and growing complication of the ritual technique, which made it unfeasible to continue any longer the Combination of priestly and royal power in one hand. This event was presumably simultaneous with the consolidation of the class or class system which was gradually emerging in the time of the Rig-Veda and was probably finally established by the end of the Geodic period."[4]

बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्' में बृहस्पति इन्द्र के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है।

फिर पणि कहते हैं- गायों, अश्वों तथा सम्पत्तियों से भरा हुआ यह खजाना पर्वतों से ढका हुआ है। पणि उसकी रक्षा करते हैं। तुम व्यर्थ में खाली स्थान पर यहाँ आयी हो। अब सरमा कहती है-सोमपान से उत्तेजित अयास्य, अङ्गिरस्, नवग्वा आदि ऋषि यहाँ आयेंगे। वे गायों के विशाल समूह को बाँट लेंगे। पणि सरमा को अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं, किन्तु वह दृढ़ रहती है। वह कहती है-हे पणियो! तुम लोग अन्यत्र चले जाओ। बृहस्पति, सोम, पत्थरों

3 ऋ0 10..108.6
4 German Scholars on India, Vol. II (Nachiketa Publication Limited, Bombay, 1976), P.229.

तथा बुद्धिमान् ऋषियों ने जिनका पता लगा लिया है, वे गायें चट्टानों का आवरण तोड़ती हुई सत्य के नियम के अनुसार बाहर निकल आयेंगी–

दूरमित पणयो वरीय उद् गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥[5]

वाल्मीकीय रामायण में भी सरमा नामक राक्षसी का वृत्तान्त मिलता है। सीता ने उसे अपनी सखी बना लिया था। वह सीता की रक्षा में नियुक्त थी। वह दृढ़व्रत तथा दयालु थी। रावण ने राम का मायामय छिन्न मस्तक सीता को दिखा दिया। उसने सीता से कहा कि सोये हुए राम के शिर को प्रहस्त ने काट डाला है–

अथ सुप्तस्य रामस्य प्रहस्तेन प्रमाथिना॥''
असक्तं कृतहस्तेन शिरश्छिन्नं महासिना॥[6]

रावण के इस प्रकार कहने पर सीता विलाप करने लगी। राम के अभिज्ञानों को देखकर सीता अत्यन्त दुःखित हुईं और कैकेयी की निन्दा करने लगी। उन्होंने कहा–हे कैकेयि, अब तुम्हारी इच्छा पूर्ण हुई। तुमने कुल को नष्ट कर दिया। सीता को अत्यन्त मोहित देखकर सरमा वहाँ पहुँच गयी। उसने सीता को आश्वस्त किया– हे वैदेहि, व्यथित मत होओ। रावण ने तुमसे जो कुछ कहा है, उसे मैने सुन लिया है। यहाँ से निकलकर वह जिस कार्य के लिए गया है, उसे मै जानती हूँ। राम का रात्रि में वध सम्भव नहीं है।[7] सरमा ने कहा कि वानरों का भी वध नहीं हुआ है। वे भी राम के द्वारा सुरक्षित है। राम पराक्रमी हैं। वे अपनी भी रक्षा करने में समर्थ है और दूसरों की भी रक्षा करने में–**विक्रान्तो रक्षिता नित्यमात्मनश्च परस्य च।**[8]

मायावी रावण ने माया के द्वारा राम का शिर दिखाया है। राम वानरसेना के साथ समुद्र को पारकर उसके दक्षिणी तट पर विराजमान हैं। राम का कार्य सिद्ध होगा। राक्षस घबड़ाए हुए हैं। उनका कोलाहल हो रहा है। लक्ष्मी तुम्हारा वरण करेंगी। अब राक्षसों का भय उपस्थित हो गया है। जितक्रोध तथा अचिन्त्यपराक्रम राम युद्ध में रावण को मारकर तुम्हारे पास आयेंगे और मैं देखूँगी कि तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो गया है। मै राम के पास जाकर तुम्हारा कुशल बताकर लौट आऊँगी। निरालम्ब आकाश में चलते हुए मेरी गति का अनुगमन कोई नहीं कर सकता, चाहे वह वायु हो या गरुड़ –

5 ऋ0 10.108.11

6 युद्ध 31/24

7 युद्ध0 33/58 समाश्वसिहि वैदेहि मा भूत् ते मनसो व्यथा। उक्ता यद् रावणेन त्वं प्रत्युक्तश्च स्वयं त्वया॥ सखीस्नेहेन तद् भीरु मया सर्वं प्रतिश्रुतम्। लीनया गहने शून्ये भयमुत्सृज्य रावणात्॥ तव हेतोर्विशालाक्षि नहि मे रावणाद् भयम्॥ स सम्भ्रान्तश्च निष्क्रान्तो यत्कृते राक्षसेश्वरः। तत्र मे विदितं सर्वंमभिनिष्क्रम्य मैथिलि॥ न शक्यं सौप्तिकं कर्तुं रामस्य विदितात्मनः। वधश्च पुरुषव्याघ्रे तस्मिन् तस्मिन् नैवोपपद्यते॥

8 युद्ध0 33/11

श्रीस्त्वां भजति शोकघ्नी रक्षसां भयमागतम्।[9]
अवजित्य जितक्रोधस्तमचिन्त्यपराक्रमः।
रावणं समरे हत्वा भर्ता त्वाधिगमिष्यति॥[10]
आगतस्य हि रामस्य क्षिप्रमङ्कागतां सतीम्।
अहं द्रक्ष्यामि सिद्धार्थां त्वां शत्रौ विनिपातिते॥[11]
उत्सहेयमहं गत्वा त्वद्वाक्यमसितेक्षणे।
निवेद्य कुशलं रामे प्रतिच्छन्ना निवर्तितुम्॥
नहि मे क्रममाणाया निरालम्बे विहायसि।
समर्थो गतिमन्वेतुं पवनो गरुडोऽपि वा॥"[12]

सीता ने कहा- तुम आकाश में भी जाने में समर्थ हो और पाताल में भी। यदि मेरा प्रिय करना चाहती हो, तो जाकर पता लगाओ कि रावण क्या कर रहा है। इस पर सरमा ने जानकी से कहा कि यदि तुम्हारा इस प्रकार का अभिप्राय है, तो मैं जाकर शत्रु के अभिप्राय को जानकर आती हूँ। इसके बाद वह रावण के पास गयी और रावण के निश्चय को जानकर शीघ्र ही अशोकवनिका में आ गयी। उसने सीता से कहा कि अतिवृद्ध मन्त्री ने रावण से कहा कि सीता का सत्कार करके उन्हें राम को दे दीजिए। जनस्थान में जो घटित हुआ है, वह पर्याप्त निदर्शन है। समुद्र का लङ्घन, राक्षसों का वध–क्या युद्ध में कोई मनुष्य ऐसा कर सका है? वृद्ध मन्त्रियों से प्रबोधित होने पर भी रावण तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता है। मृत्यु के वश में होने के कारण उसकी बुद्धि इस प्रकार हो गयी है। मैं बताती हूँ कि सभी राक्षसों तथा रावण का वध करके राम तुम्हें अयोध्या ले जायेंगे-

अतिस्निग्धेन वैदेहि मन्त्रिवृद्धेन चोदितः॥
दीयतामभिसत्कृत्य मनुजेन्द्राय मैथिली।
निदर्शनं ते पर्याप्तं जनस्थाने यदद्भुतम्॥
लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः।
वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो युधि॥
एवं स मन्त्रिवृद्धैश्च मात्रा च बहुबोधितः।
न त्वामुत्सहते मोक्तुमर्थमर्थपरो यथा॥[13]

9 युद्ध0 33/29
10 वही 33/30
11 वही 33/32
12 वही 34/34
13 युद्ध0 34/2023

तदेषा सुस्थिरा बुद्धिर्मृत्युलोभादुपस्थिता।[१४]
निहत्य रावणं संख्ये सर्वथा निशितैः शरैः।
प्रतिनेष्यति रामस्त्वामयोध्यामसितेक्षणे।।[१५]

अब विचार करेंगे कि वेद की सरमा तथा रामायण की सरमा का क्या सम्बन्ध है। कहा गया है कि इतिहास तथा पुराण से वेद का समुपबृंहण करना चाहिए-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।''

इतिहास तथा पुराण वेद के तात्पर्य को प्रकाशित करते हैं। रामायण, महाभारत आदि में वेद का तात्पर्य निगूढ़ है। अनुत्तम रामायण काव्य गायत्री का स्वरूप है। रामायण के चौबीस हजार श्लोक चौबीस अक्षरों वाली गायत्री के स्वरूप का उन्मीलन करते हैं।[16]

वेद में प्रकाशित तत्त्वों के आलोक में देखने से इतिहास तथा पुराण में निबद्ध कथानकों का रहस्य भी प्रकाशित होता है। प्रतीक के रूप में ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं, जिनको वेद के ही आलोक में समझा जा सकता है। उस दृष्टि से समीक्षा करने पर सरमा के प्रसङ्ग का प्रकटन हो जाता है। वेद की सरमा देवताओं की शुनी है। वह इन्द्र के आदेश से पणियों के पास जाती है। और कहती है कि चुरायी हुई गायों को लौटा दो। यदि तुम लोग नहीं लौटाते हो, तो भी बृहस्पति क्षमा नहीं करेंगे। बृहस्पति ऋत के देवता हैं। ऋत अपना कार्य करता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। ऋत के नियम से ही यह सृष्टि चल रही है। शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल ऋत के अनुसार मिल रहा है। ऋत अप्रतिहत तत्त्व है, जो सारी व्यवस्था प्रदान कर रहा है। पणियों ने अच्छा कार्य नहीं किया है, अतः ऋत इन्हें दण्ड देगा और गायें बृहस्पति के आदेश से बाहर आ जायेंगी। इन्द्र का यह कार्य गायों को मुक्त कराना है। इन्द्र में ऐश्वर्य का तत्त्व है और ज्ञान का भी तत्त्व है। उसके स्वरूप में बृहस्पति भी विद्यमान हैं। सरमा की गति अप्रतिहत है, इसलिए वह रसा को पारकर पणियों के पास पहुँच जाती है, वह ऋत का सन्देश पहुँचाने में समर्थ है। वह ऋत का अनुगमन करती है और प्रलोभन से आकृष्ट नहीं होती। एक निश्चल नियम चल रहा है, उसको रोकने वाला, उसको विचलित करने वाला कोई नहीं है। यही स्थिति सरमा के सम्बन्ध में भी है। पणि उसको अपनी बहिन बनाना चाहते हैं, किन्तु वह उनकी बात नहीं मानती। सत्य के मार्ग पर चलने वाली सरमा भला असत्य का समर्थन कैसे कर सकती है?

रामायण की सरमा वेद की सरमा है। वह कालज्ञा है, मृदुभाषिणी है। कहा गया है कि वह राक्षसी है। वस्तुतः वह ऋत की देवी है और छिपकर राक्षसी के रूप में विद्यमान है। वह कहीं भी जा सकती है। उसे कोई देख नहीं सकता। रावण भी उसका अहित नहीं कर सकता।

14 वही 34/25
15 वही 34/26
16 उत्तर0111/18 गायत्र्याश्च स्वरूपं तद्रामायणमनुत्तमम्।

वह रावण से भी नहीं डरती। वह रावण के निश्चय को जानती है। वेद की सरमा ही राक्षसी के रूप में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए रामायण में प्रतिष्ठित है। तात्त्विक रूप से वह राक्षसी नहीं है। वह सत्य का अनुगमन करती है, इसीलिए सीता की सखी है। वेद में इन्द्र की दूती सरमा नदी पारकर पणियों के पास जाती है। रामायण में भी दूतकार्य का विधान किया गया है। राम इन्द्र का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। पणियों के प्रतिनिधि के रूप में रावण विद्यमान हैं। रावण ने सीता का अपहरण किया है, सीता को पीड़ित किया है। पणियों ने गायों को चुरा रखा है। सीता गो का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। जिस प्रकार चोर की भाँति पणियों ने गायों का अपहरण किया है, उसी प्रकार रावण ने सीता का अपहरण किया है। जिस प्रकार ऋत के प्रभाव से गायें मुक्त होती है। उसी प्रकार ऋत के स्वरूप राम के प्रभाव से सीता मुक्त होती है। वाल्मीकि ने वेद की सरमा को छिपाकर रखा है। उसके चरित्र की मीमांसा करने पर आवरण हट जाता है। रामायण में राम, सीता तथा रावण का त्रिक है और वेद में इन्द्र, गो तथा पणियों का त्रिक है। दोनों में सरमा की सन्निधि है, जो अभीष्ट करने में लगी है। वेद की सरमा गायों के अनुसन्धान में तत्पर है और रामायण की सरमा सीता की रक्षा करने में। जो गो की पवित्रता है, वह सीता की भी है।

रामायण की सरमा के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि सीता की वह विश्वास-पात्र है। सीता के सामने उसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित है। राक्षस उसके वास्तविक रूप को जानने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे असत्य के मार्ग पर चल रहे हैं। कवि वाल्मीकि की कुशलता है कि वे लङ्का में सरमा-जैसे पात्र की योजना करते हैं और सीता को परम अवलम्बन प्रदान करते हैं। यह रहस्य तब तक प्रकाशित नहीं हो सकता, जब तक वेद की सरमा का स्वरूप नहीं समझ लिया जाता।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ027-34)

ऋग्वेद में उपसर्ग

डॉ0 महावीर अग्रवाल डी. लिट्.
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
गु0कां0वि0वि0, हरिद्वार

भर्तृहरि ने पद विभाग के लिए प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ विद्वान् पदों के दो भेद, कुछ चार और कुछ पाँच भेद मानते हैं।[1] आचार्य पाणिनि यद्यपि सत्ता तो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की मानते हैं, तथापि उन्होंने उपसर्ग एवं निपात की अव्ययसंज्ञा[2] मानकर उनसे आनेवाली विभक्तियों का प्रत्ययलक्षण द्वारा लोप करके[3] सभी पदों को सुबन्त तथा तिङन्त इन दो भेदों में ही समाविष्ट कर लिया है। ऋग्वेद में दो ऐसी ऋचाएँ है,[4] जिनसे चतुर्विध पदों की पुष्टि होती है। यद्यपि वहाँ चारों पदों का नामत: उल्लेख नहीं है, फिर भी यास्क पदों के चार भेद मानते हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। प्रातिशाख्य ग्रन्थ[5], बृहद्देवता[6] तथा कौटिल्य-अर्थशास्त्र[7] में में भी ये ही चार भेद स्वीकार किये गए हैं।

उक्त चार पदों के अतिरिक्त कुछ विद्वान् कर्मप्रवचनीय को भी पाँचवाँ भेद मानते हैं। आचार्य रुद्रट का कथन है कि कर्मप्रवचनीय का उपसर्गों में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों में प्रयोजन तथा व्यापार भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। अस्तु किसी ने भी उपसर्गो की पृथक् पदत्व की अवहेलना नहीं की है।

विभिन्न आचार्यों का उपसर्ग-विचार

संहिताओं में उपसर्ग शब्द का स्पष्टत: उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ऋग्वेद में **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**- कहकर पदों के चार भेद तो माने हैं, किन्तु इन चारों भेदों का नामत: पृथक्-पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह शब्द उपलब्ध तो है, परन्तु वहाँ भी प्र, परा आदि पारिभाषिक शब्द न होकर सामान्य संयोजन अर्थ में हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में[8]

1 द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
2 स्वरादिनिपातमव्ययम् पा0 1.1.37
3 अव्ययादाप्सुप:। पा0 2.4.82
4 ऋ0. 1.164.65 तथा 4.58.3
5 ऋक् प्रा0 12.25 शुक्ल यजु0 प्रा0 8.46 तथा अथर्व प्रा0 1.1
6 बृहद्देवता 139
7 कौ0 अर्थ0 2.10
8 ऐत0 ब्रा0 4.4 पर सायणभाष्य।

महानाम्नी नामक अतिच्छन्दस् ऋचाओं में जोड़कर बोले जाने वाले कुछ पदों या पदसमूहों का उपसर्ग शब्द से अभिधान मिलता है। ताण्ड्य-ब्राह्मण[9] में मतित्र, स्वित् प्रवह तथा हरिह आदि अन्य शब्दों को भी उपसर्ग कहा है। परन्तु योगसूत्र[10] में विघ्न अर्थ में, द्राह्यायण गृह्यसूत्र[11] में चन्द्र-सूर्यग्रहण के लिए, तथा विष्णु धर्मसूत्र में[12] अनिष्ट या उत्पात आदि अर्थों में उपसर्ग शब्द पाया जाता है। आयुर्वेद में रोग[13] और मार्कण्डेय पुराण में विप्लव[14] अर्थ में यह उपलब्ध होता है।

यास्क से पूर्व प्र, पशरा आदि उपसर्ग पारिभाषिक अर्थ में रूढ़ हो चुके थे। यास्कीय निरुक्त में उपसर्गों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उसमें शाकटायन तथा गार्ग्य दो प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख है, जिन्होंने उपसर्गों पर कुछ सिद्धान्त स्थित किये थे।[15] यास्क के अनन्तर पाणिनि का युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। पाणिनि के आधार पर कुछ प्रातिशाख्यों, भाष्यों और वृत्तिग्रन्थों में आकर उपसर्ग और प्रतिष्ठित, परिवर्धित तथा सुदृढ़ रूप को प्राप्त हुआ। महाभाष्य के पश्चात् भर्तृहरि के वाक्यपदीय[16] में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्यों में भोजदेव, हेमचन्द्र तथा अनुभूति स्वरूप आदि हुए हैं, जिन्होंने यथामति उपसर्गों पर प्रकाश डाला है। प्रादियों की मुग्धबोध व्याकरण में[17] गि' तथा जैनेन्द्र व्याकरण में[18] गि' और ति' दोनों संज्ञाएँ मानी गई हैं। सारस्वत प्रक्रिया में[19] उपसर्गों के सोदाहरण विभिन्न अर्थ तथा लक्षण, आशुबोध व्याकरण में[20] प्रादियों से वृद्ध्यादि विचार, गणरत्नमहोदधि में[21] उपसर्गों के अनेकार्थक होने का समर्थन, ऋक्तन्त्र में[22] उपसर्गों से द्वित्व तथा दीर्घादि पर किंचित् विवेचन उपलब्ध है।

9 ता0 ब्रा0 12,13,22 पर सायणभाष्य
10 योग सू0 337
11 द्रा0 गृ0 सू0 512
12 विष्णुधर्मसूत्र 6771
13 सुश्रुत 4020
14 मार्कण्डेयपुराण 92.7
15 निरुक्त 113
16 वाक्यपदीय 2, 180, 187, 192
17 मुग्धबोधसूत्र 10.1
18 जै0 व्या0 1.2, 129130
19 सार0 अव्ययभाग सूत्र 89
20 संज्ञाप्रकरण सूत्र 31, अच् सन्धि 14,15,16
21 निपात निर्णय 46
22 ऋक्तन्त्र 3, 4, 7 तथा 3,5,5

इसके बाद व्याकरण शास्त्र में एक ऐसा युग है, जो नव्य मत के नाम से जाना जाता है। इसके प्रवर्तक आचार्य नागेश भट्ट माने जाते हैं। इस काल में उपसर्गों पर अनेक सैद्धान्तिक निर्णय किये गए हैं। परमलघुमंजूषा, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, वैयाकरणभूषणसार, व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि, व्याकरण-सिद्धान्त-कारिका, वृत्तिदीपिका तथा शब्दकौस्तुभ में उपसर्गों के वाचकत्व तथा द्योतकत्व पर विचार किया गया है। इसी प्रकार वेदाङ्गप्रकाश में प्रस्तुत स्वामी दयानन्द के विचार भी उपसर्ग विषयक सिद्धान्त-निर्धारण में सहायक सिद्ध हुए हैं।

उपसर्ग लक्षण

उपसर्ग शब्द लोक में यद्यपि विपत्ति, भौतिक-दैविक उपद्रव,, प्रेतबाधा, चन्द्र-सूर्य ग्रहण आदि के लिए प्रयुक्त होता है, तथापि व्याकरण का उपसर्ग प्र, परा आदि के लिए रूढ़ है। शाकटायन के मतानुसार उपसर्ग वे कहलते हैं जो नाम तथा आख्यात से सम्बद्ध होकर उनके विशिष्ट अर्थों को द्योतित करते हैं। ये नामाख्यात से अतिरिक्त प्रयोग में नहीं आते तथा स्वतन्त्ररूप से अर्थाभिव्यक्ति करने में भी असमर्थ हैं। आचार्य गार्ग्य उपसर्गों को सार्थक तथा नामाख्यातों के अर्थों में विकार लाने वाला मानते हैं।[23]

पाणिनि ने अद्रव्य वाचक प्र, परा आदि को क्रिया के योग में उपसर्ग कहा है[24] तथा वे निपात, उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय इस प्रकार चार विभाग करते हैं। सत्त्व के योग में अद्रव्यार्थक प्रादियों की निपात संज्ञा होती है।[25] उपसर्गसंज्ञक प्रादियों की क्रिया के साथ सन्निधि आवश्यक है, तदभाव में उक्त संज्ञा नहीं होती। यथा-प्रणमन्ति- इस उदाहरण में णत्व का निमित्तक उपसर्ग संज्ञक 'प्र' है। नम् धातु से संयुक्त होने पर 'प्र' की **'उपसर्गाः क्रियायोगे'** सूत्र द्वारा उपसर्ग संज्ञा होती है। तत्पश्चात् **'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य'** यह सूत्र न को ण कर देता है। **'प्रगतो नायकोऽस्मात् स प्रनायको ग्रामः'** यहाँ प्र शब्द का अन्वय **'नी'** धातु से न होकर ग्राम शब्द से होता है। अतः क्रिया से अनन्वित होने के कारण यहाँ प्र की उपसर्ग संज्ञा नहीं होती। उपसर्गत्व के अभाव में उपसर्ग संज्ञा का कार्य णत्व भी नहीं होता।

वार्तिककार कात्यायन[26] के अनुसार प्रादि जिस क्रिया से संयुक्त होते हैं, उस क्रिया के प्रति वे उपसर्ग कहलाते हैं। भाष्यकार पतंजलि[27] ने भी उपसर्गत्व के लिए प्रादियों का क्रियायोगित्व स्वीकार किया है।

आचार्य शौनक का उपसर्ग लक्षण संदिग्ध है।[28] एक ओर तो वे केवल क्रिया के योग में ही प्रादियों को उपसर्ग कहते हैं, दूसरी ओर उपसर्गों को नाम तथा आख्यात दोनों में विशेषता

23 निरुक्त 113

24 उपसर्गाः क्रियायोगे पा0 1.4.60

25 प्रादयः, पा0 1.4.58

26 पा0 1.4.60 पर वा0 3, 4

27 व्याकरण महाभाष्य 2,1,1

उत्पन्न करने वाला मानते हैं। ऋक् भाष्यकार आचार्य सायण ने क्रियाओं के पूर्व संयुक्त होने पर प्रादियों को उपसर्ग कहा है।[29] दुर्गाचार्य भी उपर्युक्त मतों के पोषक हैं।[30] स्कन्दस्वामी के मत में नाम या आख्यात से सम्बद्ध होकर उनके अर्थ विशेष का सृजन करने वाले प्रादि उपसर्ग कहे जाते हैं।[31] नाट्यशास्त्र में प्रातिपदिकार्थयुक्त धात्वर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने वाले प्र आदि उपसर्ग माने गये हैं।[32]

उपसर्गों की द्योतकता या वाचकता

उपसर्ग नामपदों या आख्यातपदों से सम्बद्ध होकर उनकी अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं या उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ भी होता है, इस विषय में संस्कृत वैयाकरणों में दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं।

द्योतकतावादी संप्रदाय-इस सम्प्रदाय के अनुसार नाम और आख्यात की भांति उपसर्गो का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। उपसर्ग नामाख्यातों से सम्बद्ध होकर उनके अर्थो में वैशिष्ट्योत्पादन करते हैं। इस मत के उद्भावक आचार्य शाकटायन माने जाते हैं।[33] जैसे दीपक के प्रकाश से पूर्व विद्यमान वस्तुओं की ही प्रतीति होती है।

वैसे ही उपसर्ग धातुओं में पूर्वस्थित अर्थों को व्यक्त करते हैं। नवीन अर्थों को उत्पन्न नहीं करते। वार्तिककार कात्यायन, नैयायिक, आचार्य गंगेश आदि उपसर्गों की द्योतकता को ही मानते हैं। महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवध महाकाव्य में उपसर्गों को धातुओं में निगूढ़ अर्थ के अभिव्यञ्जक (द्योतक) लिखा है।[34]

वाचकतावादी संप्रदाय-इस पक्ष को पुष्ट करने वालों में अग्रणी हैं-आचार्य गार्ग्य। ये नाम और आख्यात की तरह उपसर्गों को भी स्वतन्त्र अर्थ के वाचक मानते हैं। ये उपसर्ग नाम अथवा आख्यात से संयुक्त होकर केवल मात्र उनके अर्थों को अभिव्यक्त ही नहीं करते, अपितु उसमें नूतन अर्थ की सृष्टि भी करते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने उपसर्गों के विषय में वाचकत्व, द्योतकत्व, तथा सहकारित्व ये तीनों विकल्प दिए है।[35]

28 बृ0 दे0 2.94, तथा ऋक् प्रा0 12.25।

29 प्रागुपसृजत आख्यातस्येत्युपसर्गाः। ऋक् 1.164.45 का भाष्य।

30 उपगृह्य आख्यातं तस्यैवार्थविशेषं सृजन्त्युत्पादयन्तीत्युपसर्गाः, निरुक्त 1.3 दुर्ग।

31 स्कन्दभाष्य निरुक्त 1.3

32 ना0 शा0 14.26

33 निरु. 1.3

34 शि0 व0 10.15 सन्तमेव चिरमप्रवृतत्वाद प्रकाशितमदिरद्युतदङ्गे। विभ्रमः मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम्।।

35 वा0प02.190. स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा। शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते।।

उपसर्ग में धात्वर्थ परिवर्तन

उपसर्ग के संयोग से धातु के अर्थ में परिवर्तन तथा परिवर्धन आदि विशेषता आ जाने से उपसर्ग का भी अपना विशेष महत्त्व है। इस विषय में विद्वानों में भले ही मतभेद हो कि उपसर्ग-योग से व्यक्त हुआ अर्थ किसका है, किन्तु उपसर्ग धातुओं से संयुक्त होकर नूतन अर्थ की सृष्टि करते हैं।, इसमें सभी सहमत हैं।

नाम या आख्यात के साथ सम्बद्ध होना उपसर्गों का स्वाभाविक धर्म है, यह सम्बन्ध नामार्थ या आख्यातार्थ की स्थिति में कुछ न कुछ परिवर्तन कर देता है। यह परिवर्तन तीन प्रकार का होता है-

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्यः उपसर्गगतिस्त्रिधा॥[36]

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ में आमूलचूल परिवर्तन कर देता है, जबकि उस अर्थ की पहले धातु में संभावना भी नहीं होती। कदाचित् उपसर्गार्थ धात्वर्थ का अनुवर्ती या सहयोगी होता है, अर्थात् उनमें परस्पर अनुकूलता होती है। उपसर्ग का अर्थ धात्वर्थ के तत्सम होता है। कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देता है या उस अर्थ को पहले से अधिक समृद्ध कर देता है।

ऋग्वेद में उपसर्ग प्रयोग

लोक[37] में उपसर्ग धातु से पूर्व तथा अव्यवहित ही प्रयुक्त होते हैं। परन्तु वेद में[38] अव्यवहितपूर्व, व्यवहित पूर्व, अव्यवहित पर तथा व्यवहित पर सभी प्रयोग देखे जा सकते हैं। जैसे-

1. अग्न आयाहि वातये। ऋ.6.16.10
2. आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि। ऋ. 3.45.1
3. हरिभ्यां याहि ओक आ। ऋ. 7.32.4
4. विश्वास्मभ्यं सं जयतं धनानि। ऋ. 1.108.13
5. जयेम सं युधि स्पृधः। ऋ. 1.8.3
6. समिन्द्रो गा अजयत। ऋ. 4.17.11

जब उपसर्ग धातु से अव्यवहित पूर्व रहता है, तब वह क्रिया सामान्य को ही सूचित करता है। किन्तु पर या व्यवहित की दशा में उपसर्ग से सूचित अर्थ में विशेष बल आ जाता

36 वै0 भू0 सार श्लोक 46
37 ते प्राग्धातोः। पा0 1/41/80
38 छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च। पा0 1/4/81, 82

है। वह बल भी भिन्न-भिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार का होता है। जैसे-जब हम **अग्न आयाहि** कहते हैं तो इससे इतना ही सूचित होता है कि अग्नि को आगमन का निमन्त्रण दिया जा रहा है। और जब **'आचन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि'** ऐसा व्यवहित प्रयोग करते हैं, तब आभिमुख्यार्थक आङ् पर अधिक बल हो जाता है तथा स्तोता की अपने अभिमुख बुलाने की आतुरता प्रकट होती है। वही स्तोता जब **'हरिभ्यां याहि ओक आ'** कहता है तब आङ् का बल 'ओक' पर होता है, तथा यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि स्तोता इन्द्रदेव को विशेष रूप से अपने घर में बुला रहा है। इस प्रकार के बल का अन्तर अनेक वेदमन्त्रों में उपसर्गों के प्रयोगों में देखा जा सकता है।

एकाकी उपसर्गों से वति प्रत्यय

वैदिक प्रयोगों में कहीं-कहीं विशिष्ट अर्थ में उपसर्गों से वति प्रत्यय होता है। इसमें पाणिनि का **उपसर्गाच्छान्दसि धात्वर्थे**[39] सूत्र प्रमाण रूप में विहित है। इस सूत्र का अर्थ है साधन विशिष्ट धात्वर्थ में वर्तमान उपसर्ग से स्वार्थ में वति प्रत्यय होता है। यथा-**यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्**[40]। यहां 'उद्वतः' और 'निवतः' का अर्थ 'उद्गतानि' और 'निगतानि' किया जाता है। जिस प्रकार लोक में 'उद्बाहुः' (ऊर्ध्वं गतो बाहुः यस्य सः) यहाँ उत् उपसर्ग से ऊर्ध्व गमन अर्थ साधित होता है, उसी प्रकार वेद में भी 'उद्वतः' और 'निवतः' के उत् और नि उपसर्ग में उद्गत और निर्गत क्रिया समाहित है, इसी को ससाधन क्रिया कहते हैं।

यद्यपि पाणिनि या किन्हीं अन्य आचार्यों ने इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है कि किन-किन उपसर्गों से इस प्रकार वति प्रत्यय होता है, तथापि शोध से यह विदित होता है कि ऋग्वेद में यह केवल प्र, नि, उत्, परा, और सम्, उपसर्गों के साथ प्रयुक्त हुआ है। लगभग प्र, उपसर्ग से 40, नि उपसर्ग से 6, उत् से 60, परा से 64 तथा सम् उपसर्ग से केवल 3 बार वति प्रत्यय का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों में हुआ है।

उपसर्गों में द्वित्व

वेदों में कुछ उपसर्गों को द्वित्व होता है। पाणिनि ने इसे **'प्रसमुपोदः पादपूरणे'**[41] इस सूत्र द्वारा निर्देशित किया है। प्र, सम्, उप ओर उत् इन उपसर्गों को पादपूर्त्यर्थ द्वित्व होता है।

ऋग्वेद में प्र का द्वित्व प्रयोग 12 स्थानों में मिलता है। सम् का केवल एक, उप के तीन तथा उत् का भी एक ही उदाहरण उपलब्ध है। प्रमाणार्थ उदाहरण देखिए -

प्र प्र प्र वयममृतं जातवेदसम् । ऋग् 6.48.1

सम् सं समिद्युवसे वृषन् । ऋग् 10.191.1

39 पा० 5/1/188

40 ऋ० 10/142/4

41 पा० 8.1.9

ऋग्वेद में उपसर्ग

उप उपोप मे परामृश । ऋग् 1.126.7

उत् किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ । ऋग् 4.21.9

पादपूर्ति के लिए इनका प्रयोग प्राय: वेद में ही होता है। काशिकाकार ने लोक में इनका प्रतिषेध करते हुए लिखा है। **'सामर्थ्याच्च छन्दस्येव विधानं भाषायामनर्थकं स्यात् प्रयोगाभावात्।'** परन्तु आचार्य शाकटायन तथा कई अन्य आचार्यों ने लोक में भी उपर्युक्त उपसर्गों का लौकिक प्रयोग पादपूर्त्यर्थ दिखाया है।

पाणिनि ने पादपूर्त्यर्थ द्वित्व होने वाले उपसर्गों में प्र, सम्, उप और उत् का ही परिगणन किया है, किन्तु इनके अतिरिक्त परा, अप तथा अभि आदि का भी द्वित्व प्रयोग ऋग्वेद में प्राप्त होता है। माधव ने भी इनके द्वित्व का संकेत किया है, किन्तु पादपूर्त्यर्थ न मानकर वीप्सा आदि अर्थों में माना है।

वस्तुत: वैदिक प्रयोगों में जहाँ भी उपसर्गों को द्वित्व होता है। वहाँ क्रियापद उसके साथ स्वत: द्विरावृत्त हो जाता है, और वहाँ द्विरावृत्ति पादपूर्त्यर्थ न होकर बल देने के लिए ही होती है। जैसे कि निरुक्तकार ने कहा है-**अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथा अहो दर्शनीया अहो दर्शनीयेति।**[४२]

सोपसर्ग धातुओं से प्रत्यय विधान-उपसर्ग और समास:-

वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत के समान समास की जटिलता नहीं थी। ऋग्वेद में प्राय: दो पदों के ही समास मिलते हैं। तीन पदों के समास प्रयोग बहुत कम हैं। ऋग्वेद में उपसर्गों का सुबन्तों, आख्यातों एवं अव्ययों के साथ समास निम्न प्रकार से प्राप्त होता है-

1. प्र, परा आदि उपसर्गों का समर्थ सुबन्तों के साथ नित्य समास होता है।[43] यथा-प्रहन्ता, ऋग् 10/27/1, पराहता, ऋग् 5.56.3 परिच्छिन्ना:, ऋग् 7.33.6।

2. प्र उपसर्ग का अव्यय के साथ भी समास होता है। अनेक विद्वान् इसे द्विरुक्त समास भी कहते हैं।[44] यथा-प्रऽप्र ऋग् 1.40.7 तथा 3.9.3 पदपाठ में इसे समस्त मानकर प्रऽप्र इस प्रकार अवग्रह चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

3. अति आदि उपसर्गों का अतिक्रमण अर्थ में द्वितीयान्त सुबन्तों के साथ समास होता है।[45] यथा-अत्यविम् (अविं दशा-पवित्रम् अतिक्रम्य) ऋग् 1.6.5.

4. दुर् उपसर्ग का निन्दा अर्थ में समास होता है।[46] यथा-दुष्कृतम् -ऋग् 10.100.7/10. 85.32

42 निरु. 10/2

43 कुगति प्रादय: पा0 2/2/18

44 प्रसमुपोद: पादपूरणे पा0 8/1/6

45 अत्यादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। पा0 वा0

5. सु और अति उपसर्ग का पूजा अर्थ में अन्य सुबन्तों के साथ समास होता है।[47] यथा-सुसंस्कृतः, ऋग् 1.48.11, सुक्रतुः, ऋग् 1.25.10, अतियाजस्य ऋग् 6.52.1

6. विभक्त्यादि अर्थों में उपसर्गों के साथ अव्ययीभाव समास होता है।[48] यथा-अनुष्वधम्, ऋग् 1.81.4, अनुकामम्, ऋ0 1.17.3, आदि।

7. आभिमुख्य अर्थ में अभि और प्रति उपसर्ग का लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव संज्ञक होता है। यथा-अभिप्रियम्, ऋग् 1.162.3, प्रतिकामम्, ऋग् 3.48.1

8. आख्यात के साथ उपसर्ग का समास तब होता है, जब आख्यात पर उदात्त स्वर हो। यथा-अभिभा, ऋग् 2.42.1 तथा प्रपा ऋ0 10.4.1, किन्तु एक से अधिक उपसर्गों का समास अनुदात्त स्वर होने पर भी होता है। यथा-अनुपरेहि, ऋग् 1018.1, अभिसंयन्तु, ऋग् 1.125.7 आदि।

इस प्रकार ऋग्वेद में मन्त्रों के अर्थों को जानने के लिए उपसर्गों के स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है।

46 दुर्निन्दायाम्, महाभा0 2/2/18

47 स्वती पूजायाम्, महाभा0 2/2/18

48 अव्ययं विभक्ति0 पा0 2/1/6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ035-40)

ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात

डॉ. मीरा रानी रावत
रीडर संस्कृत-विभाग
आर्य कन्या महाविद्यालय
हरदोई (उ.प्र.)

आख्यात को परिभाषित करते हुए आचार्य यास्क ने निरुक्त में लिखा है-**भाव प्रधानमाख्यातम्**[1] अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता हो वह आख्यात है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी भावाभिधायक पद को ही आख्यात माना गया है।[2] 'आ' उपसर्गपूर्वक 'ख्या' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर आख्यात शब्द निष्पन्न होता है। यदि आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति **'आ समन्ताद् ख्यायते अनेन'** की जाए तो इसके अनुसार आख्यात शब्द उस शब्द को कहते हैं जिसके साथ कारक, विशेषण और अव्यय अर्थात् सभी प्रकार के शब्द संयुक्त होते हैं तथा पूर्ण रूप से जिसके द्वारा प्रत्येक शब्द को कह दिया जाता है। इस प्रकार का पद तिङन्त पद कहलाता है।[3]

वेंकटमाधव ने आख्यातानुक्रमणी में लकारों के निरूपण के साथ-साथ क्रियावाची पदों के अध्याहार का हेतु क्या है? आत्मनेपद परस्मैपद में क्या अन्तर है? आदि विषयों पर भी गम्भीरता से विचार किया है।

लट् वृत्ति

सामान्यतः लट् लकार का प्रयोग वर्तमान काल में होता है। व्यापार के आरम्भ होकर समाप्त न होने तक व्याप्त काल में प्राचीन वैयाकरण धातु से लट् का विधान करते हैं।[4] आख्यातानुक्रमणी में यह भी उल्लेख मिलता है कि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ लट् होने पर भी वर्तमान काल विवक्षित नहीं है,[5] उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं।[6] इसी प्रकार यद् और तद् के योग में भी लट् प्रयुक्त होने पर वर्तमान काल विवक्षित नहीं होता है।[7]

1 निरुक्त 1/1

2 तदाख्यातं येन भावं स धातुः। ऋक्प्रतिशाख्य 12/19

3 द्र0 निरुक्त मीमांसा, पं0 शिवनारायण शास्त्री पृ0 115

4 अर्थे प्रवृत्तेऽविरते च धातोर्लट् स्मर्यते शब्दविदैः पुराणैः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/10

5 अथापि वर्तमानत्वं क्वचिन्नैव विवक्षितम्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/18

6 द्र0 ऋग्वेद 1/2/5; 1/2/9; 1/3/12; 1/27/6

7 वही 1/41/12; 1/28/1; 1/41/5; 1/1/4; 8/16/5

कहीं-कहीं विवक्षित भी होता है।[8] लट् का प्रयोग भूतकाल में भी दृष्टिगोचर होता है। यथा-शत्रुं न किला विवित्से[9]

कदा के योग में भविष्यत् काल में भी लट्[10] का प्रयोग मिलता है। पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है।[11]

छन्द के अनुरोध से मन्त्र में जहाँ भूत एवम् भविष्यत् काल में लट् का प्रयोग मिलता है वहाँ काल विवक्षित नहीं होता है। जिस प्रकार कदा शब्द के साथ सम्बन्ध होने पर काल महत्त्वपूर्ण नहीं होता है, उसी प्रकार वाक्यों में अर्थ का स्वभाव काल को बाधित करता है।[12]

लिट् वृत्ति

परोक्ष अनद्यतन काल में लिट् का विधान इष्ट है।[13] पाणिनि भी इसी मत के समर्थक हैं। उदाहरणार्थ-**ये अग्नेः परिजज्ञिरे।**[14] **इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।**[15]

यहाँ जज्ञिरे, चक्रमे प्रयोग लिट् प्रत्ययान्त हैं। अपरोक्ष भूतकाल में भी लिट् का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[16] यथा-**जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृळ्हां पुरं विविशुः॥**[१७]

प्रस्तुत ऋक् का अर्थ वेंकटमाधव के अनुसार इस प्रकार है कि शत्रुओं को जानते हुए इन्होंने युद्ध का आह्वान किया [illegible] की रक्षा सावधानी से की और शत्रु के दृढ़ नगर में प्रवेश किया।' यहाँ ऋषि ने पूर्व यौवन काल में कृतकर्मों को वृद्ध होने पर वर्णित किया है, अतः अपरोक्षता स्पष्ट है।

अन्त में माधव ने स्पष्टरूप से निर्देश दिया है कि जहाँ यथाविहित लिट् स्थापित न हो सके, वहाँ वाक्यार्थ के अनुसार उन-उन अर्थों को प्रदर्शित करना चाहिये।[18]

8 वही 1/44/12
9 वही 1/32/4
10 वही 1/25/5
11 विभाषा कदाकर्ह्योः। अष्टाध्यायी 3/3/5
12 छन्दसोऽनुविधानाय यत्र भूतभविष्यतोः। लट् प्रयुक्तो न कालस्य विवक्षा तत्र विद्यते॥ कदादियोगे कालस्य भवत्यन्निभवो यथा। अर्थस्वभावश्च तथा कालं वाक्येषु बाधते॥ ऋग्वेदानुक्रमणी 2/1/28-29
13 प्रदर्शयँल्लिटो वृत्तिं परोक्षे तत्र लिट्स्मृतः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/1
14 परोक्षे लिट् अष्टाध्यायी 3/2/115
15 ऋग्वेद 10/62/6
16 वही 1/22/17
17 अपरोक्षेऽपि लिङ् दृष्टो। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/5
18 यदा नु शक्नुयाद्येष लिटं स्थापयितुं तदा। वाक्यार्थानुगुणाँस्ताँस्तान् पण्डितोऽर्थान् प्रदर्शयेत्॥ ऋग्वेदानुक्रमणी 2/2/10

लङ् वृत्ति

पाणिनि ने अनद्यतन भूतकाल में लङ् का विधान किया है।[19] ऋग्वेदानुक्रमणी में अनद्यतन तथा अद्यतन भूतकाल में लङ् के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, लिट् के परोक्ष भूतकाल में विहित होने के कारण लङ् प्रत्यक्ष भूतकाल में शेष रह जाता है।[20] यथा-**इन्द्रो अस्माँ अरदत्।**[21] यहाँ अरदत् प्रत्यक्ष भूतकाल का उदाहरण है। परोक्ष भूतकाल में भी लङ् का प्रयोग मिलता है।[22] यथा-**इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।**[23]

यहाँ **चकार** पद द्वारा कर्मों की परोक्षता प्रतिपादित की गयी है।[24] ऐतिहासिक पक्ष की मान्यता के कारण माधव ने इस सूक्त में वर्णित कर्मों का परोक्ष प्रतिपादित किया है। वस्तुतः ये प्राकृतिक घटनाएँ सृष्टि में सदैव घटित होती रहती हैं। लोक प्रसिद्ध, परोक्षभूत प्रयोग करने वाले के दर्शनयोग्य काल में कात्यायन ने लङ् का विधान् किया है।[25] उदाहरणार्थ-**जिहीत पर्वतो गिरिः।**[26]

यहाँ माधव का अभिप्राय है कि पर्वतों का कम्पन लोक प्रसिद्ध तथा परोक्षभूत है तथा ऋषि के दर्शन का विषय है, अतः जिहीत में लङ् का प्रयोग कात्यायन वार्तिकानुसार है। अद्यतन भूतकाल में भी लङ् का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[27] यथा-**आयमद्य सुकृतम्**[28] यहाँ आयम् में अद्यतन भूतकाल में लङ् का प्रयोग हुआ है।

लुङ् वृत्तिः-प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अद्यतन भूतकाल में लुङ् का प्रयोग इष्ट है।[29] यथा-**अभि स्तोमा अनूषत**[30] यहाँ अनूषत में लुङ का प्रयोग है। सामान्य भूतकाल में भी लुङ्

19 अनद्यतने लङ् अष्टाध्यायी 3/2/11
20 भूतेऽनद्यतने लङ् स्यात्लङ् स्मृतोऽद्यतनेऽपि च। लिटः परोक्षे स्मरणाल्लङ् प्रत्यक्षेऽवशिष्यते।। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/2
21 ऋग्वेद 3/33/6
22 परोक्षे चाऽपि दृश्यते ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/5
23 ऋग्वेद 1/32/1
24 कर्मणामत्र पारोक्ष्यं चकारेति प्रदर्शितम् ऋग्वेदानुक्रमणी 213/6
25 परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दृष्टिगोचरे। लङ् कात्यायनो ब्रूते जिहीत पर्वतो गिरिः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/7
26 ऋग्वेद 1/37/7
27 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/11
28 ऋग्वेद 1/125/3
29 प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा लुङ् भूतेऽद्यतने भवेत्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/12
30 ऋग्वेद 1/11/8

दृष्टिगोचर होता है।[31] यथा-**सं वो मदासो अग्मत**।[32] यहाँ अग्मत' में लुङ् प्रयुक्त है। पाणिनि ने भी सामान्य भूतकाल में लुङ् का विधान किया है।[33]

लिङ् वृत्तिः-लिङ् का स्मरण अनेक अर्थो में किया जाता है।[34] कर्तव्यता की प्रतीति सभी अर्थों में विद्यमान रहती है। काकु के भेद से विधि आदि छः अर्थ होते हैं।[35] पाणिनि ने भी **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्**[36] सूत्र द्वारा षडर्थो का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद में अनेक ऋचाओं में प्रार्थनाविषयक लिङ् मिलता है।[37] हेतु हेतुमान् के अर्थ में भी लिङ् होता है।[38] पाणिनि ने भी इसका विधान किया है।[39] यथा-**यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्**॥[40] यहाँ **ईशीय** तथा **स्यात्** में हेतुहेतुमदर्थ में लिङ् है। अतः लिङ् का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है।

लोट् व लेट् वृत्ति-ऋग्वेदानुक्रमणी में समुल्लिखित है कि विधि आदि अर्थों में लिङ् का प्रयोग होता है। उन्हीं अर्थों में लोट् एवम् लेट् का भी प्रयोग होता है।[41] यथा-**नाहमतो निरया**।[42] यहाँ विधि अर्थ में लोट् प्रयुक्त है।

क्रियाओं के समुच्चय को द्योतन करने के लिये विकल्प से लोट् का प्रयोग किया जाता है।[43] यथा-**प्रेह्यभीहि धृष्णुहि**।[44] यहाँ समुच्चय में लेट् का प्रयोग है। वेद में प्रार्थना के अर्थ में अनेक स्थानों पर लेट् दृष्टिगोचर होता है।[45] यथा-**स देवाँ एह वक्षति**।[46] यहाँ **वक्षति** में लेट् का प्रयोग है।

31 अथापि भूतसामान्ये पश्यामोऽद्यतनीमिमाम्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/3/15
32 ऋग्वेद 1/20/5
33 लुङ् अष्टाध्यायी 3/2/110
34 प्रदर्शयॅंल्लिङो वृत्तिं बहुष्वर्थेषु लिङ् स्मृतः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/1
35 कर्तव्यता प्रतीतिस्तु सर्वेष्वर्थेषु विद्यते। विध्यादयः काकुभदात् षड् भवन्तीति पण्डिताः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/2
36 अष्टाध्यायी 3/3/161
37 ऋग्वेद 1/17/6; 8/62/11
38 हेतुहेतुमतोर्लिङ् स्याद। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/4/9
39 अष्टाध्यायी 3/3/156
40 ऋग्वेद 8/14/1
41 लोड्लेटावपि विध्यादौ स्मृतौ यत्र लिङो विधिः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/2
42 ऋग्वेद 4/18/2
43 समुच्चयेऽन्यतरस्यामस्योदाहरणं विदुः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/4
44 ऋग्वेद 1/80/2
45 दृश्यते बहवो लेट् प्रार्थना विषया इह। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/5
46 ऋग्वेद 1/1/2

विधि तथा हेतुमान् अर्थ में भी लेट् का प्रयोग मिलता है।[47] अन्त में माधव ने निर्देश दिया है कि वाक्यार्थ के अनुसार लोट् तथा लेट् के अर्थ को प्रदर्शित करें।[48]

लृट् और लृट् वृत्ति-लृट् का प्रयोग अन्य लकारों की अपेक्षा अल्प है। लृट् के प्रयोग को दर्शाती हुई अनेक ऋचाओं को माधव ने उदाहरणार्थ उपन्यस्त किया है।[49] हेतुहेतुमद् में भी कहीं-कहीं लृट् का प्रयोग होता है।[50]

लृट् का प्रयोग लृट् की अपेक्षा भी कम प्राप्त होता है। वेंकट माधव ने ब्राह्मणग्रन्थों के कुछ स्थलों को उदाहरणार्थ उपन्यस्त किया है।[51]

क्रिया रहित वाक्यों में क्रिया का अध्याहार-क्रिया रहित वाक्यों के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किस आधार पर क्रियावाची पद का अध्याहार किया जाए। ऋग्वेदानुक्रमणी में उल्लेख मिलता है कि कारकों की अपेक्षा से क्रियावाची पद का अध्याहार कर लेना चाहिये।[52] यथा-**यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्**।[53] इस ऋक् में परिचरन्ति पद का अध्याहार किया गया है। कहीं-कहीं वाक्य में प्रयुक्त उपसर्ग क्रिया के अध्याहार में सहायक हो जाते हैं।[54] यथा-**यस्ते सखिभ्य आ वरम्**।[55] यहाँ आ' उपसर्ग से **'प्रयच्छेत्'** पद का अध्याहार किया गया है।

वेंकट माधव ने यह भी निर्देश दिया है कि यद् आदि के योग में यदि तिङन्त पद को सर्वानुदात्त प्रयोग होता है तो प्रयुक्त वाक्य के अनुरूप मध्य में क्रियावाची पद का अध्याहार करना चाहिये।[56] क्रियापद उपमेय के साथ अन्वित न होने की स्थिति में उपमेय के साथ अन्वय के योग्य अन्य क्रियापद का अध्याहार करना चाहिये।[57]

आत्मनेपद एवम् परस्मैपद पर विचार:-माधव ने भाव और कर्म विवक्षित होने पर आत्मनेपद का विधान किया है।[58] यहाँ यह ध्यातव्य है कि कतिपय धातुयें स्वतः ही कर्ता की ओर अभिमुख होती हैं। यथा-**अग्निमीळे पुरोहितम्**।[59] यहाँ स्तुति का फल स्वतः ही कर्ता की

---

47 द्र0 ऋग्वेद 1/46/1, 8/31/; 1/30/8

48 वाक्यार्थानुगुणं लोटो लेटश्चार्थं प्रदर्शयत्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/8

49 ऋग्वेद 1/44/5; 1/81/5

50 ऋग्वेद 1/161/2

51 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/6/6/4

52 अपेक्षया क्रियाक्षेपः कारकाणामिति स्थितिः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/2

53 ऋग्वेद 1/43/9

54 उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते क्रियाक्षेपाय च क्वचित्। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/4

55 ऋग्वेद 1/4/4

56 पश्यद् यदादियोगेऽपि निहतं यदि तिङ्पदम्। मध्ये क्रियापदाक्षेपस्तत्तद्वाक्यानुरूपतः।। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/7/6

57 यदोपमेये नान्वेति क्रियाशब्दस्तदाऽपि च। उपमेयान्वये योग्यामन्यामध्याहरेत् क्रियाम्। वही 2/7/9 द्र0 ऋग्वेद 1/116/1; 2/27/1; 2/16/1

58 आत्मनेपदमेवैषु दृश्यते भावकर्मणोः। ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/3

59 वदन्ति तत्र कवयः स्वाभावादिह केचन। अभिसंयन्ति कर्तारम् 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/4

ओर अभिगमन कर रहा है। अतः **ईळे** पद में आत्मनेपद है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहाँ क्रिया का फल स्वतः कर्ता की ओर अभिमुख रहता है उनके वाचक धातुओं में आत्मनेपद का प्रयोग होता है, उनसे भिन्न परस्मैपदी होती हैं।[60]

ईक्ष् तथा दृश् धातु के माध्यम से आत्मनेपद तथा परस्मैपद को स्पष्ट किया जा सकता है। कार्य के प्रयोजन का सम्बन्ध मन में करके देखने को ईक्षण मानते हैं, परन्तु दृश् के साथ इस प्रकार का नियम नहीं है।[61] यथा-**अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय।**[62] यहाँ घृत की ओर देखती हुई पत्नी कहती है–[63]**अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवेक्षे सुप्रजास्त्वाय।** अर्थात् दोष रहित नेत्र से तुझे तेजस्वी सन्तान के लिये देखती हूँ। यहाँ चित्त में कार्यार्थ का सन्धान स्पष्ट है अतः 'ईक्ष्' आत्मनेपदी धातु का प्रयोग हुआ है। **नराशंस सुधृष्टमपश्यम्** अर्थात् नरों के द्वारा प्रशंसनीय शत्रुओं के अतिशय धर्षिता को देखता हूँ। यहाँ दृश् धातु का अर्थ केवल देखना है, अतः दृश् धातु परस्मैपदी है।

उभययपदी धातुएँ भी प्राप्त होती हैं। यथा–**प्रातारत्नं प्रातरित्वा दधाति।**[64] यहाँ उभयपदी धातु 'धा' का प्रयोग है **दधाति** और **धत्ते** दोनों रूप **'धा'** धातु से ही निष्पन्न होता है। इसके अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।[65]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदानुक्रमणी में आख्यात सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। आख्यात सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से ऋग्वेदानुक्रमणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

60 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/6

61 ऋग्वेदानुक्रमणी 2/8/7

62 तैत्तिरीय संहिता 1/1/10/3

63 ऋग्वेद 1/18/9

64 ऋग्वेद 1/125/1

65 ऋग्वेद 3/8/1; 1/64/4

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ041-46)

वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र

डॉ. सोमदेव शतांशु
प्रवाचक संस्कृत-विभाग
गु0का0 वि0वि0 हरिद्वार

अवयवी एवं अवयवों का इतरेतर सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदाङ्ग वेदों के मर्म को समझने एवं उनके कार्यान्वयन में अत्यधिक सहयोगी हैं। कालक्रम से जब मानवबुद्धि रजोगुण तमोगुण से समाक्रान्त हो वेदज्ञान को हृदयगंम करने में असमर्थ हुई, तब परावरज्ञ ऋषियों ने वेदार्थ के सुखबोध के लिए वेदांगों की रचना की। वेदांगों में श्रौतसूत्र कल्पग्रन्थ नाम से जाने जाते हैं। कल्पग्रन्थों[1] में यज्ञों का प्रतिपादन प्रकार विहित है। कल्पांगभूत श्रौतसूत्रों में वेदविहित यज्ञों का विधान एवं मन्त्रों का विनियोग विहित है। इन कल्पसूत्रों के विना मन्त्राभिप्रेत कर्मानुष्ठान अशक्य: प्राय: है।[2]

श्रौतसूत्रों की वेदार्थ से सम्बद्धता यहाँ विचेच्य है। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ नि:संदेह ब्रह्माण्ड में सतत प्रवर्तमान आधिदैविक तथा आध्यात्मिक यज्ञों के निदर्शन हैं। श्रौतसूत्र इन यज्ञों के व्यवस्थाक हैं। तो नि:संदेह हमें उन्हें वेदार्थ के विभिन्न आयामों का द्योतक मानना पड़ेगा।

अधिकांश यज्ञीयमन्त्र अध्वर्युवेद-यजुर्वेद में आम्नात हैं। भरतमुनि का कथन है-नाट्यशास्त्र में अभिनयतत्त्व यजुर्वेद से उपगृहीत हुआ।[3] इसका अभिप्राय: हुआ यज्ञीय कर्मकाण्ड या यज्ञीय पदार्थ किसी प्रत्यायनीय के प्रतीक हैं। जैसे जल सत्य या पवित्रता का, अग्नि आत्मा या परमात्मा का तथा आज्य श्रद्धा का ब्राह्मणग्रन्थों में एतद्विषयक अनेकश: प्रमाण उपलब्ध हैं। इस विषय में विशेषत: समर्पणानन्द जी का शतपथ भाष्य उल्लेखनीय है। जैसे कोई अभिनेता राम के चरित्र का अभिनय कर रहा है तो उसे हमें रामचरित के भाव को हृदयंगम कराने वाला मानने में कोई आपत्ति नहीं होती। उसी प्रकार यज्ञविधायक इन श्रौतसूत्रों को वेदार्थ में सहायक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। नाटक पात्र शब्द भी यज्ञीय पात्र आज्य स्थली जुहू, उपभृत, स्रुव आदि की औपमिक सादृश्य से प्रयुक्त होते हैं-**पात्रमिव पात्रम्।** श्रौतसूत्रों में वर्णित यज्ञों का मूल उद्देश्य दैवत एवं अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना है, यास्क का भी यही अभिप्राय प्रतीत

---

1 कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति कल्प:। दुर्गभाष्य

2 वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पै: कर्माणि याज्ञिका:। न तु कल्पैर्विना केचिन् मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्।। कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्तिक 1/3/11

3 यजुर्वेदादभिनयान्। भरत, नाट्यशास्त्र अध्याय 1/17

होता है।[4] ब्राह्मणग्रन्थों में तो इस तथ्य का निर्देशन पदे पदे देखा जा सकता है-**इत्यधियज्ञम् अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** आदि।

बौधायन श्रौतसूत्र दर्शपूर्ण मास प्रकरण का यह वाक्य भी ध्यातव्य है-**'तस्य च (वेदस्य) कर्मऽवबोधनमेवार्थः तदधीनमेव कर्म अभ्युदयहेतुः तथा च दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम। न च तस्याध्ययनमात्रात् तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति,[5] चोदितानां कर्मणां सुखावबोधाय भगवान् बौधायनः कल्पमकल्पयत्। यतो ब्राह्मणानामानन्त्यं दुःखबोधता च अतो न तैः सुखं कर्मावबोध इति कल्पसूत्राणीमानि प्रतिनियतशाखान्तराणि अङ्गीचक्रुः पूर्वाचार्याः।'**

उक्त सन्दर्भ में वेदविहित कर्मों का सुखावबोधन ही श्रौतसूत्रों का प्रयोजन है। इतना तो निर्विवाद ही है। अतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि अधिदैव एवं अध्यात्म जगत् की क्रियाओं एवं पदार्थों का वर्णन करने वाले मन्त्रों का गूढ़ अभिप्रायों को साक्षात् कराने या प्रत्यक्षतः समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों को विशिष्ट क्रियाओं से किया गया। यज्ञकर्म करते हुए किस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में बोध कराने वाले वाक्यों को विनियोग कहते हैं-**विनियुज्यतेऽनेन**-जिससे सम्बद्ध किया जाए।[6] इस प्रकार यह विनियोग शब्द भी श्रौतसूत्रों एवं मन्त्रार्थ के प्रगाढ़ सम्बन्ध को द्योतित करता है।

कालान्तर में यज्ञप्रभाव वृद्धि के साथ विविध इच्छापूर्ति के लिए अनेक यज्ञों का प्रचलन हुआ तथा अनुकूलार्थ मन्त्र न मिलने पर मन्त्रार्थ के विपरीत भी विनियोग होने लगे।[7]

अतः महर्षि स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रगत याज्ञिक प्रक्रिया को प्रमाण मानते हुए भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कहा है-'इसलिये युक्ति से सिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन (शाखाब्राह्मण/श्रौतसूत्र) में कहा गया विनियोग ग्रहण योग्य है। जैसे युक्ति विरुद्ध जैसे अश्वमेध में अश्व के साथ राजमहिषी का समागम यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि का स्त्रियों और कन्याओं से अश्लील सम्भाषण, वेद विरुद्ध।[8] यथा-गौ, अश्व, अजा, अवि पुरुष आदि की हिंसा यह अमान्य है।

श्रौतसूत्रों के विधान अनेक रूप से मन्त्रार्थ स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे कहीं विशिष्ट पदों का अर्थ बताते हुए यथा हवि व्रीहि, यव, आज्य, पयः आदि कहीं पर विनियोग क्रम को स्पष्ट करते हुए यथा-**आम्नाय प्रणिधीरं पूर्वमिदमुत्तरमिति।**[9]

4 याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। निरुक्त 1/19

5 शाबर-भाष्य- 1/11

6 युधिष्ठर मीमांसक-शाबर भाष्य पृ. 124

7 दधिक्राव्णो अकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान्। प्राश्य। आश्वलायन श्रौतसूत्र 6/13

8 ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषय। पृ0 288

9 बौ.श्रौ.सू. 24/1/2

वेदार्थ एवं श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्रों में विहित अग्निहोत्र के कर्मकाण्डों के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त भावों की चर्चा करते हैं। अग्निहोत्रादि समस्त याग आहिताग्नि यजमान को करने का अधिकार है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम अग्निहोत्र शब्द पर विचार करते हैं।

संसार में मनुष्य की उत्पत्ति के पश्चात् सर्वप्रथम वह अहोरात्र का परिवर्तन का अनुभव करता है, यद्यपि यह सामान्य घटना प्रतीत होती है, किन्तु अतिमहत्त्वपूर्ण घटना है। यही दिन रात अध्यात्म में जागरण एवं सुषुप्ति के द्योतक हैं। इसी तत्त्व की व्याख्या ऋषियों ने अग्निहोत्र के रूप में की है।[10] यथा दिन-रात का काल विभाग अधिदैव में सबसे छोटा है तथा अहोरात्र का प्रतिनिधिभूत अग्निहोत्र भी सबसे छोटा है। मनुष्य जीवन दिन-रात में व्यतीत होता है। अतः अग्निहोत्र का अनुष्ठान भी यावज्जीव करना होता है।[11] इसी दृष्टि से शतपथकार ने अग्निहोत्र को जरामर्य सत्र[12] कहा है। अग्निहोत्र रातदिन में दो बार किया जाता है। उभयकाल का मिलाकर एक अग्निहोत्र कर्म होता है।

अग्न्याधान कर्म मध्याह्न काल तक चलता है। अतः अग्निहोत्र सायंकाल प्रारंभ होता है। ततः प्रातःकाल प्रातरग्निहोत्र होता है। यह विधान यजुर्वेद के **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहाः**[१३] रहस्य को प्रकट करता है कि पहले प्रातःकालीन **सूर्यो ज्योतिः** न पढ़कर **अग्निर्ज्योतिः** क्यों पढ़ा गया।

अधिदैव में भी सृष्टिरूप दिन से पूर्व रात्रि रूप प्रलय विद्यमान था। सर्ग वर्णन से पूर्व प्रलय का बोध ही नहीं हो सकता। इसलिए ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी सद् से पूर्व असद् प्रलय का वर्णन है।[14] अग्नयाधान[15] के विना कोई याग संभव नहीं है। श्रौतसूत्रों में अग्न्याधान के लिए कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, फाल्गुनी, विशाखा तथा उत्तर भाद्रपदा नक्षत्र उपयुक्त माने गए हैं।[16] यदि ब्राह्मण कृत्तिका[17] नक्षत्र में आधान करता है तो वह ब्रह्मतेज सम्पन्न होता है। मृगशीर्ष[18] में आधान करने से ब्रह्मतेज तथा यज्ञफल, पूर्वा फाल्गुनी से विशेष दान प्राप्ति तथा उत्तराफाल्गुनी से विशेष श्री प्राप्ति होती है।

10 गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः 13/43 अश्वं जज्ञानं मा हिंसीः। यजुः 13/44

11 श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय, पृ0 23 (युधिष्ठिर मीमांसक)

12 यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति। लुप्त ऋग्वेदीय ब्राह्मण

13 यजुर्वेद 3/9

14 12/4/1/1

15 नासदासीन्नो सदासीत् ऋ0 10/129/1 तम आसीत् तमसा गूळमग्रे0। ऋ0 10/129/3

16 अग्नियों को स्थापित करने के लिये जलते हुए अंगारों को किसी विशेष व्यक्ति के द्वारा समय विशेष में विशेष मन्त्रों के साथ विशेष स्थल में रखा जाना। धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1 पृ0514

17 कृत्तिकासु रोहिण्यां मृगशिरसि विशाखयोरुत्तरयोः प्रोष्ठपदयोः। आश्वलायन श्रौतसूत्र 2.1.10

18 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5-3-3

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कृत्तिका के सम्बन्ध में शतपथ में कहा है-अन्य सभी नक्षत्र एक दो तीन अथवा चार हैं किन्तु कृत्तिकाएँ बहुत-सी हैं। अतः इसमें अग्न्याधान से बहुत्व को प्राप्त होता है। यह पूर्व दिशा से कभी च्युत नहीं होती, अन्य सभी च्युत हो जाते हैं। अतः यजमान भी च्युत नहीं होता।[19] तैत्तिरीय-ब्राह्मण में रोहिणी के सम्बन्ध में लिखा है-**'प्रजापतिः रोहिण्यामग्निमसृजत्। तं देवा रोहिण्याम् आदधत। ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद् रोहिण्यै रोहिणीत्वम्। रोहिण्यामग्निमाधत्ते ऋध्नोत्येव। सर्वान रोहान् रोहति।**[20]

कृत्तिका रोहिणी आदि नक्षत्र विशिष्ट काल में अग्न्याधान से बहुत्व तथा समृद्धि प्राप्ति इनका बहुत्व तथा अग्निप्राधान्य को संकेतित कर रहे हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मण को वसन्त में क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शरद में तथा रथकार को वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए।[21] यदि सोमयाग करना हो तो ऋतुनक्षत्र विचार करने की आवश्यकता नहीं है।[22]

इसका अभिप्राय यह है कि वसन्त आज्य ज्ञानस्नेह का प्रतीक है, ग्रीष्म इध्म कठोर उग्र दहन प्रकृति का है। शरद हविः-अन्नादि पोषणतत्त्व आदि का प्रतीक है। अतः ब्राह्मणादि वर्ण भी उन-उन गुण विशेषों को अपने अन्दर धारण करें।

अग्न्याधान के लिए अश्वत्थ (पीपल) की दो अरणियों[23] को मथकर अग्नि उत्पन्न कर स्थापना की जाती है। यह विधि पृथ्वी में सर्वप्रथम भौतिक अग्नि की उत्पत्ति वनस्पतियों के संघर्षण से ही मानी जाती है। आहवनीय अग्नि स्थापना के समय आहवनीय कुण्ड के पास पहले घोड़े को पूर्वाभिमुख खड़ा किया जाता है, उसके दक्षिण पैर से कुण्डस्थ संभारों का स्पर्श कराया जाता है। तदनन्तर घुमाकर आहवनीय कुण्ड की पूर्व दिशा पश्चिमाभिमुख खड़ा करके उसका दाहिना पैर कुण्ड में स्थापित संभारों पर जैसे पड़े वैसे कुदाया जाता है और कुण्डस्थ अश्वपद चिह्न से स्पर्श कर उस पर अग्नि रखी जाती है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में इस समय ब्रह्मा के द्वारा रथचक्र को घुमाने का भी निर्देश मिलता है।

वेदि स्थापित तीन अग्नियों में से गार्हपत्याग्नि पार्थिव अग्नि का प्रतीक है। आहवनीयाग्नि सौर अग्नि का तथा दक्षिणाग्नि अन्तरिक्षस्थ अग्नि का प्रतीक है। वेदों में अनेकत्र सूर्य को कहा गया है-**एको अश्वो वहति सप्तनामा।**[24] सूर्य की स्वधुरि पर गति को ध्यान में रखकर **त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्।**[25]

19 वही 5/3/6
20 वही, 5/3/89
21 शतपथ ब्राह्मण 2/1/2
22 तै. ब्रा. 1/22
23 वसन्तो ब्राह्मणस्य ग्रीष्मो राजन्यस्य हेमन्तो वा शरद् वैश्यस्य वर्षा रथकारस्य। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5/3/18
24 ऋग्वेद 1/164/2
25 ऋग्वेद 1/164/2

इसी अधिदैव रहस्य को ध्यान में रखकर आहवनीयाग्नि आधान के समय प्रतीक रूप से अश्व को उपस्थित किया जाता है।[26]

इस अग्निस्थापन क्रिया के पश्चात् यजमान या अध्वर्यु छः समिधाएँ लेकर अग्नि में आहूत करता है। कहीं पर तीन काष्ठ लेकर आहवनीयाग्नि के चारों ओर रखने का विधान मिलता है।[27] ये समिधाएँ पलाश की हों, क्योंकि पलाश ब्रह्मवृक्ष है। पलाश नहीं मिले तो विकङ्कत किंकणी वज, काश्मर्य, खम्भारी, बिल्व, खैर, उदुम्बर का प्रयोग करें। शतपथ के अनुसार विकङ्कत स्निग्ध गुणयुक्त, काश्मर्य कीटाणुनाशक, बिल्वपुष्टिकारक, खादिर कठोर सारवान्, गूलर शक्तिवर्धक होता है।[28] इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती लिखते हैं-**राष्ट्ररक्षारूपी अग्नि की सुरक्षा के लिए यदि पलाशगुण युक्त कोई ब्राह्मण न मिले तो जो स्नेहयुक्त, दोषनाशक, दृढ़व्रत, सारवान्, ऊर्जस्वी, मनुष्य मिले, उनसे कार्य लेना चाहिए।**[29]

अग्नि स्थापना के पश्चात् व्रतधारण किया जाता है। केशादिकर्तन तथा नियम-संयम[30] तथा जल स्पर्शपूर्वक या अग्नि को देखते हुए **अग्ने व्रतपते** इत्यादि मन्त्रोचारणपूर्वक व्रत ग्रहण लिया जाता है। तत्सदृश होने के लिए ही इनके साक्ष्य में व्रत ग्रहण किया जाता है।

श्रौतसूत्रों के हवाले से यागों में जो पशुबलि की कुप्रथा चल पड़ी है। वह सर्वथा भ्रान्त है। संक्षेप में वेदविहित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ है। एक स्पष्ट प्रमाण-**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त**[31] **वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्तः।**[32] पशुयज्ञ में अंहिस्य है इस तथ्य को चरक संहिता में अतिसार रोगोत्पत्ति प्रसंग में स्पष्ट किया है।[33] **आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया: बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नभाग इक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशुनामभवत् गवालम्भः प्रवर्त्तितः अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।**

26 सोमेन यक्ष्यमाणो नर्तु पृच्छेत्र नक्षत्रम्। आश्वलायन श्रौ.सू. 2/1/15

27 शालाग्निं निर्मथ्य वा। मानवश्रौतसूत्र 1.5.1.14

28 श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय पृ. 21

29 शतपथब्राह्मण 1/3/3/18

30 क. प्रजापति यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्। 6-6-3.1 ख. रक्षोघ्नं ददृशुर्यत् काश्मर्यम्। 3.4.1-14 ग. मज्जा स .... श्रोत्रत उदभिनत् स एव वनस्पतिरभवद् बिल्व। 13.4.1.8 घ. अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् तस्मात् स दारुणो बहुसारः। वही 13.4.4.9 ङ-ऊर्गुदुम्बरः। वही- 3.2.1.33

31 स्वामी समर्पणानन्द। शतपथ-भाष्य पृ. 226

32 यजुर्वेद-23/14

33 चरकसंहिता-चिकित्सास्थान 19/4

इस प्रकार गवालम्भ से पृषध्र के यज्ञ में अतिसार रोग प्रथम उत्पन्न हुआ। चरक के कथन की पुष्टि वसिष्ठधर्मसूत्र[34] में निम्नरूपेण की है-

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।

पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्॥[35]

पहले तीन रोग थे- ईर्ष्या, क्षुधा एवं बुढ़ापा। पृषध्र[36] ने गौ हत्याकर 98 नये रोगों को उत्पन्न किया। उक्त श्रौत एवं परवर्ती प्रमाणों से स्पष्ट है कि यागों में पशु अवध्य हैं।[37]

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रों में विहित कर्मकाण्ड अनेक प्रकार से वेदमन्त्रों के आधिदैविक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वपूर्ण रहस्यों को समझाने में सहायक है। आज आवश्यकता है इन सूत्र ग्रन्थों को समझकर वेद के वास्तविक मर्म तक पहुँचने की। वेदाङ्गों की रचना का वेदाङ्गत्व महत्त्व इसी में है।

34 वसिष्ठधर्मसूत्र-21/23

35 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 5.4.9

36 पृषध्र-पुरुरवा पौत्र नहुष-युधिष्ठिर मीमांसक शाबर भाष्य पृ0176

37 अग्निपशु के आलमन से यज्ञ-आपो ह यद् बृहती विश्वमायन गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम। यश्चिदापो महिनापर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। ऋ. 10/121/7.8

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ047-53)

निघण्टु में अनुपलब्ध-निरुक्त में व्याख्यात पद

डॉ0 वेदपाल
रीडर संस्कृत जनता वैदिक कालेज
बडौत (बागपत)

महर्षि यास्क ने निरुक्त में कुछ ऐसे भी पदों का निर्वचन किया है, जो निघण्टु में अनुपलब्ध हैं। ऐसे पदों की संख्या पाँच सौ के लगभग है। प्रश्न उठता है कि यदि इन पदों का निर्वचन ही करना था तो यास्क ने इन पदों को निघण्टु में ही समाम्नात क्योंकि नहीं किया? इससे निघण्टु व निरुक्त का एकर्तृत्व खण्डित सा प्रतीत होता है, क्योंकि यदि इन दोनों का कर्ता एक होता तो व्याख्येय निघण्टु में निरुक्त में व्याख्यात पदों को अवश्य आम्नात करता। निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पदों की व्याख्यातव्यता एवं दोनों का एकर्तृत्व प्रस्तुत पत्र का विवेच्य विषय है।

दुर्ग ने स्वनिघण्टु भाष्य[1] में छन्दोभ्यः समाहृत्य0' की व्याख्या में यह प्रसङ्ग उठाया है कि-निघण्टु में इतने ही पदों को संगृहीत क्यों किया? दुर्ग का मत है कि-मन्त्र में अवस्थित ये ही पद ऐसे थे जो अभिनिविष्ट बुद्धि वाले, मेधावी, तपस्वी, लक्षण, विनियोग, आर्षच्छन्द, दैवत निदानविदों के भी मन्त्रार्थ परिज्ञान के उद्यम को भङ्ग करने वाले थे। दुर्बोध होने से, इन पदों का परिज्ञान होने पर अप्रतिहत गति से मन्त्रार्थ परिज्ञान किया जा सकता है। इसलिए ये पद ही ज्ञापक हैं।[2]

दुर्ग ने निघण्टु पठित पदों के समाम्नान का प्रयोजन तो दर्शा दिया, किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि क्या निघण्टु पठित पदों से व्यतिरिक्त पद मन्त्रार्थ परिज्ञान रूप उद्यम को भङ्ग करने वाले न थे? इस विषय में यह कहना समीचीन होगा कि अन्य भी अनेक पद हो सकते हैं जो मन्त्रार्थबोध में बाधक हों, किन्तु ऐसा मानने से निघण्टु पठित पदों की दुर्बोधता खण्डित नहीं होती। अन्य पद भी क्लिष्ट हो सकते हैं अतः व्याख्येय भी। ऐसा मानने में कोई दोष भी नहीं है। दुर्ग ने **'एवकार'**[3] के द्वारा जो इन पदों के लिए निर्धारण करना चाहा है, वह उचित प्रतीत नहीं होता।

1 दुर्ग ने निरुक्तभाष्य को निघण्टुभाष्य नाम दिया है।

2 दुर्गवृत्ति 1.1 कस्मात् पुनरेतावन्त एव ग्रन्थीकृता इति? उच्यते-इतो यस्मादेतैरेव छन्दस्यवस्थितैरभिनिविष्टधियामपि मेधाविनां तपस्विनां लक्षणविनियोगार्षछन्दो दैवतनिदानविदामपि सतां मन्त्रार्थपरिज्ञानोद्यमभङ्गः क्रियते, दुष्परिज्ञानत्वात् तेषामेतेषु परिज्ञातेषु अप्रतिबन्धेन शक्यते मन्त्रार्थः परिज्ञातुमिति अत उच्यते ते एवं ज्ञापका भवन्तीति।

3 दुर्गवृत्ति 1.1-एतैरेव छन्दस्यव0......... त एव

आचार्य यास्क ने भी 'निघण्टव'[4] पद का निर्वचन करते हुए कहा है कि ये पद मन्त्रार्थ निगमयिता होने से निगन्तु होते हुए निघण्टु कहलाने लगे, किन्तु यास्क ने ऐसा कहते हुए 'एवकार' द्वारा पदों का निर्धारण नहीं किया। अतः निघण्टु में अनुपलब्ध (किन्तु निरुक्त में व्याख्यात) पदों की व्याख्यातव्यता को अवकाश प्रापत हो गया। विचारणीय विषय यह है कि क्या निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पद दुर्बोध हैं? क्या वे ज्ञात होने पर मन्त्रार्थबोध में सहायक होते हैं? क्या उनमें सभी पद अभिनिविष्ट धी वालों के लिए क्लिष्ट हैं अथवा कुछ ऐसे पद भी हैं जो भूयसे निर्वचनाय[5] कहकर और अधिक स्पष्ट करने की मनीषा से व्याख्यात किए हैं? क्या उन पदों का वर्गीकरण नैघण्टुक, नैगम अथवा दैवतकाण्ड के अन्तर्गत किया जा सकता है? क्या महर्षि यास्क का निर्वचन सिखा देने का प्रयोजन निघण्टु पठित पदों के व्याख्यात कर देने मात्र से ही पूर्ण न हो रहा था अथवा निम्क्त का प्रयोजन मात्र निर्वचन न होकर व्याख्यात पदों के माध्यम से मन्त्रार्थ करना सिखाना है? क्या उन पदों को निघण्टु के पदों की ही भाँति अप्रसङ्ग में असम्बद्ध ढंग से ही व्याख्यात किया है अथवा प्रसङ्गवश ही कहा है अथवा प्रसङ्गाप्रसङ्ग जिस भी तरह से अध्येता के सारल्य का ध्यान रखते हुए दुर्बोधता को दूर करने का प्रयास किया गया है? क्या निघण्टु पठित पदों के निर्वचन की शैली की ही भाँति निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के निर्वचन में कुछ नूतन शैली का प्रयोग किया गया है? इत्यादि उत्कण्ठायुक्त प्रश्न ही इस विवेचन का मूल हैं।

निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) यास्क भूमिकागत पद।[6]

(2) नैघण्टुक काण्डगत पद।[7]

(3) नैगम काण्डगत पद।[8]

(4) दैवत काण्डगत पद।[9]

यास्क भूमिकागत पद

यास्क भूमिकागत पदों में सर्वप्रथम पठित **'निघण्टवः'**[10] पद ही अतिपरोक्षवृत्तियुक्त हैं। अतिपरोक्षवृत्ति होने से यह नैगमकाण्ड में होना चाहिए था, किन्तु इसे यास्क भूमिका में

4 निरुक्त-1.1

5 निरुक्त 30.1, 7.4

6 निरुक्त 1.1-2.1

7 निरुक्त 2.2-सम्पूर्ण तृतीय अध्याय

8 निरुक्त 4.1-सम्पूर्ण षष्ठ अध्याय

9 निरुक्त 7.1-द्वादश अध्याय पर्यन्त

10 निरुक्त 1.1

व्याख्यात किया गया है। यह छन्द में अवस्थित पद नहीं है। अतः दुर्बोध होता हुआ भी निघण्टु में समाम्नात नहीं किया जा सकता, क्योंकि निघण्टु में केवल मन्त्रस्थ पद ही पठित हैं। निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के लिए एक यह सिद्धान्त भी निःसृत हुआ कि इन पदों में ऐसे पद भी है जो मन्त्रस्थ नहीं, अपितु प्रसङ्गवश व्याख्यात पद हैं अथवा विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। यास्क भूमिका में पठित **'निघण्टवः'** व **'निपाताः'**[11] ये दो पद पारिभाषिक हैं और आत्यन्तिक रूप से व्याख्येय भी हैं।

'चित्' निपात के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यास्क ने 'आचार्यः' व 'कुल्माषाः'[12] का निर्वचन किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि इन पदों का निर्वचन न करते तो 'चित्' निपात का पूजा व कुत्सा अर्थ द्योतित न हो पाता। 'आचार्यः' पद के निर्वचन द्वारा आचार्य पद की गरिमा व 'कुल्माषाः' पद के द्वारा कुल्माष के ब्याज से दरिद्रता की निन्दा की गई है, जो कि इन पदों के निर्वचन के विना सम्भव न थी। अतः प्रसङ्गवश पठित ये पद भी आत्यन्तिक रूप से व्याख्यातव्य थे।

'नु' निपात[13] को वेद में प्रदर्शित करने के लिए मन्त्रांश दिया। पुनः उस मन्त्रांश[14] में आए दुर्बोध पद (वयाः) को व्याख्यात किया, जबकि उस पद से 'नु' निपात का विशेष अर्थ प्रकट होता हो-ऐसा नहीं है। पुनरपि 'वयाः'[15] पद का निर्वचन कर तथा 'वयाः' के अर्थ-शाखा' शब्द का भी हेत्वाक्षिप्त निर्वचन किया है। अतः इन पदों के प्रसङ्ग में एक यह भी सिद्धान्त निःसृत हुआ कि केवल प्रसङ्गवश भी पदों का निर्वचन किया गया है। प्रसङ्गवश आए हुए पद अव्याख्यात तो छोड़े जो सकते थे, किन्तु ऐसे पदों का निघण्टु में समाम्नात करना (प्रसङ्ग का पहले ध्यान न होने से) किञ्चित् कठिन प्रतीत होता है।

'नूनम्' निपात को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र[16] प्रस्तुत करके मन्त्र में पठित श्वः[17] पद के प्रसङ्ग से अद्य, द्युः, ह्यः आदि पदों का निर्वचन आचार्य की सचेष्ट चेष्टा ही कही जाएगी कि वे निरुक्त अध्येता को प्रत्येक शब्द का मर्म ज्ञात करने के लिए उद्बोधित करना चाहते हैं।

आचार्य शब्द संरचना को ध्यान में रखते हुए ही धात्वन्वेषण करते हैं। जैसे-अन्यः नानेयः, ह्यो हीनः, वरो वरयितव्यः, चित्तं चेततेः, मघम् मंहनीयः, दक्षिणा दक्षतेः, हस्तो हन्तेः, भगो भजतेः, वीरो वीरयति[18] इत्यादि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

---

11 निरुक्त 1.2
12 निरुक्त 1.2.4
13 निरुक्त 1.2.4
14 वृक्षस्य नु ते पुरूहूत वयाः ऋ. 6.24.3
15 निरुक्त 1.2.4
16 न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्। अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। ऋ. 1.17001
17 निरुक्त 1.3.6
18 निरुक्त 1.3.7

'त्व' निपात के प्रसङ्ग में आचार्य ने मन्त्र प्रस्तुत किया है।[19] प्रस्तुत 'ऋचां त्वः'[20] मन्त्र के प्रत्येक पद को व्याख्यात किया है। इस मन्त्रव्याख्या से प्रतीत होता है कि आचार्य का उद्देश्य निर्वचन मात्र न होकर मन्त्रव्याख्या शिक्षण भी है। यतः गायत्रम्, शक्वर्य, ब्रह्मा, ब्रह्म, अध्वर्युः आदि[21] पदों का निर्वचन 'त्व' निपात को स्पष्ट करने में साक्षात् रूप से सहायक नहीं है।

'त्व' निपात को सर्वनाम पद मानते हुए प्रथमा बहुवचन 'त्वे' को वेद में प्रदर्शित करने के लिए मन्त्र[22] प्रस्तुत कर सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या भी की है, जबकि 'त्व' निपात का अर्थ तो स्पष्ट ही था। यहाँ भी अक्षि, कर्णाः, आस्यम्, दघ्नः, प्रस्नेया, ह्रदः आदि पदों[23] का (अप्रसङ्ग में) निर्वचन यही साक्षी देता है कि आचार्य मन्त्र व्याख्या प्रकार भी सिखाना चाहते हैं। 'दघ्न' शब्द को आचार्य प्रमाणवाची नामपद मानते हैं, जबकि आचार्य पाणिनि 'दघ्न' को प्रमाणवाची प्रत्यय मानते हैं।[24]

इस प्रकार भूमिका में आए पदों के निर्वचन प्रकार में भी ऐसी कोई विशिष्ट भिन्नता नहीं है, जो कि उन पदों के निर्वचन प्रकार को नैघण्टुक, नैगम, दैवत काण्ड में आए पदों से पृथक् कर सके।

नैघण्टुक काण्डगत पदः-नैघण्टुक काण्ड में 'गौ' पद को वेद में दिखाने के लिए मन्त्रांश दिया[25]। मन्त्रस्थ नामपद 'मत्सर' को व्याख्यात किया। यद्यपि मत्सर शब्द लोभवाची[26] नामपदों में पढ़ा गया था, पुनरपि यहाँ **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** में मत्सर का अर्थ सोम अभिप्रेत था। अतः एक ही प्रवृत्तिनिमित्त से दोनों अर्थ सिद्ध कर दिए। 'गो' का अर्थ गो का पय है। अतः 'पयः'[27] का निर्वचन देकर पयः के प्रसङ्ग से क्षीर का निर्वचन भी दे दिया है।

इस प्रकार निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात इन पदों के लिए यह कहा जा सकता है कि ये प्रायशः नामपद ही हैं और मन्त्रांश में पठित केवल नामपदों का ही व उस नामपद के प्रसङ्ग से आए पदों का भी निर्वचन किया गया है। जैसे 'अंशुः' मन्त्रांश[28] में पठित नामपद है। **'इति अधिषवणचर्मणः'**[29] ऐसा कहकर 'चर्म' पद का भी निर्वचन कर दिया है।

19 निरुक्त 1.3.7
20 ऋ. 10.71.11
21 निरुक्त 1.3.7
22 ऋ. 10.71.7-अक्षण्वन्तः
23 निरुक्त 1.3.8
24 प्रमाणे द्वयसज्दघ्न०।
25 ऋ. 9.46.4-गोभिः श्रीणीत मत्सरम्
26 निरुक्त 2.2.5
27 निरुक्त 2.2.5
28 अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि-ऋ. 10.94.9
29 निरुक्त 2.2.5

इसी प्रकार वृक्ष पद मन्त्रांश[30] में पठित है और उसके प्रसङ्ग से 'क्षा' पद का निर्वचन कर दिया है।

सूर्य की सभी रश्मियों को गो कहते हैं। इस प्रसङ्ग में[31] भी सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या की है। भूः, शृङ्गम्, पादः ऐसे ही पद हैं, जबकि इन पदों का निर्वचन 'गो' शब्द का अर्थ- 'सभी सूर्य रश्मि' सिद्ध करने में साक्षात् सहायक नहीं है। पुनरपि सम्पूर्ण मन्त्रव्याख्या से 'गो' शब्द का अर्थ सुस्पष्ट अवश्य होता है।

निर्ऋति पद पृथिवी वाची नामों में पठित है। इसके दो अर्थ हैं-पृथिवी व कष्ट प्राप्ति।[32] एक ही मन्त्र में निर्ऋति के दोनों अर्थ प्रकट करने के लिए यास्क ने **'य ईं चकार०'**[33] ऋचा को प्रस्तुत किया है। उसी मन्त्र में 'माता' व 'योनि' ये दो पद आए हैं। मन्त्रार्थ के साथ ही इन पदों का अर्थ भी पृथक् हो जाता है,[34] अतः ऐसा कहा जा सकता है कि निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों में कुछ ऐसे भी पद हैं जो मन्त्रार्थ करते समय साक्षात् सहायक होते हैं।

समुद्र के दो अर्थ हैं- अन्तरिक्ष और सागर,[35] दोनों को विभक्त करने के लिए एक मन्त्र दिया है और इसी प्रसङ्ग से 'शन्तनुः' जैसे ऐतिहासिक नाम पद की अन्वर्थसंज्ञा प्रकट की है। कहीं-कहीं 'आपनीफणत्'[36] व 'आशयत्'[37] जैसे तिङन्त पद का भी निर्वचन किया है। प्रसङ्गवश संख्याओं[38] का भी निर्वचन किया है जो कि वेदमन्त्र में पठित नहीं हैं।

इस प्रकार नैघण्टुक काण्डगत निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के लिए कहा जा सकता है कि ये पद नाम व आख्यात दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं और ये मन्त्रार्थ से साक्षात् रूप से जुड़े भी प्रतीत होते हैं।

नैगमकाण्डगत पद

नैगमकाण्डगत पद अतिपरोक्षवृत्ति वाले हैं। उन पदों को सुस्फुट करने के लिए सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या ही अपेक्षित है, किन्तु आचार्य ने प्रसङ्गवश मन्त्रस्थ पदों से व्यतिरिक्त अन्य पदों की भी व्याख्या की है। जैसे-जहा[39] को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र दिया है। मर्या शब्द को

---

30 वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौस्ततो वयाः-ऋ. 10.27.22
31 निरुक्त 2.2.7
32 निरुक्त 2.2.8
33 ऋ. 1.164.32
34 निरुक्त 2.2.9 माता-माता, अन्तरिक्ष; योनि-योनि, वायु
35 ऋ. 10.98.7
36 निरुक्त 2.7.28
37 निरुक्त 2.5.16
38 निरुक्त 2.2.9
39 निरुक्त 4.1

मन्त्रस्थ होने से व्याख्यात किया। मर्या का अर्थ मर्यादा है। पुनः मर्यादा का भी निर्वचन दिया। वास्तव में नैगमकाण्डगत पद ही उस कोटि में रखने चाहिए, जिनके लिए दुर्ग ने एवकार[40] का प्रयोग किया है। इन्हीं पदों के ज्ञान से सम्पूर्ण वेदमन्त्र स्पष्ट होता प्रतीत होता है।

'दयते'[41] जैसे पदों के लिए मन्त्रांश दिया है, किन्तु मन्त्रांश में पठित पदों का निर्वचन नहीं किया। नैगम काण्ड में लगभग एक सौ पचास पद ऐसे हैं जो निघण्टु में अनुपलब्ध हैं, किन्तु निरुक्त में व्याख्यात हैं। नैगम काण्ड में निघण्टु में अनुपलब्ध किन्तु निरुक्त में व्याख्यात पद केवल अतिपरोक्षवृत्ति वाले ही नहीं हैं, क्योंकि वे प्रसङ्गवश पठित हैं। अतः वे प्रत्यक्षवृत्ति व परोक्षवृत्ति वाले भी हैं।

दैवत काण्ड गत पद

दैवतकाण्डगत पदों की संख्या लगभग दो सौ है। दैवतकाण्ड में निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात सभी पद देवतावाची नहीं हैं। जैसे-मन्त्राः, छन्दांसि[42] आदि। उनके प्रसङ्ग से स्तोमः, यजुः, साम[43] इन पदों का भी निर्वचन कर दिया है।

गायत्री[44] आदि ग्यारह छन्द के नाम पदों का भी निर्वचन किया गया है। अग्नि[45] आदि देवतापरक मन्त्रों को भी निर्वचन पुरस्सर ही दर्शाया है। प्रसङ्गवश गङ्गा आदि[46] (नदीवाची) का निर्वचन कर दिया है। कतिपय मन्त्रस्थ पद ज्यों के त्यों ही उठाकर व्याख्यात किए हैं। यथा-पराञ्चनैः,[47] स्वर्कैः[48] इत्यादि।

इस प्रकार निघण्टु में अनुपलब्ध व निरुक्त में व्याख्यात पदों के विषय में कहा जा सकता है कि यास्क ने इन पदों की व्याख्या करते समय यह ध्यान नहीं दिया है कि-नैगमकाण्ड है तो अतिपरोक्षवृत्ति वाले ही होने चाहिए। प्रत्यक्षवृत्ति व परोक्षवृत्ति पदों का भी प्रसङ्गवश ग्रहण किया है। रोदसी,[49] पर्शुः,[50] लक्ष्मी,[51] अप्सरा[52] आदि को दैवतकाण्ड में न

40 दुर्गवृत्ति 1.1
41 निरुक्त 4.3.17
42 निरुक्त 7.3.12
43 निरुक्त 7.3
44 निरुक्त 7.3
45 निरुक्त 7.4
46 निरुक्त 9.3.24
47 निरुक्त 11.3.22
48 निरुक्त 11.2.12
49 निरुक्त 6.1.1
50 निरुक्त 4.1.2
51 निरुक्त 4.2.9
52 निरुक्त 5.3.12

रखकर नैगमकाण्ड में ही प्रसङ्गवश व्याख्या की है। इससे ज्ञात होता है कि इन पदों के लिए आचार्य को प्रकरण अपेक्षित न था, ये पद प्रसङ्गवश कहे हैं। साथ ही इन पदों की आत्यन्तिक व्याख्यातव्यता भी थी। दैवतकाण्ड में भी यह ध्यान नहीं रखा गया कि दैवतकाण्ड है तो सभी पद देवता वाचक या उनसे सम्बन्धित ही होने चाहिए, अपितु सामान्य पदों का भी प्रसङ्गवश ग्रहण किया है। इन सभी पदों के लिए यही कहा जा सकता है कि ये पद प्रकरणरहित होते हुए भी आत्यन्तिक रूप से व्याख्येय थे, इसीलिए आचार्य ने इन्हें निघण्टु में विना पढ़े ही निरुक्त में व्याख्यात किया। ऐसा मानने पर निघण्टु निरुक्त का एककर्तृत्व भी खण्डित नहीं होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ054-58)

वेदों में निहित लोकमंगल की भावना

डॉ0 मन्जुलता शर्मा
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
सैण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा।

वेद वाङ्मय विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। इसमें मानव समाज की धार्मिक भावनाएँ और दार्शनिक विचारधाराएँ समाहित हैं। विशेषत: यह भारतीयों की जीवनधारा के रूप में अतीत से लेकर आज तक प्रवाहित है। वेद भारतीयों के लिए आध्यात्मिक धरातल प्रस्तुत करके उनके दैनिक जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

भारतीय परम्परा ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा के रूप में स्वीकार करती है। ऋषियों ने अपने अन्तस् में जिस वेदवाणी का मनन किया, वही स्तुतियों के संकलन के रूप में प्रस्फुटित हुए। वस्तुत: धर्म और विचारधारा का समन्वित स्वरूप ही वैदिक संस्कृति एवं परम्परा के रूप में विकसित हुआ। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय:'[1] के अनुसार वेद **मन्त्र** के साथ-साथ **श्रुति** के नाम से भी स्वीकृत किये गए। वेद का वास्तविक अर्थ सद्ज्ञान है जो सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करके मानव कर्म को निरूपित करता है। चारों वेदों के समस्त मन्त्र जिस आधारपीठ पर अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाये हुए हैं, वह है–यज्ञ की प्रतिष्ठा। यज्ञ को ही वैदिक कर्मकाण्ड का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। वैदिक आर्य अग्निकुण्ड में देवताओं के उद्देश्य से अपने परमप्रिय पदार्थ का हवन करते थे तथा इस पदार्थ प्रक्षेप के फलस्वरूप अपनी भौतिक समृद्धि और उन्नति की कामना करते थे-**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिर:।।**[2]

इस प्रकार बाह्यरूप से देखने पर यज्ञ किसी देवता विशेष के लिये द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप मात्र हैं, परन्तु वास्तव में यह एक विलक्षण रहस्य से संवलित है। महर्षि कात्यायन ने यज्ञ का लक्षण बताते हुए लिखा है–**'द्रव्यं देवता त्याग: याग:'**[3] अर्थात् जब देवता को लक्ष्य करके प्रज्वलित अग्नि में द्रव्यों की आहुति दी जाती है, तब वह विसर्गात्मक क्रिया यज्ञ कहलाती है। हमारे शरीर में वैश्वानर अग्निदेव विद्यमान हैं, हम प्रतिदिन भोजन के द्वारा उनको सन्तुष्ट करते हैं।[4] पशु, पक्षी, कृमि, कीट यह समस्त जीव भोजन करके याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। बीज रूपी वृक्ष इस यज्ञ द्वारा ही अंकुरित होकर विशाल वृक्ष में परिणित हो जाता है। पृथिवी, चन्द्र,

---

1 मनुस्मृति 2/10
2 ऋग्वेद-अग्निसूक्त 1/1/6
3 कात्यायन श्रौतसूत्रम् 1/2/1
4 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता: / गीता 15/14

द्युलोक आदि की स्थिति भी यज्ञ से ही है। देवों के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ आधिदैविक और शरीर पोषण हेतु किया जाने वाला यज्ञ आधिभौतिक कहलाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥[5]

लोकव्यवहार में यज्ञ भले ही देव सन्तुष्टि का माध्यम हो, परन्तु वास्तविक रूप में इससे जनकल्याण की भावना जुड़ी हुयी है। क्योंकि यज्ञ से सन्तुष्ट देवों के द्वारा लोकमंगल के कार्यों को करने की अपेक्षा की जाती थी। वस्तुतः जब चैतन्य एवं आनन्द का पूर्ण सामरस्य हो जाता है, तब मनुष्य उस अदृश्य शक्ति की अनुभूति में उल्लसित हो उठता है। आर्य संस्कृति समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के विकास हेतु प्रासाद खड़ा नहीं करती अपितु वह व्यक्ति और समाज दोनों के विकास का आग्रह करती है। अतः उभय प्रकार की उन्नति के लिये आर्यों ने यज्ञ संस्था का निर्माण किया। ब्राह्मणों के तत्त्वदर्शन के अनुसार यज्ञ में एक आभिचारिक शक्ति होती है जो इच्छित फलों की प्राप्ति कराती है। पापों को दूर करने के लिये, समृद्धि एवं धनधान्य की प्रचुरता हेतु अनेक याज्ञिक अनुष्ठान किए जाते थे, जिसमें वैश्वानरः, गार्हपत्य, सवितृ, पूषन्, मरुत्, विश्वकर्मन् एवं विश्वेदेवा आदि के रूप में अग्नि का आह्वान किया जाता था।[6] यज्ञ की भावना केवल धार्मिक कृत्यों की साधिका नहीं है, अपितु भौतिक जगत् की नियामक भी है। यज्ञ के द्वारा प्रदूषित पर्यावरण की शुद्धि तो होती है, साथ ही अनेकों घातक उत्सर्जक गैसें भी नष्ट होती हैं, जो ऑक्सीजन की शुद्धता में बाधक हैं। इस पृथिवी को मूल ऊर्जा भगवान् सूर्य से प्राप्त होती है, उसकी किरणें प्रतिदिन प्राणतत्त्वों को लेकर पृथ्वी पर आती हैं और इस पृथिवी में समाविष्ट होकर पुनः अन्न, औषधि शाक, फल, पुष्प, लता, गुल्म पशु पक्षी, कीटपतंगादि के रूप में पुनः अवतरित होती रहती हैं। इस प्रकार सूर्य से जो प्राणतत्त्व इस पृथिवी पर आते हैं, वे ही पुनः सूर्य में चले जाते हैं। इस प्रक्रिया को वैदिक परिभाषा में 'गवामयन' कहा जाता है। पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती हुयी उसमें आहुति प्रदान करती रहती है। प्रातःकाल सविता के रूप में भगवान् सूर्य प्रतिदिन अमृततत्त्व की आहुति पृथिवी पर करता है। इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदानगत आहुतियों के द्वारा यज्ञ होता रहता है।[7] गायत्री मन्त्र इसी शुद्ध प्रकाश की याचना का मन्त्र है।[8] द्यौस् पुत्री उषा समस्त भोग्य पदार्थों की प्रदान करने वाली है। समस्त विश्व की चेष्टा एवं कार्यशीलता उसी पर आश्रित है।[9] परन्तु आज सूर्य का यह देवत्व रूप क्षीण हो रहा है। कटते हुए जंगलों के फलस्वरूप विच्छिन्न होती 'ओजोन' की परत विनाश के नवीन अध्याय लिखने को तत्पर है। वृक्षों के अभाव में न तो वर्षा होती है और जो

5 श्रीमद्भगवद्गीता 8/4
6 अथर्ववेद 6/119, 7/64,2, 12/2,11,12
7 भूमिं पर्जन्यो जिन्वति, दिवं जिन्वन्ति चाग्नयः, ऋग्वेद-3.2.1.1
8 यजुर्वेद 36/3
9 ऋग्वेद 1/48/16

होती भी है, वह जल रोकने वाले वृक्षों के अभाव में नष्ट हो जाती है। इससे एक ओर भूमिगत जलस्तर गिरता जा रहा है। और दूसरी ओर हमारी प्राकृतिक सम्पदा भी नष्ट हो रही है। जलस्तर की गिरावट भूकम्प आदि के द्वारा अपने विचलन का संकेत दे रही है। हमारे वेद वृक्षों के प्रति जिस देवत्व को स्वीकार करते थे, जिन मानवीय सम्बन्धों को मानकर उनकी उपासना करते थे, जिनको अपने स्वस्थ जीवन के लिए विकसित होने का कर्तव्य याद दिलाते थे, आज वह वैदिक संस्कृति कहीं विलुप्त हो रही है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि का यह आह्वान कितना संवेदनशील है-

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।

नानावीर्या औषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।[10]

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन उल्लासमय था, उसमें निरन्तर प्रगतिशील रहने की अभिलाषा थी। उनका प्रमुख लक्ष्य सुसंस्कृत एवं सुगठित समाज का निर्माण करना था। ऋषियों ने शस्य श्यामला वसुन्धरा की गोद में क्रीड़ा करने की कामना की है, क्योंकि उनकी सृष्टि में सब कुछ स्वाभाविक है। पृथिवी उनकी माता है और वह स्वयं अबोध शिशु। तो फिर भला पर्जन्य को पिता के रूप में क्यों न स्वीकार किया जाए, क्योंकि पृथिवी की प्रकट-अप्रकट सम्पदाएँ पर्जन्य पर ही तो निर्भर हैं। वही उसकी उत्पत्ति में सहायक है-

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं नव्यं यास्त ऊर्जस्तन्वऽः संबभूवुः।

तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।[11]

प्रकृति की इस अनन्त धरोहर ने ही हमारे उज्ज्वलभविष्य का इतिहास लिखा है। एक ओर उन्नत पर्वत शिखर और घने जंगल तथा दूसरी ओर समुद्रों की करधनी धारण किये हुए पृथिवी का यह भव्य रूप हमें गौरवान्वित करता है।[12] वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति जिस अनुभूति का परिचय दिया है, उसमें भी विश्वकल्याण की भावना निहित है। अथर्ववेद का पृथिवीसूक्त राष्ट्र की शस्य श्यामला भूमि को उत्कृष्ट बनाने की कामना करता है:-

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।

वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु।[13]

आकाश तक फैली लताएँ, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष राष्ट्र की समृद्धि के आधार हैं। यह वसुन्धरा अपने गर्भ में अनेक प्रकार के रत्न एवं खनिज सम्पदा को संजोये हुए है। अतः जब प्रकृति की यही चेतना मनुष्य को जाग्रत करेगी तब मन्त्रों का यह प्राणतत्त्व आकार लेगा। शान्तिपाठ के

10 अथर्ववेद 12/1/2
11 अथर्ववेद 12/1/12
12 अथर्ववेद 12/1/4
13 अर्थववेद 12/1/6

रूप में जिस शान्ति का आश्वासन दिया गया है, उसमें विश्वबन्धुत्व के साथ-साथ प्राकृतिक आपदाओं से भी शान्ति का आह्वान है। यह समस्त औषधियाँ वनस्पतियाँ तब ही तो हमारा कल्याण कर सकेंगी, जब उन्हें शुद्ध जलवायु मिले। वृक्षों से व्याप्त ये जंगल वास्तव में ऊर्जा के स्रोत हैं, समृद्धि की कामधेनु हैं, अतः यदि मानव सभ्यता को बचाना है, जनकल्याण के मार्ग प्रशस्त करने हैं तो पृथिवी से यही प्रार्थना करनी होगी-**अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु**[14] नदियों के प्रति हमारा मातृत्व भाव हमारे कल्याण का केन्द्र बिन्दु है। क्योंकि नदियाँ न केवल हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूरक रही हैं, अपितु उनसे एक दिव्य सन्देश भी मिलता रहा है। सर्वात्मदर्शी ऋषियों ने उनमें जीवन का साक्षात्कार किया है। यद्यपि ये ऋषि स्थूल प्रकृतिवादी नहीं थे, प्रत्युत प्रकृति के प्रति उनका एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था। इस दृष्टिकोण के साथ जीवन की यह कल्पना तब और भी साकार हो उठती है जब हम आदिकाल से ही नदी विशेष को तन्नामक देवी विशेष से प्रतिष्ठित करते हैं[15] और ऐसे जल एवं जलाशयों की उपासना 'सन्तति' अथवा किसी, 'वरदान' की आशा से की जाती है।[16] ऋग्वेद में दिव्याआपः कहकर नदी के देवत्व को स्वीकार किया गया है। नदी सूक्त का ऋषि नदियों से यही प्रार्थना करता है कि वह भरतवंशियों का उद्धार करें।[17] वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उन प्राकृतिक उपादानों के विकास की बात करता है जिसमें मानव का हित निहित है।

तत्कालीन समाज में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन धर्मकल्पना से व्याप्त था। भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति धर्म पर निर्भर थी। इसके आध्यात्मिक रूप ने उसके जीवन को विपत्ति में आश्वस्त किया और ऐहिक स्वरूप में लौकिक व्यवहार को समझने की प्रेरणा दी। त्रैवर्णिकों का जो धर्म उसमें बताया गया है वह प्रार्थना और श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड के रूप में है। वेद न केवल श्रौत कर्मानुष्ठान द्वारा अपितु साधारण रूप से भी प्रवृत्ति धर्म के महत्त्व को प्रकाशित करता है। ऋग्वेद में जुआ जैसी सामाजिक बुराई पर 'अक्षसूक्तम्' में विस्तार से चर्चा की गयी है। इस सूक्त का ऋषि स्वीकार करता है कि पासों से खेलते हुए व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। वह अपने परिवार और समाज के प्रति दायित्व को भूलकर जीतने की कामना में अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देता है।[18] उसके इस दुराचरण से परिवार के समस्त लोग उससे द्वेष करते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, जिससे तिरस्कृत होकर जुआरी का जीवन आनन्दरहित हो जाता है।[19] इसलिए इस सामाजिक बुराई का विरोध वेदों में किया गया है। ऋग्वेद का ऋषि जुआ खेलने वाले का मार्गदर्शन करते हुए कहता है कि- हे जुआरी! पासों से मत खेलो। खेती ही

14 अथर्ववेद 12/1/11
15 ऋ0 3/33/3
16 ऋ0 10/30/12
17 ऋ0 3/33/11,12
18 ऋ010/34/5,6
19 ऋ0 10/34/3,4

जोतो। प्राप्त धन को बहुत मानते हुए सन्तोष करो। वहाँ तेरी गायें हैं, स्त्री है, यह श्रेष्ठ सवितादेव का आदेश है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितवस्तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥[20]

इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद जुआ जैसी कुप्रथा का कठोरता से निषेध करते हैं और एक ऐसे कल्याणकारी समाज का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसमें लोकहित सुरक्षित है।

वस्तुतः वेदों के प्रत्येक मन्त्र में लोकमंगल की भावना विद्यमान है, क्योंकि एक ओर ऋषि पृथिवीसूक्त के द्वारा समुद्र एवं नदियों से आपूरित, धनधान्य से परिपूर्ण भारतीय वसुन्धरा के प्राकृतिक उपादानों की बात करता है, वहीं दूसरी ओर शिवसंकल्पयुक्त श्रेष्ठ मन वाले भारतीय ही उसे अभीष्ट हैं। क्योंकि विचार एक ऐसा भाव है जो मानव क्रियाओं को गति देता है, विचारों का क्रियोन्मुख दृढ़रूप ही संकल्प कहा जाता है अतः राष्ट्रगौरव और सामाजिक संरचना की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये विचारों की शुद्धता और शिवता बहुत आवश्यक है। विचारों का उदय एवं विस्तार मन देवता द्वारा होता है, जिस प्रकार अच्छा सारथि घोड़ों को चाबुक मारकर इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ मन इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है।[21] अतः त्रिकालदर्शी, आत्मद्रष्टा, ज्योति स्वरूप, तीव्र गतिमान् मन की स्तुति आवश्यक है, क्योंकि श्रेष्ठ साधकों के लिए नियन्त्रित मन ही तप का मूल है।

अस्तु। आज भी भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति के व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवनयात्रा कर रही है। सर्वाङ्गीण अभ्युदय ही इसका प्राणतत्त्व है। भारतीय समाज के संगठन, उसकी जीवनचर्या के नियम और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक ऊर्जा भी अनुकरणीय है। वेदों में लोकमंगल कामना की अनुगूंज है, इसलिए आज भी वे अपने उच्च आदर्शों के कारण व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर विश्व कल्याण का उद्घोष करते है। विश्व बन्धुत्व की यही भावना जब जनमानस को आन्दोलित करेगी, तब सामाजिक अवमूल्यन पर लगा हुआ प्रश्नचिह्न अनुत्तरित नहीं रहेगा।

20 ऋ० 10/34/13
21 शुक्लयजुर्वेद 34/6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ059-73)

वैदिक यज्ञ और महर्षि दयानन्द सरस्वती

डॉ0 बलवीर आचार्य
संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञ करने के लिए संकेत किया है। इन यज्ञों का वर्णन वेद की शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों में मिलता है। इस समय इस समस्त साहित्य का स्वल्प भाग ही उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र के अन्तर्गत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र के रूप में तीन प्रकार के सूत्र साहित्य का ग्रहण होता है। इस समस्त साहित्य में वर्णित यज्ञविधियों को महर्षि दयानन्द ने यथावत् स्वीकार करते हुए लिखा है-**अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्याश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् पुनस्तत् कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्च। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति**[1] अर्थात् इस वेद भाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्द और उनके अर्थ के साथ किया जायेगा। परन्तु कर्मकाण्ड में प्रयुक्त वेदमन्त्रों से जहाँ-जहाँ जो-जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त कर्म करने चाहिए, इस वेदभाष्य में उनका वर्णन नहीं किया जाएगा। क्योंकि इनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्र आदि में किया हुआ है। इसका पुनः वर्णन अनृषि ग्रन्थ के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष से युक्त माना जाएगा। इसलिए युक्ति से सिद्ध वेदादि प्रमाणों के अनुकूल मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उन-उन ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञों का विनियोग ग्रहण करने योग्य है।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ब्राह्मणग्रन्थों, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रों में वर्णित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के विधान को स्वीकार करते हैं।

वैदिक साहित्य में यज्ञ व्यापक अर्थ को समाहित किया। हुए है। इसी कारण **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म,**[2] **स्वर्गो वै लोको यज्ञः**[3] कहकर इसकी महिमा को बताया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों के विवेचन से पूर्व 'यज्ञ' शब्द पर विचार करना उचित रहेगा-

1 द्र0-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषय।

2 श0ब्रा0।

3 कौषी0 ब्रा0 14.1

यज्ञपरिभाषा

'यज्ञ' शब्द की निष्पत्ति यज् धातु से भाव में 'नङ्' प्रत्यय के संयोग से हुई है।[4] यज् धातु के तीन अर्थ हैं (क) देवपूजा (ख) सङ्गति करण (ग) दान।

(क) देवपूजा

देव शब्द अनेकार्थता का वाचक है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'देव' शब्द परमेश्वर, अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्व तथा विद्वान् परोपकारी पुरुषों का वाचक है। 'पूजा' का अर्थ है सत्कार यथायोग्य व्यवहार। इस प्रकार प्राकृतिक (जड़ पदार्थों) जड़ तथा चेतन देवों (विद्वान् परोपकारी पुरुषों) के साथ यथायोग्य व्यवहार करना देवपूजा है। इस सन्दर्भ में 'देवपूजा' शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। 1. परमेश्वर की पूजा उपासना। 2. अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा गुण संवर्धन अथवा इनका प्राणियों के कल्याण के लिए उपयोग। 3. विद्वान्-परोपकारी पुरुषों की पूजा-सेवा शुश्रूषा

(ख) सङ्गतिकरण

सङ्गति करण का तात्पर्य है-आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग, विद्वान् परोपकारी पुरुषों का सत्सङ्ग करना तथा विविध कार्यों की सिद्धि के लिए अग्न्यादि प्राकृतिक पदार्थों का संयोजन। इस प्रकार योगाभ्यास, सत्सङ्ग और शिल्पविज्ञान भी यज्ञ है।

(ग) दान

प्राणिमात्र के कल्याण के लिए किया गया किसी भी प्रकार का स्वार्थरहित समर्पण दान कहलाता है। 'दान' भी यज्ञ है। यज्ञ शब्द के अर्थ के विषय में महर्षि दयानन्द का भी यही मत है-**धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिक-पारलौकिकसुखसम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्या-प्रत्यक्षीकरणम् नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति** अर्थात् (हिन्दी अनुवाद भी महर्षि दयानन्द कृत ही है) धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द तीन प्रकार का होता है अर्थात् एक जो इस लोक और परलोक के सुख के लिए विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हैं उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानों का समागम अथवा शुभ गुण विद्या सुख धर्म और सत्य का नित्य दान करना।[5]

इस प्रकार धात्वर्थ के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। वैदिक संहिताओं में यज्ञ शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है। गीता में उल्लिखित द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ[6]

4 यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। पा. धा. पा. भ्वा. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। अष्टा0 3.3.9

5 द्र0 मा0 शुक्ल यजु0 सं0 द0 भा0, 102।

6 भगवद्गीता, 4.28-33।

आदि शब्द भी यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थों के वाचक हैं। संक्षिप्त रूप में यदि यज्ञ की परिभाषा निर्धारित करनी होतो कहा जा सकता है कि प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी समस्त शुभकर्म यज्ञ हैं'।

उपर्युक्त यज्ञ की परिभाषा ब्राह्मणग्रन्थों तथा कल्प साहित्य में वर्णित द्रव्ययज्ञ पर घटित नहीं होती है। द्रव्ययज्ञ की परिभाषा करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लेख है कि **'द्रव्यं देवतात्यागः'**[7] अर्थात् देवता को उद्दिष्ट करके किसी पदार्थ का त्याग करना 'यज्ञ' कहलाता है।

ऋग्वेदादि संहिताओं में आधिकांशतः सृष्टियज्ञों का वर्णन है। इन यज्ञों का उद्देश्य सृष्टि की विभिन्न सृजनोन्मुख क्रियाओं का ज्ञान कराना था। जिससे सूक्ष्मतम क्रियाओं से युक्त सृष्टि यज्ञ का ठीक से ज्ञान हो सके। बाद के साहित्य में द्रव्ययज्ञों का विवेचन बिशेष रूप से किया गया।

द्रव्ययज्ञों का उद्देश्य युधिष्ठिर मीमांसक ने निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादित किया है-यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिए की गयी है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्र मण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उनके मानचित्रों की; तथा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गयी अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर हुई है। अत एव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिए विभिन्न छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल और सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न यज्ञों की कल्पना की गयी। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का नाम कल्प भी है-**'कल्पनात् कल्पः।'**[8]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्राह्मण साहित्य अथवा कल्प साहित्य में वर्णित यज्ञों का आविष्कार ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म क्रियाओं प्रक्रियाओं का ज्ञान कराने के लिए हुआ था। ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों प्रकार के सृष्टि तथा द्रव्ययज्ञों का वर्णन हुआ है। सृष्टियज्ञों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रतीकात्मकता के कारण दार्शनिक व जटिल प्रतीत होता है। प्रतीकों के माध्यम से सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड सृष्टि के रहस्य को ही अनावृत करता है।

7 कात्यायन श्रौतसूत्र, 1.2.2।

8 द्रष्टव्य श्रौतयज्ञमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ0 137, 138

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास

द्रव्ययज्ञों का सृजन त्रेता युग के शुरू में माना जाता है।[9] इससे पूर्व इन यज्ञों की उत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है। प्रारम्भ में यज्ञ बहुत ही सरल थे, उनकी विधि का सीधा सम्बन्ध सृष्टि की क्रियाओं से था। महाभारत में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञों को प्राचीन माना गया है।[10]

अग्निहोत्र का साक्षात्सम्बन्ध दिन और रात से था। दर्शपौर्णमास का सम्बन्ध कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष से था, चातुर्मास्य का सम्बन्ध ऋतुओं से था। इसके बाद विविध यज्ञों का सृजन किया गया। क्योंकि जन साधारण में यज्ञों के प्रति वर्धमान अभिरुचि के कारण याज्ञिक लोगों ने स्वार्थवश यज्ञों में बाह्य आडम्बरों की वृद्धि की। विविध नये यज्ञों की कल्पना की गयी। काम्य एवं नैमित्तिक यज्ञों के विकास का यही मूल प्रतीत होता है। वर्तमान काल में भी रामायण यज्ञ, गायत्री महायज्ञ, वेदपारायण यज्ञ जैसे अवैदिक यज्ञों का प्रचलन हो रहा है। यह भी इसी दुष्प्रवृत्ति का परिणाम है।

वैदिक साहित्य में वर्णित यज्ञ

वैदिक साहित्य में वर्णित यज्ञों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका अनुष्ठान एक दिन से लेकर सहस्रसंवत्सर पर्यन्त किया जाता था। सर्वप्रथम यज्ञों के श्रौत और स्मार्त दो भेद उपलब्ध होते हैं। संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञ श्रौतयज्ञ तथा गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञ स्मार्तयज्ञ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के यज्ञों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है-1. नित्य 2. नैमित्तिक और 3. काम्य।

१. **नित्य यज्ञः**- विना किसी व्यवधान के कर्त्तव्य कर्म के रूप में प्रतिदिन किये जाने वाले यज्ञ नित्ययज्ञ कहलाते हैं। जैसे-अग्निहोत्र यज्ञ।

२. **नैमित्तिक यज्ञः**-जो किसी निमित्त के उपस्थित होने पर किये जाते हैं।

३. **काम्य यज्ञः**-किसी कामना की पूर्ति के लिए किए जाने वाले यज्ञ काम्ययज्ञ कहलाते हैं। जैसे, यशःप्राप्ति, धनप्राप्ति आदि।

इन तीनों यज्ञों के पुनः तीन भेद किये जाते हैं-पाकयज्ञ, सोमयज्ञ और हविर्यज्ञ। इन तीनों के भी सात-सात भेद होते हैं। इस प्रकार 3X7=21 भेद होते हैं। इसका विवेचन गोपथ ब्राह्मण के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है-

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।

9 त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृतयुगे। महा0 शान्ति0 132-32 यथा त्रेतायुगे मुखे यज्ञस्यासीत्प्रवर्तनम्। वायुपुराण। 57.89 तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। मुण्ड0 1.2.1

10 दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः। चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः। महाशान्ति0 26.-20

सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः॥[11]

गोपथब्राह्मण में इन तीनों यज्ञों के सात-सात भेद निम्नलिखित रूप में बताये गये हैं-

पाकयज्ञः-1. सांयहोम 2. प्रातःहोम 3. स्थालीपाक 4. बलिवैश्वदेव 5. पितृयज्ञ 6. अष्टका और 7. पशु।

हविर्यज्ञः-1. अग्न्याधान 2. अग्निहोत्र 3. दर्श 4. पौर्णमास 5. नवसस्येष्टि 6. चातुर्मास्य और 7. पशुबन्ध।

सोमयज्ञ :-1. अग्निष्टोम 2. अत्यग्निष्टोम, 3. उक्थ्य[12] 4. षोडशी 5. वाजपेय 6. अतिरात्र और 7. अप्तोर्याम।

इन इक्कीस यज्ञों का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में एक जैसा नहीं है, इन यज्ञों के नाम भेद भी उपलब्ध होते हैं। इनमें अग्निहोत्र यज्ञ का वर्णन सबसे कम समय में सम्पादित किये जाने वाले यज्ञों में होता है। अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष में सम्पादित होता है। कुछ सत्रयज्ञ सहस्र वर्षों तक चलते थे। इन यज्ञों में कुछ यज्ञों का राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था, जिसका विवेचन ऐतरेय-ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण कात्यायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में किया गया है।

राजनीतिक यज्ञों के विवेचन से वेद कालीन राजनीति के सिद्धान्तों का पता चलता है। इन राजनीतिक यज्ञों का विवेचन निम्नलिखित है-

राजनीतिक यज्ञ

वैदिक काल में राजा चयन के बाद जब वह प्रथम बार आसन ग्रहण करता था तब विभिन्न स्थानों से जल लाकर उसमें विभिन्न यज्ञीय पदार्थ मिलाकर, पुरोहित समारोह पूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करके राजा को स्नान कराता था। इसी विधि का नाम राज्याभिषेक था अर्थात् राज्य के लिए स्नान। ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि प्रारम्भिक काल में राज्याभिषेक की विधि बहुत ही सरल और जटिल यज्ञीय विधिविधानों से रहित थी। परन्तु बाद के काल में राजाओं के अभिषेक की विधि जटिल से जटिलतर व जटिलतम होती गई, जिसके परिणाम स्वरूप आने वाले समय में समाज को इससे वितृष्णा होने लगी।

वर्तमान युग में इन विधियों का कोई नाम लेने वाला भी नहीं रहा। मात्रायें विधि पुस्तकों की ही शोभा बढ़ा रही हैं। इस जटिलता के पीछे यह कारण प्रतीत होता है कि समाज में प्रचलित इन यज्ञों के महत्त्व के कारण पुरोहित वर्ग अनेक नवीन पद्धतियों का समावेश इनकी विधियों में करता रहा। इसका उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित ऐन्द्र महाभिषेक है, जो अपने

11 गो0 पू0 5/25॥

12 सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः॥ अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमासस्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः॥ अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥ गो0 पू0 5/23

मूल रूप में बहुत ही सरल एवं आडम्बर रहित था।[13] उसके अनुकरण में पश्चाद्वर्ती राजाओं द्वारा किया जाने वाला राज्याभिषेक भी आडम्बर रहित एवं सरल विधि विधान युक्त था।[14] परन्तु उत्तरवर्ती कल्प साहित्य में राज्याभिषेक की विधियों का विवेचन जटिलताओं से युक्त हो गया। इसके साथ ही इन विधियों में कुछ ऐसे कृत्यों का समावेश भी बाद के व्याख्याकारों ने किया, जिसको वाममार्ग ही उचित मान सकता है, अन्य नहीं।[15] पुनरपि राज्याभिषेक की यह परम्परा महत्त्वहीन नहीं हो जाती। परवर्ती काल में वैदिक युग की इस परम्परा का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा और जैसे गंगोत्री से निकलने वाली निर्मल गंगा समुद्र में मिलने तक इतनी परिवर्तित और विकृत हो जाती है कि उसके रूप को पहचाना ही नहीं जा सकता, इसी प्रकार वैदिक परम्पराएँ भी इतनी परिवर्तित हो गयीं कि उनका मूल रूप सर्वथा तिरोहित सा हो गया और इस परम्परा के अनुसरण के आधार पर नई परम्पराओं ने जन्म ले लिया, फिर भी इतना तो निश्चित रूप से पता चलता है कि इन नयी परम्पराओं का मूल रूप वैदिक साहित्य में ही विद्यमान है। आरम्भिक काल में वैदिक राजा राज्याभिषेक के समय ईश्वर को स्मरण करके संक्षिप्त और सारगर्भित शपथ लेता था, जिसमें प्रजा का हित, राष्ट्र की रक्षा, धर्म का पालन और शत्रुओं के नाश का भाव व्यक्त होता था।[16] यदि इसकी तुलना हम वर्तमान सन्दर्भ में करें तो राष्ट्रों के नायक जिस शपथ को ग्रहण करते हैं, उनमें लगभग यही भाव होते हैं। वैदिक युग में संवैधानिक कर्त्तव्यों को ही धर्म कहा जाता था।[17] वर्तमान शासक भी संविधान की रक्षा का वचन देते हैं।

राज्याभिषेक की परम्परा कुछ अंशों में ब्राह्मणग्रन्थों के काल में और सर्वांश में कल्प साहित्य में यज्ञीय अनुष्ठानों से संयुक्त हो गई तथा राज्याभिषेक के समय विस्तृत यज्ञ किये जाने लगे। राज्याभिषेक के बाद अपने राज्य को बढ़ाने के लिए और दिग्विजय के लिए भी अश्वमेध यज्ञ करने की परम्परा शुरू हुई, जिसके माध्यम से राष्ट्र की समृद्धि, राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्ररक्षा के महत्त्वाकांक्षी अभियान चलाये जाते थे। इस अभियान में जो बाधक बनता था, उसको सशस्त्र सेनाएँ नष्ट कर देती थीं। चक्रवर्ती सम्राट् समय-समय पर अपने प्रभाव को अक्षुण बनाये रखने के लिए ऐसे यज्ञों का आयोजन करते रहते थे। अश्वमेध के अश्व को सर्वत्र घुमाया जाता था। जो उस अश्व को रोक लेता था तो यह माना जाता था कि यह अश्व के शासक राजा का प्रभाव नहीं मानता है। अश्व की रक्षक सेनाएँ उससे युद्ध करती थीं, उसको परास्त करके उससे

13 देखिए इसी प्रकरण में ऐन्द्रमहाभिषेक।

14 द्र0 ऐत0 ब्रा0 39 अध्याय

15 इस विषय के युक्तियुक्त विवेचन के लिए देखिए श्रौतयज्ञमीमांसा लेखक पं. युधिष्ठिर मीमांसक तथा पशुयज्ञमीमांसा लेखिका डॉ. श्रीमती कृष्णा आचार्य।

16 यां च रात्रिमजायेहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येरमिति।। ऐत0 ब्रा0 39.1

17 श्रेयोरूपं अत्यसृजत् धर्मम्। तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम् यद्धर्मः तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयां समाशंसते धर्मेण। शत0 ब्रा0 14.1.2.26

कर ग्रहण करती थीं। यदि सेनाएँ अश्व को मुक्त कराने में असमर्थ रहती थीं, तो उस राजा का यज्ञ विफल हो जाता था और उसको पापी माना जाता था। उसको पुनः अश्वमेध यज्ञ करके अश्व को भेजना होता था। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता था तो अनुमान किया जा सकता है कि उसको राजपद से हटा दिया जाता होगा।

राजसूय यज्ञः-राजा के अभिषेक के समय किया जाता था। इस यज्ञ के माध्यम से राजा प्रमुख राजकर्मचारियों और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की अनुमति प्राप्त करता था। देश की विभिन्न नदियों, समुद्रों, तालाब और कुओं का जल एकत्रित करके स्नान करता था, जिसका भाव था कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र को समान महत्त्व देता है, छोटे बड़े, ऊँच-नीच में कोई भेद भाव नहीं रखता है।

वाजपेय यज्ञः-जब राजा सम्राट् पद को प्राप्त करके अभिषेक करता था तब इस यज्ञ का आयोजन किया जाता था। इस अवसर पर अश्वसेना को विशेष रूप से तैय्यार किया जाता था। अश्वों की 'आजिधावन' नामक वैदिक काल की सुप्रसिद्ध दौड़ होती थी।

इन प्रमुख यज्ञों के अतिरिक्त सर्वमेध, पुरुषमेध, गोसव, राट्, विघन आदि अनेक यज्ञों का अनुष्ठान राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त किया जाता था। राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ सोमयागों की श्रेणी में हैं। इन यज्ञों में सोम लता का रस मुख्य रूप से यज्ञीय द्रव्यों में सम्मिलित किया जाता है, इसी कारण इन्हें सोमयज्ञ कहा जाता है।[18]

अश्वमेध पर आधारित पुरुषमेध और सर्वमेध भी मुख्य यज्ञ हैं। इनका विवेचन तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण[19] में हुआ है। सोमयाग के अन्तर्गत कुछ एकाह, अहीन और काम्य इष्टियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनका अनुष्ठान राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता था। इन सभी यज्ञों का संक्षिप्त विवेचन विदर्शन रूप से यहाँ किया जा रहा है। विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की पुस्तक वेद कालीन राज्याभिषेक एवं 'रातनैतिक यज्ञ' देखिए।

ऐन्द्र महाभिषेक

राज्याभिषेक के प्रसंग में प्राचीन इतिहास देवताओं के राज्याभिषेक का मिलता है, इसी का अनुसरण करके परवर्ती राजाओं ने राज्याभिषेक की परम्परा प्रारम्भ की।

ऐतरेय-ब्राह्मण में उल्लेख है कि एक बार देवों में इस बात पर विवाद हो गया कि राज्यपद के लिए किसका राज्याभिषेक लिया जाये? तब उन्होंने इसके लिए योग्यता निर्धारक कुछ सिद्धान्त बनाये, उन सिद्धान्तों की कसौटी पर इन्द्र को 'योग्य' पाया गया, तब उन्होंने मिलकर कहा कि हमारे मध्य में इन्द्र अत्यन्त तेजस्वी अर्थात् शरीर के आठवीं धातु से युक्त है, अत्यन्त शारीरिक बल से युक्त है, शत्रु की पराजय करने में समर्थ है, अपने भक्तों के लिए अत्यन्त साधु पुरुष है। आरम्भ किये हुए कार्य को सफलतापूर्वक पार लगाने वाला है। इसलिए

18 देखिए इसी पुस्तक का सोम रस विवेचन
19 तैति० ब्रा० 3.4, शत० ब्रा० 13.6

हम इन्द्र का ही अभिषेक करें।[20] इस पर सब देवों ने अपनी सहमति व्यक्त की और इन्द्र के राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हुई।

सिंहासन

इन्द्र के लिए ऋचाओं से दिव्य सिंहासन बनाया गया। उस ऋचा रूप सिंहासन के दो आगे के पाये बृहत् और रथन्तर नामक साम के बनाये गये और दो पीछे के पाये वैरूप और वैराज नामक साम के बनाये गये। सिंहासन के पीठ का शिर टिकाने का भाग शक्वर और रैवत नामक साम के बनाये गये। उसकी दोनों भुजायें नौधस और कालेय नामक साम के बनाये गये। उसका ताना (लम्बाई में जाने वाला धागा) ऋचाओं का और उसका बाना साम का, उसके अतिकांश अर्थात् बुनाई के समय दिखाई देने वाले छिद्र यजुष् के बनाये गए। इस सिंहासन पर यश रूपी बिछौना बिछाया गया। इसका तकिया श्री अर्थात् समृद्धि का बनाया गया। सविता और बृहस्पति ने इस सिंहासन के अगले पाँवों को पकड़ा। वायु और पूषा देवों ने पिछले पावों को पकड़ा मित्र और वरुण देवों नें शीर्ष भाग को तथा अश्विनों ने दोनों बगल की भुजाओं को पकड़ा।

तस्मा एतामासन्दीं समभरन्नृचं नाम

तस्यै बृहच्च रथंतरं च..................स एतामासन्दीमारोहत् इति।[२१]

इस प्रकार आठ देवों ने, आठ स्थानों को सहारा दिया और आठ सामों से आगे पीछे के पैर आदि बनाये गए।

इन्द्र का सिंहासन पर आरोहण

इस सिंहासन पर आरोहण करते समय इन्द्र ने छः देवताओं, छः छन्दों, छः स्तोमों का स्मरण करके सिंहासन पर आरूढ़ होने की कामना की, जो निम्नलिखित है[22]-

1. हे सिंहसन। वसु देवता, तुम्हारे ऊपर गायत्री छन्द, त्रिवृत स्तोम और रथन्तर साम से आरोहण करें। इसके बाद मैं धर्मपूर्वक प्रजा के पालन के लिए आरोहण करता हूँ।

2. रुद्र देवगण, तुम पर त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम और बृहत् साम से आरोहण करें। इनके बाद मैं भोग समृद्धि के लिए आरोहण करता हूँ।

3. आदित्यगण, तुम्हारे ऊपर जगती छन्द, सप्तदश स्तोम और वैरूप साम के साथ आरोहण करें। इसके बाद मैं अपराधीनत्व के लिए आरोहण करता हूँ।

20 ते देवा अब्रुवन् स प्रजापतिका-अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति। तथेति। तद्वै तदिन्द्रमेव, इति। ऐतरेय ब्रा0 38.1

21 ऐत0 38.1;

22 ऐत0 ब्रा0 38

4. विश्वदेव, तुम पर अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम और वैराज साम के साथ आरोहण करें। उनके पश्चात् मैं अन्य राजाओं पर प्रभुसत्ता के लिए आरोहण करता हूँ।

5. साध्य और आप्त्य देवगण, तुम पर पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम और शाक्वर साम के साथ आरोहण करें। इनके बाद मैं देश पर आधिपत्य के लिए आरोहण करता हूँ।

6. मरुद्गण और अङ्गिरस, अतिछन्द नामक छन्द से त्रयस्त्रिंश स्तोम और रैवत साम के साथ आरोहण करें। उनके पश्चात् मैं मुक्ति प्राप्ति के लिए (प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए) महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता के लिए और चिरकाल तक इस लोक में निवास के लिए आरोहण करता हूँ।

देवताओं द्वारा इन्द्र की प्रशंसा

इन्द्र के सिंहासन पर बैठने के बाद देवताओं ने विचार किया कि इन्द्र की कीर्ति को चारों ओर फैलाया जाए, क्योंकि विना कीर्ति गाये इन्द्र पराक्रम करने के योग्य नहीं हो सकते, इसलिए हम इन्द्र के गुणों का कीर्तन करें।[23] भाव यह है कि राजा का यश जितना अधिक होगा, शत्रु उससे उतने ही अधिक भयभीत रहेंगे तथा प्रजा उसके शासन को सुचारु रूप से मानेगी। इससे राजा प्रभावशाली ढंग से शासन चलाने में समर्थ रहेगा। यही सोचकर देवों ने इन्द्र की प्रशंसा निम्नलिखित रूप से करके सर्वत्र फैलायी-

यह इन्द्र सम्राट् स्वरूप और साम्राज्य करने के योग्य है, यह भोज नामक शासन प्रणाली को चलाने वाला भोज है और भावी भोज का पिता है, यह स्वराज्य शासन प्रणाली के अध्यक्ष स्वराट् के समान है, वैराज्य नामक शासन प्रणाली के अध्यक्ष विराट् के समान है, राज्य शासन प्रणाली का अध्यक्ष और राजाओं का पालक है, परमेष्ठिस्वरूप अर्थात् ईश्वर के समान है, इस प्रकार की क्षत्रिय जाति लोक में उत्पन्न हुई है, यह क्षत्रिय पुरुष उत्पन्न हुआ है। प्राणिमात्र का अधिपति उत्पन्न हुआ है। प्रजाओं से कर लेने वाला उत्पन्न हुआ है, शत्रुओं के पुरों को नष्ट करने वाला उत्पन्न हुआ है, असुरों का घातक उत्पन्न हुआ है, वेदों का रक्षक उत्पन्न हुआ है, धर्म का रक्षक उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार देवों ने इन्द्र के गुणों की प्रशंसा की। इन गुणों के माध्यम से राजा के कर्त्तव्यों का भी निर्देश कर दिया गया कि उसको अपना शासन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही चलाना है।

प्रजापति द्वारा अभिमन्त्रण

इसके बाद सिंहासन पर बैठे हुए इन्द्र का निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रण किया गया कि व्रत धारण करने वाले सभी के अनिष्ट का निवारण करने वाले इन्द्र, साम्राज्य के लिए,

23 तमेतस्यामासन्धामासीनं विश्वे देवा अब्रुतन्नवा अनभ्युत्क्रुष्ट इन्द्रो वीर्यं कर्त्तुमर्हत्यभ्येनमुत्क्रोशामेति तथेति तं विश्वे देवा अभ्युद क्रोशन्निमं देवा अभ्युत्क्रोशत सम्राजं साम्राज्यं .... एते0 ब्रा0 38।

भोज्य के लिए, स्वाराज्य के लिए, वैराज्य के लिए, परलोक में प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए, राज्य के लिए, महान् ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता और चिरकाल तक इस लोक में निवास के लिए, शुभ संकल्प सहित इस सिंहासन पर विराजमान रहे।[24] परवर्ती काल में राज्याभिषेक के समय सिंहासन पर आरोहण के लिए इसी मन्त्र का प्रयोग किया गया।[25]

अभिषेक

सिंहासन पर बैठे हुए इन्द्र का अभिषेक प्रजापति ने किया। प्रजापति इन्द्र के सामने पश्चिम की ओर मुख करके खड़ा हो गया और उदुम्बर की पत्तेदार गीली शाखा में स्वर्ण की बनी हुई पवित्रा (छलनी) को बाँध कर, उनको जल में डुबो कर तीन ऋचा,[26] एक यजुष्[27] और व्याहृतियों[28] का पाठ करके अभिषेक किया।

दिशा के अधिपतियों द्वारा इन्द्र का अभिषेक

इस प्रकार प्रजापति द्वारा अभिषेक सम्पन्न होने के बाद समस्त दिशाओं में विद्यमान देवों ने इन्द्र का अभिषेक किया।[29] पूर्व दिशा में आठ वसु देवों ने इकत्तीस दिनों में साम्राज्य पद के लिए इन्द्र का अभिषेक उपर्युक्त विधि और मन्त्रों से किया।

दक्षिण दिशा में रुद्र देवों ने 'भौज्य' के लिए, पश्चिम दिशा में आदित्यदेवों ने स्वाराज के लिए उत्तर दिशा में विश्वेदेवों ने 'वैराज्य' के लिए ध्रुव और प्रतिष्ठित मध्य दिशा में साध्य और आप्त्य देवों ने 'राज्य' के लिए, ऊर्ध्व दिशा में मरुतों और अङ्गिरसों ने उपर्युक्त विधि से 31 दिनों में प्रजापति के लोक की प्राप्ति के लिए, महान् ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपरतन्त्रता और चिरकाल तक इस लोक में वास के लिए इन्द्र का अभिषेक किया, इस प्रकार अभिषेक के बाद इन्द्र परम पद में अवस्थित होकर प्रजापति के समान हो गया।

24 ऐत० ब्रा० 38.2 निषसाद् धृतव्रतो वरुण: पस्त्यास्वा। साम्राज्याय, भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाऽधिपत्याय स्वावश्यायाऽऽतिष्ठ्याय, सुक्रतुरिति।। इति।।

25 शत० ब्रा० 5.4.1.5, तैत्ति० ब्रा० 2.6.5.

26 (क) इमा आप: शिवतमा इमा: सर्वस्य भेषजी:। इमा राष्ट्रस्य वर्धनीरिमा राष्ट्रभृतो मृता:।। (ख) याभिरिन्द्रमभ्यषिञ्चत् प्रजापति: सोमं राजानं वरुणं यमं मनुम्। ताभिरभिषिञ्चामि त्वामहं राज्ञां त्वमधिराजो भवेह। (ग) महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्। देवी जनित्र्यजीजनद् भद्राजनित्र्यजीजनत्। ऐत० ब्रा० 37.3

27 देवस्य त्वा सवितु: प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेणाभिषिञ्चामि बलाय श्रियै यशसेऽन्नाद्याय। ऐत० ब्रा० 37.3

28 भूर्भुव: स्व:। ऐत० ब्रा० 38.2

29 अथैनं प्राच्यां दिशि वसवो देवा:............ साम्राज्य......... दक्षिणस्यां दिशि........ भौज्याय ......प्रतीच्यां दिशि ... .स्वाराज्याय ....उदीच्यां दिशि ....वैराज्याय ....ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि राज्याय .... ऐत ब्रा० 38.3.

अभिषेक के बाद इन्द्र का वर्चस्व

इस प्रकार अभिषिक्त इन्द्र बहुत अधिक ओजस्वी हो गया। उसने जीतने योग्य सभी संग्रामों की जीत लिया, सभी लोकों को जीत कर प्राप्त कर लिया, सभी में श्रेष्ठ होकर गुणातीत हो गया। इस लोक में साम्राज्य को, भोग समृद्धि को, स्वाराज्य को, वैराज्य को, प्रजापति के लोक को, राज्य को, महान् ऐश्वर्य को और आधिपत्य को प्राप्त करके प्रजापति रूप, स्वतन्त्र राजा तथा अन्य मनुष्यों के समान अल्पकाल में मरण रहित होकर सभी कामनाओं को प्राप्त करके अमर हो गया।[30]

ऐन्द्र महाभिषेक का निहितार्थ

इस इन्द्र के अभिषेक से निम्न भाव प्रकट होते हैं:-

(1) राष्ट्र की सुरक्षा, समृद्धि, शान्ति के लिए राजा का होना आवश्यक है।

(2) राजा में सामान्य जनों की अपेक्षा अतिशय गुण होने चाहिए, जिससे सब उसका प्रभाव व भय मानकर अनुशासित रहें।

(3) राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने में समर्थ और उनको हराकर परास्त करने वाला हो। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि इस समय सेनापति को ही राजा बनाया जाता था। क्योंकि इन्द्र देवों का सेनापति था। उसने ही युद्ध में असुरों को परास्त करके पुरन्दर, पुरभित् वृत्रहन् आदि विशेषण प्राप्त किए थे। इसी कारण देवों ने उसका राज्याभिषेक किया था।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस काल में सेनापति और राजा का पद एक ही होता था। परन्तु बाद में सेनापति और राजा का पद अलग-अलग होने लगा था। सेनापति राजा के मन्त्रिमण्डल का महत्त्वपूर्ण सदस्य बताया गया है,[31]

(4) राज्य अभिषेक के समय राजा को सबसे ऊँचा आसन दिया जाता था।

(5) राजा ईश्वरभक्त होता था, जो सिंहासन पर बैठते समय ईश्वर और दिव्य शक्तियों का स्मरण करता था।

(6) राजकर्मचारी अथवा राज के लोग राजा के यश को चारों दिशाओं में प्रचारित करते थे, जिससे उसका प्रभाव सब मानने लगें। राज्याभिषेक के बाद देश की समस्त प्रजा उसका अभिनन्दन करती थी, जो राज्याभिषेक का ही अङ्ग माना जाता था।

(7) अभिषिक्त राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने विरोधी समस्त शत्रुओं को जीतकर अपने साम्राज्य और प्रभाव का विस्तार करे।

(8) राजा प्रजा से कर लेता था।

30 स एतेन महाभिषेकेणाभिषिक्त इन्द्रः सर्वा जितीरजयत् सर्वांल्लोकानविन्दत्सर्वेषाँ देवानां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतामगच्छत्-ऐत० ब्रा० 38/3

31 ब्राह्मणग्रन्थों के राजनैतिक सिद्धान्त मन्त्रिमण्डल नामक अध्याय-डॉ० बलबीर आचार्य

(9) राजा वेद की रक्षा करता था।

(10) इन्द्र का अभिषेक परवर्ती काल में सम्पन्न किए जाने वाले राज्याभिषेकों का प्रेरणास्रोत बना।

(11) राज्याभिषेक 31 दिनों में सम्पन्न किया जाता था।

राजाओं का अभिषेक

इन्द्र के इस अभिषेक से प्रेरणा लेकर परवर्ती काल में राजाओं ने अभिषेक कराना प्रारम्भ किया। ऐतरेय-ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो पुरोहित यह इच्छा करे कि-यह क्षत्रिय संग्रामों में विजयी हो जाए, सभी राजाओं में श्रेष्ठ हो जाए, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि समस्त शासन प्रणालियों को प्राप्त करके समस्त भूमि का एक मात्र स्वामी (सम्राट्) होकर अनन्त काल तक जीवित रहे, उसका इन्द्र के अभिषेक के समान अभिषेक कराये।[32]

राजा द्वारा शपथ ग्रहण

इस काल में पुरोहित अभिषेक कराते समय राजा से वचन लेता था कि- यदि अभिषेक के बाद शक्ति पर अधिकार प्राप्त करके तुम मेरे से द्रोह करोगे तो जिस रात्रि को तुम पैदा हुए हो, उससे लेकर मृत्यु तक जो कुछ भी तुम पुण्य करोगे उस सबके सहित मैं तुम्हारी आयु और पुत्र-पौत्र आदि को छीन लूँगा।[33] राजा को पुरोहित के सामने यह शपथ लेनी होती थी कि यदि मैने अभिषेक के बाद तुमसे द्रोह किया तो तुम मेरे जीवन पर्यन्त अर्जित किये हुए पुण्यों सहित मेरी आयु और परिवार को छीन लेना। इस प्रकार लौकिक राजाओं के अभिषेक की परम्परा शुरू हुई।

अभिषेक का स्वरूप

प्रारम्भिक युग में अभिषेक का स्वरूप सरल एवं जटिल यज्ञीय प्रक्रियाओं से रहित था। इस समय उस सम्पूर्ण याज्ञिक प्रक्रिया का अभाव था, जो परवर्ती काल में राजसूय वाजपेय, अश्वमेध यज्ञों के माध्यम से विकसित हुयी थी, जिसमें बाह्य आडम्बर बहुत अधिक था।

यज्ञ में भी वर्षों का समय लग जाता था। इस काल में राज्याभिषेक का वही स्वरूप था, जो इन्द्र के अभिषेक में वर्णित हुआ है। मात्र एक दो विधियों और अभिषेक की कुछ सामग्रियों में परिवर्तन का ही उल्लेख है।

32 स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियमयं सर्वाजितिजयेतायं सर्वांल्लोकान् विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परतां गच्छेत् साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सर्वायुषः आऽन्तादा परार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत् इति। ऐत० ब्रा० 39.1.

33 ऐत० ब्रा० 39.1 यां च रात्रीमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि मे द्रुह्येयमिति।

अभिषेक की सामग्री

(क) निम्नलिखित चार वनस्पतियों के फल होते थेः बरगद (न्यग्रोध), गूलर (उदुम्बर), पीपल (अश्वत्थ) और पलाश (प्लक्ष)। ये चारों फल क्रमशः क्षत्रियत्व, समृद्धि, साम्राज्य, स्वाराज्य और वैराज्य के प्रतिनिधि माने गए हैं।[34]

(ख) निम्नलिखित चार प्रकार के अंकुर भी अभिषेक की सामग्री में लिए जाते थे। छोटे चावल के अंकुर, बड़े चावल के अंकुर, प्रियंगू (माल कंगनी के अंकुर) और जौ के अंकुर। ये चारों अंकुर क्रमशः क्षत्रियत्व, साम्राज्य, भौज्य और सेनापति के प्रतीकात्मक अर्थ के द्योतक हैं। जौ का अंकुर सेनापति के गुणों का प्रतिपादक है। कामना की गई है कि जौ के अँकुर से राजा में सेनापति के गुणों का समावेश होगा।[35] इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में राजा ही सेनापति के रूप में सेना का संचालन करता था।

(ग) सिंहासन

सिंहासन को 'आसन्दी' कहा जाता था। यह गूलर (उदुम्बर) की लकड़ी से बनाया जाता था।[36] इसके चार पाद (पाये) होते थे। जिनकी लम्बाई एक 'प्रादेश' होती थी।[37] सिंहासन के ऊपर तिरछी लकड़ी लगी हाती थी, इनकी लम्बाई एक अरत्नि लगभग 24 अंगुल होती थी।[38] इसे मूञ्ज की रस्सी से बनाकर उनपर व्याघ्रचर्म, कृष्णमृग चर्म, अथवा सुन्दर वस्त्र बिछाते थे।[39]

(घ) अन्य सामग्री

इसके अतिरिक्त उदुम्बर का चौकोरपात्र, चम्मच और एक शाखा, दही, मधु, घी, धूप में बरसने वाला पानी (यह पानी जमीन में गिरने से पहले ही लिया जाता था।)

राजा का सिंहासन पर आरोहण

लौकिक राजा भी इन्द्र के समान ही वसु आदि देवों से प्रार्थना करके सिंहासन पर आसीन होता था। इसका विवेचन इन्द्र के महाभिषेक में देखें।

34 ऐत० ब्रा० 39.2

35 सैनान्यं वा ऐतदोषधीनां यद्यवाः, यद्यवानां तोक्म सम्भरन्ति सैनान्यमेवास्मिस्तद्दधाति। ऐत ब्रा० 39.2

36 तैति० ब्रा० 1.2.6.5, शत० ब्रा० 5.1.6.22-23, 3.3.1.26-27, ता० 5.5, ऐत० ब्रा० 39.3

37 प्रादेश = अँगूठे और तर्जनी के बीच का स्थान संस्कृत हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे।

38 का० श्रौ० सू०-7.248

39 शत० 3.3.1.29, 5.4.1.3, तै० ब्रा० 1.26.5

राज्य के प्रमुखों द्वारा राजा की प्रशंसा:

जिस प्रकार इन्द्र की प्रशंसा देवों ने की थी, उसी प्रकार राजप्रमुख राजा की प्रशंसा करते थे। इनको राजकर्त्तार कहा गया है।[40] इस प्रशंसा में सभी सामान्य जन साथ देते थे और वे सभी गुण जो इन्द्र की प्रशंसा में कहे गये थे, राजा की प्रशंसा में भी कहे जाते हैं, लेकिन बाद के कुछ वर्णनों में परिवर्तन करते हुए कहा गया है कि

(क) यह शत्रुओं का नाश करने वाला है।

(ख) ब्राह्मणों का रक्षक है।

(ग) धर्म का रक्षक है। (यहाँ धर्म का अर्थ विधि/विधान है)। इनके स्थान पर इन्द्र को अभिषेक में असुर हन्ता और वेद का रक्षक बताया गया था।

पुरोहित द्वारा राजा का अभिमन्त्रण

पुरोहित (निषसाद धृतव्रतो) ....।[41] इस मन्त्र से राजा का अभिमन्त्रण उसी प्रकार करता है, जैसे इन्द्र का प्रजापति ने किया था।

अभिषेक

पुरोहित राजा के सामने खड़ा होकर पश्चिम की ओर मुख करके उदुम्बर की पत्ते सहित गीली शाखा को सोने की बनी पवित्र (छालनी) से लपेटकर **'इमा आपः शिवतमा'** इन तीन ऋचाओं से **'देवस्य त्वा सवितः'** इस यजुष् से **'भूर्भुवः स्वः'** इन तीन व्याहृतियों से[42] राजा का अभिषेक ऊपर वर्णित सामग्री के द्वारा करता है। अभिषेक के बाद पुरोहित निम्न प्रकार प्रार्थना करता है:-

हे राजन्! पूर्व दिशा में वसु नामक देव इसी प्रकार तुम्हारा अभिषेक 31 दिनों में करें। दक्षिण दिशा में रुद्र नामक देव, पश्चिम दिशा में आदित्य नामक देव, उत्तर दिशा में विश्वे देवाः, ऊपर की दिशा में मरुत् और अंगिरस् देव मध्य की दिशा साध्य और आप्त्य नामक देव इन्हीं ऋचाओं, इसी यजुष् और इन्हीं व्याहृतियों से राज्य के लिए ऐश्वर्य के लिए, आधिपत्य के लिए, अपराधिनत्व और चिरकाल तक इस लोक में वास के लिए तुम्हारा अभिषेक करें।[43] इस प्रकार अभिषिक्त राजा दिव्य गुणों से युक्त होकर देवी अंश प्रजापति का सम्बन्धी हो जाता है।

40 ऐब0 ब्रा0 39.3-तमेतस्यामासन्द्यामासीनं राजकर्तारो ब्रयुर्नवा.................।

41 ऐत0 ब्रा0 31.4

42 इन मन्त्रों और व्याहृतियों की व्याख्या इन्द्र के महाभिषेक में की जा चुकी है।

43 ऐत0 ब्रा0 39.5

अभिषेकोत्तर कर्म

अभिषेक के बाद राजा को अपने समस्त शत्रुओं को जीतकर अपने साम्राज्य और अपने प्रभाव को स्थापित करना होता था।[44]

दक्षिणा

अभिषेक के बाद राजा पुरोहित को स्वर्ण, एक हजार निष्क (स्वर्ण मुद्राएँ) भूमि, पशु आदि अपरिमित दान देता था।[45] इसके बाद पुरोहित महाराजा को सुरा का प्याला देता था और मन्त्रपूर्वक उसको पिलाता था। यहाँ विचारणीय है कि मन्त्र सोम विषयक पढ़ा गया है और अन्त में कहा गया है कि सुरा में प्रविष्ट सोम का पान ही राजा ने किया है, क्योंकि महाभिषेक इन्द्र के समान हुआ है, अतः वह सोमपान का ही अधिकारी है, सुरापान का नहीं।[46] इसके बाद अभिषेक विधि सम्पूर्ण हो जाती है।

महाभिषेक में प्रतिपादित तथ्यः

(क) महाभिषेक के बाद क्षत्रिय एकराट् -समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एक मात्र स्वामी हो जाता था।

(ख) इन्द्र के अभिषेक में जिन तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है, वे सब तथ्य इस अभिषेक में भी प्रतिपादित हुए हैं। इनके अतिरिक्त राजा ब्राह्मण को वचन देता था कि मैं तुम्हारे से कभी द्रोह नहीं करुँगा और श्रद्धा पूर्वक तुम्हारे विचार को सम्मान दूँगा। यदि कभी मैने तुम्हारी सम्मति का उल्लंघन किया अथवा तुम्हारा अपमान किया तो तुम मेरा छीनकर मुझे नष्ट कर देना। इस प्रकार की प्रतिज्ञा इन्द्र ने प्रजापति के सामने नहीं की थी।

(ग) राजा को शत्रुओं का नाश करने के लिए सन्नद्ध रहना होता था।

(घ) राजा ही सेनापति के रूप में सेना का संचालक होता था।

(ङ) राजा का कर्त्तव्य था कि ब्राह्मण की सब प्रकार से रक्षा करे।

(च) यह अभिषेक 31 दिनों में सम्पन्न होता था।

44 ऐत0ब्रा0 39.5

45 ऐत ब्रा0 39.6

46 यो वाव सोमपीथं सुरायां प्रविष्टः .... न सुरा ऐत0 ब्रा0 39.6

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ074-80)

वैदिक पञ्चकोश-एक विवेचन

डॉ0 कृष्णा आचार्य
संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

वैदिक युग में दो प्रकार का विज्ञान विकसित था, भौतिक और आध्यात्मिक। जहाँ भौतिक विज्ञान अपनी चरम सीमा पर विकास कर रहा था, उसके साथ ही आध्यात्मिक विज्ञान के सूक्ष्मतत्त्वों का विवेचन किया गया था। इसी भौतिक और आध्यात्मिक समन्वय के कारण भारत को विश्वगुरु कहा जाता था। यह अद्भुत खोज भी वैदिक ऋषियों ने ही की थी कि एक मनुष्य के पास पाँच प्रकार के शरीर होते हैं, जिनको समझे विना न तो वास्तविक भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है और नहीं मुक्ति। इन्हीं को पञ्चकोश नाम से उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया है। ये हैं-(1) अन्नमयकोश (2) प्राणमयकोश (3) मनोमयकोश (4) विज्ञानमयकोश (5) और आनन्दमयकोश।[1] इन पाँच कोशों का वर्णन निम्नलिखित है।

अन्नमयकोश

अन्नमयकोश से अभिप्राय स्थूल शरीर से है, जो अन्न से बनता है। पाँच भौतिक तत्त्वों से निर्मित होने के कारण इसे पञ्चभौतिक शरीर भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। अन्नमयकोश के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन वेदों में विशदरूप से वर्णित है। जीवात्मा शरीररूपी जंगल में निज विभुशक्ति के कारण खेलता है। ये सभी इन्द्रियाँ आत्मा की शोभा बढ़ाती हैं तथा इसके ज्ञान और कर्म में सहायक होती हैं।[2] ऋग्वेद में कहा गया है कि जो भोज्यपदार्थों के सौम्यरस से सभी इन्द्रियों को सात्त्विक बनाता है उसका शरीर और मन उन्हीं गुणों से युक्त होता है। अन्नमय कोश को सशक्त बनाने वाला तथा योगसाधना का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य परम तथा सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के आनन्द को प्राप्त कर सकता है।[3] योगसाधना रूपी तप से अन्नमय कोश सुदृढ़ हो जाता है तथा इसमें सब प्रकार की कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति आ जाती है।[4] तत्त्वज्ञान के लिये योग करना अत्यावश्यक है। योगसाधना करने से ऋतम्भरा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।[5] महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में योग चित्तवृत्तियों का निरोध

1 तैत्ति0 उप0 ब्रह्मानन्द वल्ली द्वितीय अनुवाक
2 यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश। वने क्रीळन्तमत्यविम्।। ऋ09/6/5
3 अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत। ऋ0 9/83/1
4 ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। अथर्व-11/5/4
5 ऋतम्भरा तत्रप्रज्ञा। योग 1/48

करना ही है।[6] अतः अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र में स्पष्ट किया है कि पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा वीर्यशक्ति से स्थूल शरीर का निर्माण होता है।[7] ये सब अन्न पर ही आश्रित हैं। अन्न खाने से शरीरावयव अन्नमय कहलाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगुवल्ली के प्रारम्भ में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म जानने का साधन बताया है–अन्नं ब्रह्मेति अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।[8] तात्पर्य है कि पञ्चमहाभूतों का श्रेष्ठतम अंश अन्न ही है। इसीलिए अन्न को सर्वौषध कहा है। क्योंकि औषधियों का सार अन्न में ही है। अन्न से निर्मित होने के कारण स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा जाता है।

प्राणमयकोश

प्राणशब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से अच् या 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसीलिए इसका अर्थ है-श्वास, आयु, जीवनशक्ति तथा जीवन का मूलतत्त्वादि। बृहदारण्यकोपनिषद् का वचन है कि **'प्राणौ वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते'** अर्थात् प्राणतत्त्व ही यजुः है, क्योंकि ये सभी भूतगण (प्राणिवर्ग) प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं। पञ्चभौतिक शरीर पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में प्राणतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। जब तक प्राण प्रतिष्ठित हैं, सबकी प्रतिष्ठा है। प्राणों के दश भेद हैं-पाँच प्रधान एवं पाँच गौण। (1) प्राण (2) अपान (3) व्यान (4) समान (5) उदान ये पाँच प्रधान प्राण हैं। (1) नाग (2) कूर्म (3) कृकल (4) देवदत्त और (5) धनञ्जय ये पाँच गौण प्राण हैं।

वेदों में प्राणों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में प्राण शब्द को विभक्तियों से युक्त करके नौ बार प्रयोग किया गया है।[9] यजुर्वेद में उनंचास बार इस का प्रयोग दिखाया है।[10] तथा सामवेद और अथर्ववेद में एक सौ उन्नीस बार इसका प्रयोग हुआ है।[11] ऋग्वेदीय ऋचा में प्रयुक्त 'रुद्राः' पद से एकादश प्राणों का उल्लेख किया गया है।[12]

---

6 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।। योगदर्शन।।

7 अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। या काश्च पृथिवींश्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली-द्वितीय-अनुवाक।

8 तैत्तिरीय भृगुवल्ली-अनुवाक 1/6

9 ऋग0 पद-पृ0 = 44/16

10 यजु0 पद-पृ0 = 67

11 साम0 पद-पृ0 = 64

12 आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा। ऋ0 3/8/8

प्राणोत्सर्ग के बाद सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ पञ्चभौतिक शरीर यहाँ तक कि मन, वाक् तथा सूक्ष्मशरीर का भी पतन हो जाता है।[13] छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका के माध्यम से प्राणों का महत्त्व बताया गया है। सभी इन्द्रियों में स्पर्धा हुयी कि हममें सब से श्रेष्ठ कौन है? परिणामस्वरूप क्रमशः एक-एक करके सभी इन्द्रियाँ शरीर से निकल गयीं, किन्तु शरीर अपना कार्य करता रहा, परन्तु जब प्राण शरीर छोड़कर बाहर जाने लगे तो सभी इन्द्रियों की शक्ति निष्क्रिय होने लगी तब सभी ने प्राणों की महत्ता को स्वीकार किया। इससे सिद्ध होता है कि सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियों की क्रियाशीलता प्राण पर आधारित है। प्राण के विना सभी इन्द्रियाँ निरर्थक हैं। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के आयुष्कारक होने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है।[14] सब कुछ प्राणाधीन है। प्राण ही देवार्पित द्रव्य देवों तक पहुँचाता है। पितरों की स्वधा प्राणाश्रित है। प्राण यजुः है क्योंकि सभी भूत प्राण में सम्यक् रीति से रहते हैं इसीलिए प्राण को राजा कहा गया है। प्राण ऊर्जा की ऐसी परम्परा है जिसमें निश्चेतना से चेताना और संक्रमण सम्पन्न किया जाता है। प्राण ऊर्जा का मध्यवर्ती वीर्य है जो कि जड़तत्त्व में अन्तर्निहित या निमज्जित हैं। वहाँ से अपनी निजी शक्ति द्वारा अन्तिम रूप से उन्मुक्त होकर अपनी सक्रियता की समस्त संभावना में पहुँच जाता है।

प्राणमयकोश के कार्य

प्राण का नाम	स्थूल शरीर में स्थान	प्रण का कार्य	वर्ण
1. प्राण	मुख से हृदय तक	भूख-प्यास लगाना, रुधिर को लाल बनाये रखना, रक्तसंचार	नील
2. समान	हृदय से नाभि तक	मस्तिष्क को पुष्ट करना आमाशय, यकृत् अग्न्याशय और लघु आन्त्र के रसों का स्राव	शुक्ल
3. अपान	नाभि से पैरों तक	कटि से तक अङ्गों को गति देना	पीत
4. उदान	कण्ठ-प्रदेश शीर्ष तक	शरीर को उठाये रखना से वमन को बाहर फेंकना	नील मिश्रित हरित
5. व्यान	सम्पूर्ण शरीर	स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाना रक्तसंचार एवं सभी उपप्राणों के कार्य में सहयोग देना।	आसमानी
6. देवदत्त	नसिका	छींक लाना	पीतबहुल

13 छान्दोग्योपनिषद् = 5/1/7

14 प्राणा वै अमृता तै0 आ0 5/9/10

7. कृकल	कण्ठ	क्षुधातृषा उत्पादक	धवल
8. कूर्म	नेत्रों केपलकों में	निमेष-उन्मेष भूख-प्यास	नारंगी
9. नाग	मुख	थ्हचकी लेना	नील मिश्रित हरित
10. धनञ्जय	समस्त शरीर	तत्त्वों सहित सूक्ष्मशरीर को गर्भ में पहुँचाना	आसमानी

मनोमय कोश

संस्कृत व्याकरण में 'मन' धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होती है। अत: मन ब्रह्म स्वरूप है। मन से ही सभी प्राणी जीवित रहते हैं, मन में ही विलीन हो जाते हैं।[15] मनुष्य पहले मन से सोचता है। फिर 'मन' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है–**स यो मनो ब्रह्मेत्युपासते यावन्मनसोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो मनोब्रह्मेत्युपासते।**[16]

ऋषि ने उत्तर दिया मन सबसे बड़ा है। क्योंकि मन संकल्प करता है। मन ही विचार करता है। मन उस संकल्प के बारे में बारम्बार मनन करता है, अत: मन की गति अति तीव्र है।

मनोमयकोश का निर्माण आकाशमण्डल में विद्यमान शक्ति के द्वारा हुआ है। उस शक्ति को मनस्तत्त्व से माना है। अत: मनस्तत्त्व की सम्पूर्ण शक्ति को ही मनोमयकोश कहा गया है। मन के साथ अहंकार वाक्, पाद्, पाणिपायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसके शरीर से ही सम्पादित होता है। लेकिन कार्य करने की प्रेरणा मन से ही मिलती है। इसलिए कहा गया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।'[17] वैसे मनुष्य का स्वभाव और व्यक्तित्व मन से ही होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि **'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय:।'** देवताओं का सहयोग लेकर आत्मा तक जो विषयों को प्रकाशित करता है उस मनस्तत्त्व को देवमन भी माना गया है। इसलिए कहा गया है **मन एव सर्वम्**[18] अत: मन का विश्लेषण गम्भीरता से किया जाता है। हमारे ऋषि मुनियों ने मन के स्वरूप को अच्छी प्रकार से जान लिया है क्योंकि सभी क्रियायें केवल मन की ही प्रेरणा से होती है। देवों का सहयोग लेकर आत्मा तक जो विषयों को प्रकाशित करता है उस मनस्तत्त्व को देवमन भी माना गया है। वैसे मनोमय कोश भी पुरुष के आकार का है। अत: मनोमय का सिर यजु: है तथा दक्षिण भाग ऋत् है और उत्तर भाग साम है धड़ योग है। सारांश है कि प्राणतन्तुओं के द्वारा इन्द्रियों को प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण कराने का कार्य इसी

15 तै0उप0 भृ0 चतुर्थ अनुवाक, मनो ब्रह्मेति व्याजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मन: प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

16 तैत्तिरी-उपनिषद् चतुर्थ अनुवाक (भृगुवल्ली)

17 मुण्डकोपनिषद् (मुक्तिकोपनिषद्)

18 गोपथ ब्राह्मण

मन का है। न्यायदर्शन के अनुसार मन्यते बुध्यतेऽनेनेति तन्मनः की व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान का आन्तरिक साधन मन ही है। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आते हैं उनके तर्क की कसौटी की परख इसी मन से होती है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रमुख साधन मन ही है। युक्ति-प्रमाणों से चिन्तन मनन करते हुए सर्वोच्च कोटि पर पहुँचना मन का ही कार्य है। आत्मा के लिए प्रयुक्त 'अहं' शब्द का अनुभव इसी मन के द्वारा ही होता है। इसी के भीतर प्राणमयकोश का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे मनोमय कोश ही कहते हैं। तर्क संग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार सुखादि की प्राप्ति में मुख्य साधन इन्द्रिय है। जिसे मन ही कहा जाता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि आदित्यो ह वै प्राणः पता चलता है कि यह प्राण सूक्ष्म होता हुआ भी सभी जगह व्याप्त है। वैशेषिक दर्शन ने मन को भी द्रव्य मान लिया है[19] अतः मन की गति शब्द से भी ज्यादा होती है। इस युग में वैज्ञानिक सर आलिवर लाज का कथन है कि-My doctrine is that life exists in Space. That mind is a higher development of that and I presume that spirit is a higher development still but they all exist in space.

उपनिषदों के अनुसार आकाश से सूक्ष्म तत्त्व प्राणतत्त्व है और उस प्राण से भी सूक्ष्म मनस्तत्त्व है जिसे मनोमय कोश कहा है। मन से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः मन को आत्मा के समान माना है। अतः सुखप्रदान करने वाला मन समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से मन आत्मा के समान है। मन ही तीनों कालों में वर्तमान, भूत, भविष्यत् को जानने में सक्षम है।

आचार्य ईश्वर कृष्ण ने मन को उभयेन्द्रिय माना है। बाह्यकरण तो वर्तमान काल के समान होता है, जब कि अन्तःकरण त्रिकाल विषयक होता है। मन से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। सभी जीवित रहते हैं और अन्त में मन में ही विलीन हो जाते है। भगवद्गीता के अनुसार मन को षष्ठ इन्द्रिय भी कहा है। तथा सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ भी कहा है।[20]

सांख्य योग में संकल्प-विकल्प को मन का विशेष धर्म माना है। क्योंकि मन ही संकल्पों के बारे में विचार करता है। मन के द्वारा कभी भी किसी भी वस्तु का संकल्प किया जाता है। वह संकल्प भावना विशेष में परिणत होकर क्रियारूप में प्राप्त होता है। अतः मनुष्य मन, वाणी, प्राण, चक्षु आदि से मनोनिग्रह की प्रार्थना करता है। अतः मन अतिसूक्ष्म है इसका विषय अत्यन्त जटिल है, जिसे निश्चित शब्दों में परिभाषित करना बड़ा दुष्कर कार्य है। मन के विषय में यजुर्वेद के मन्त्रों में वर्णन आता है। ये मन सोते जागते दूर-दूर तक जाता है। उसको शुभ संकल्पों से युक्त करने की प्रार्थना की गयी है। क्योंकि मन की एकाग्रता सभी सफलताओं तथा उन्नतियों की मूलमन्त्र है। महर्षि पतन्जलि ने मन की वृत्तियों के निरोध को ही योग की संज्ञा दी है। अतः मन के लिए शिवसंकल्प के मन्त्रों में शुभ संकल्प की प्रार्थना की गयी है। इसीलिए मानव शरीर को मन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।

---

19 वैशेषिकदर्शन। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मामनांसि द्रव्याणि।

20 इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन। मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परस्तु सः।।

शरीर में होने वाली सभी क्रियायें मन से ही प्रभावित होती है। आत्मा को ज्ञान की उपलब्धि मन के द्वारा ही होती है। मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होता। मन की विशेषता है कि पञ्च महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी स्थूल नहीं है। तर्क संग्रह के अनुसार **सुखदुःखानामुपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः**[21] अर्थात् सभी का साधन रूप मन ही है। यह हमारा मन हृदय देश में स्थित है।

विज्ञानमय कोश

मन का जो भाग मस्तिष्क में रहकर ही कार्य करता है। उस प्रज्ञान अथवा बुद्धि के लिये धी शब्द का प्रयोग अनेक विभक्तियों में भी किया गया है। ऋग्वेद में 332 बार विभक्तियों का प्रयोग किया गया है।[22] ऋग्वेद का एक मन्त्र कहता है कि मनुष्य समान होते हुये भी असमान होते हैं।[23] वैदिक संहिताओं में उन्नति और जगत् ऐश्वर्य को प्राप्त करने की बहुत सी प्रार्थनायें की गयी हैं। यथा **'यां मेधां देव सविता आ ददातु**[24] तथा **ओं मयि मेधां मयि प्रजाम्**[25] इन्ही मन्त्रें में परमात्मा का तेजोमय स्वरूप बृद्धि को उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरित करता है।

गायत्री के साथ ही मेधावी बनने की प्रार्थनायें संस्कारों में की गयी हैं। साधक बुद्धि की कामना देवगण तथा पितरों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मनुष्य मेधा प्राप्ति की इच्छा करता है। हे अग्ने! प्रजापति वरुण मुझे मेधा बुद्धि दीजिये। यथा- **यां मेधां देवगणाः** आदि विवेक ज्ञान को प्राप्त करना ही विज्ञानमय कोश है। मनुष्य को चाहिये कि विवेक ज्ञान के लिये बुद्धि पर मल विक्षेप आवरणों का जो पर्दा गिरा है, उसे हटाने का सफल प्रयास करे, विवेक ज्ञान परमात्मा साक्षात्कार में परम सहायक है।

मनोमयकोश की तरह विज्ञानमय कोश की शुद्धि करने में प्राणायाम बहुत ही सहायक है। सामवेद की कुछ ऋचाओं में कहा गया है कि मितभाषी रहते हुये प्राणायाम आदि क्रियायों द्वारा अज्ञानता को मनुष्य दूर करे।

प्राणायाम अभ्यासी की निश्चित रूप से बुद्धि विकसित, परिमार्जित, तथा कुशाग्र बनती है। क्योंकि वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए परमेश्वर ने ज्ञान रश्मियों को उद्बुद्ध किया है। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने प्राणायाम के विषय में कहा है कि प्राणों को वश में कर लिया जाये तो सारे-दुःख और क्लेश समाप्त हो जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने

21 तर्कसंग्रह।

22 ऋग्वेदपदानुक्रमणिका-द्रष्टव्यः।

23 अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ0 10/71/7

24 पार0 गृ0 - 2/4,5,6,7

25 आश्वलायन गृह्य सूत्र - 1/21/4

विज्ञानमयकोश की शुद्धता के लिये बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ प्राणायाम का विधान किया है। प्राणायाम से निश्चित रूप से विज्ञानमयकोश की शुद्धि होती है।

आनन्दमय कोश

दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व का विवेचन करते हुये आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा है। यत: ईश्वर आनन्दस्वरूप है। आत्मा विधूतपाप्मा होकर सांसारिक विषयों से उपरत होकर आनन्द स्वरूप का सान्निध्य करता है। तब उसे आनन्द की अनुभूति होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख है कि मनुष्य पुरुषार्थी हो, सुशिक्षित हो, धनधान्य से परिपूर्ण हो यह वह कामना करता है। यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाए अर्थात् पृथिवी पर सम्पूर्ण आधिपत्य मेरा ही हो। यह एक मनुष्य सुख है। सौ मानुषी आनन्द के बराबर गन्धर्वों का एक आनन्द है। आनन्द के विषय में' याज्ञवलक्य ऋषि ने राजा जनक को बतायी थी।[26]

आत्मा का यह आनन्दानुभव करना आनन्दमय कोश है। यह कोश हृदयस्थ है। हृदयदेश जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी ईश्वर से परिपूर्ण है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि जो आलस्य को त्याग कर धर्म से पुरुषार्थ करते हैं वे सम्पूर्ण इष्टसुख को प्राप्त होते हैं। पुरुषार्थी व्यक्ति ही आत्मिक बल प्राप्त कर सकता है। पुरुषार्थी व्यक्ति को ही ईश्वर अपनी कृपा का पात्र बनाता है। क्योंकि परमात्मा के स्वरूप को उसकी दया को और उसके आनन्द सागर के रस को केवल कर्मयोगी ही उपभोग करता है। तथा आनन्द के सागर में डुबकी लगाता है।

26 बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/33

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ081-84)

काम, क्रोध व लोभ के शमन में सहायक मन्त्र

ले0 मनोहर विद्यालंकार

हमें ऐसा ज्ञान व धन दो कि हम नरक के द्वारों से बचे रहें

तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाह सदने कंचिदत्रिणम्। मन्युं जनस्य दूढ्यम्।।[1]

ऋषिः- सोभरिः काण्वः। देवता-अग्निः। छन्दः-उष्णिक्।

हे (अग्ने) मानसिक मार्ग-दर्शन द्वारा, आगे बढ़ाने वाले प्रभो! मुझमें (तद्द्युम्नं आभर) ऐसा ज्ञान का प्रकाश तथा शुभ्र सम्पत्ति भर दो (यत्) जिसकी सहायता से मैं (जनस्य) मनुष्य के (मन्युम्) मनन को पृथक् कर देने वाले क्रोध को (दूढ्यम्) बुद्धि तथा कर्म को दूषित करने वाले लोभ को तथा (कंचिद् अत्रिणम्) सद्व्यवहार को खा जाने (समाप्त कर देने वाले, काम क्रोध, लोभ में से किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य शत्रु को (सदने) उसी के घर में अर्थात् प्रारम्भ होते ही (सासाह) उसका प्रयत्न पूर्वक पराभव कर सकूँ। अंग्रेजी मुहावरे (निप इन द बड) के अनुसार उत्पन्न होते ही उसका गला घोंट सकूँ।

निष्कर्ष-**अत्रिणम्**-अद भक्षणे; सद्गुणों और सत्कर्मों को नष्ट करने वालों में सबसे मुख्य काम वासना है। '**कामो हि महाशनो महापाप्मा**'; '**कामो हि समुद्रः।**' कामवासना समुद्र की तरह अथाह होने से कभी तृप्त नहीं होती।

मन्युम्-मन ज्ञाने+यु अमिश्रणे; मन्यु=क्रोध मनुष्य के विवेक पर परदा डाल कर उसे अन्धा कर देता है। उसे कुछ नहीं सूझता, वह दूसरे को बिगाड़ने में अपना सर्वनाश तक कर लेता है। इसीलिए कहा है-**क्रोधो नाशयते सर्वम्।**

दूढ्यम-दुःधियम्ः धीः-कर्मनाम[2], प्रज्ञानाम[3] बुद्धि और कर्म दोनों को दूषित कर देने वाला लोभ (लुभ विमोहने) सारी विचारधारा को विकृत करके मनुष्य को आचारहीन मूढ़ बना देता है। गीता में इन तीनों को नरक का द्वार बता कर, इन्हें छोड़ने की सलाह दी है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।[4]

उष्णिक्-इस मन्त्र का छन्द शब्द अपने अर्थ (ष्णा शौचे तथा स्निह स्नेहने) से बनने के कारण संकेत करता है कि साधक व्यक्ति को नरक के इन तीनों द्वारों से बचने के लिए सब

---

1 साम 113
2 नि. 2-1
3 नि. 3-91
4 गीता 16.21

के साथ प्रीति करनी चाहिए अर्थात् (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्) अपने को नापसन्द व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए। और यदि इनमें से किसी के चंगुल में फंस जाए तो उसे प्रायश्चित्त करके पुनः पवित्र होने का प्रयत्न करना चाहिए।

काम शरीर को सर्वाधिक हानि पहुँचाता है। क्रोध मन को बेचैन कर देता है। किन्तु लोभ मनुष्य की आत्मा को विकृत करने के कारण सब से बुरा है। अत एव यजुर्वेद के अन्तिम 40वें अध्याय अथवा ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही चेतावनी दी गई है-**मा गृधःकस्य स्विद् धनम्।**[5] हे मानव! लोभ के वशीभूत मत हो। यह धन किसी का सगा नहीं, किसी के साथ नहीं जाता है। इसका असली मालिक कः (सबको सुख देने वाला प्रजापति परमेश्वर) है।

प्रभु के मार्ग-दर्शन विना कोई यज्ञ सफल नहीं होता

इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
असो हव्यवाळुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः॥[6]
ऋषिः- अग्निः। देवता-अग्निः। छन्दः-त्रिष्टुप्।

अर्थ-हे (अग्ने) सब को आगे बढ़ाने की कामना वाले प्रभो! आप (नः) हमारे (इमम्) इस (पञ्चयामम्) पाँच आयाम वाले (त्रिवृतम्) बाल्य यौवन तथा वार्धक्य के तीन सवनों में व्यतीत होने वाले (सप्ततन्तुम) रस, रक्त मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि, शुक्र से निरन्तर विस्तार को प्राप्त होने वाले (यज्ञं उप एहि) यज्ञ में सदा उपस्थित रहिये। (उत) और (हव्यवाट्) वाञ्छनीय तत्त्वों (भावनाओं और पदार्थों) को प्राप्त कराने वाले बनकर (नः पुरोगा असः) हमारे मार्ग दर्शन बन जाइये। (ज्योक् एव) इतने दीर्घकाल तक उभय (दीर्घं तमः आशयिष्ठाः) घने अन्धकार में पड़े कहाँ सोये हुए थे- अब तक मेरी सुध क्यों नहीं ली?

मनन-हे प्रभो! आप तो सब को सत्प्रेरणा देकर सदा ही आगे बढ़ाना चाहते हैं। हम ही आप की प्रेरणा को अनसुना करते रहते हैं, सोये पड़े रहते हैं, अब जब सुध आई है तो आप को उलाहना दे रहे हैं। आप ने जन्म लेते ही हमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के आयाम वाले पाँच कोशों की गहराई वाला, तथा समय की दृष्टि से बाल्य, यौवन और वार्धक्य में विस्तृत होने वाला एवं रस, रक्त, मांस आदि सात धातुओं और सात चक्रों की सहायता से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाला शरीर हमें प्रदान किया हुआ है। इसको स्वस्थ, दीर्घायु और लोकोपकारी बनाने के उपाय भी सृष्टि के साथ ही बता दिये हैं। किन्तु हम ही उनकी उपेक्षा करते रहे हैं।

आज हमें कुछ बोध हुआ है, आज हम समझे हैं कि हमने अपना जीवन व्यर्थ के कार्यों में, अपने अधीनस्थ शरीर, मन और इन्द्रियों के बहकावे में आकर व्यर्थ ही गंवाया है।

5 यजु040.1
6 ऋक् 10-124-1

अपने कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा की है। अब तो आप ऐसी कृपा और मार्गदर्शन करो कि ठीक मार्ग पर चलता हुआ, अपने जीवन को यक्षरूप बनाकर, स्वयं सदाचारी सद्गृहस्थ, और देश का गौरव प्रदान करने वाला नागरिक बन सकूँ।

आधिदैविक अर्थ करते हुए-जीवन पक्ष के स्थान में यह जगत् सृष्टि यज्ञ होगा। अग्नि, आकाश, जल, वायु और भूमि, पाँच कोश होंगे। ग्रीष्म वर्षा और शरद् तीन ऋतुएँ काल की दृष्टि से तीन वर्तन होंगे। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्–ये सात लोक अथवा इन शब्दों से निर्दिष्ट सात भाव अथवा इन लोकों के सात अधिपति देव ही इस यज्ञ का विस्तार करने वाले सात तन्तु होंगे। (अग्निः, वायुः, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वेदेवाः)

आधिभौतिक दृष्टि से अर्थ करते हुए राष्ट्र का शासन ही राष्ट्रभृत् यज्ञ होगा। पञ्च कोशों के स्थान में पञ्चजनाः (निषाद, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण धर्म का पालन करने वाले पाँच प्रकार के मानव ही राष्ट्र के पाँच आयाम होंगे। त्रिवृत् अवस्था के स्थान में प्रजा के बने तीन विभाग अर्थात् शासन की व्यवस्था करने वाला शासक वर्ग, शासित होने वाली संपूर्ण प्रजा तथा इन दोनों को जोड़ने वाले कर्मचारी वर्ग ही तीन वर्तनियाँ होंगी। सप्त तन्तुओं से गृहीत रस, रक्त आदि सात धातुओं के बदले राष्ट्रभृत् यज्ञ में सात भावनाऐं- (1) अपने अस्तित्व को कायम रखने (2) सत् चिन्तन करने (3) हर हाल में सन्तुष्ट रहकर आनन्द प्राप्त करने (4) इस प्रकार महान् अर्थात् उदार बनकर (5) राष्ट्र के लिए कुछ न कुछ उत्पादन करने (6) तपस्या अर्थात् स्वार्थ त्याग कर निष्काम सेवा करते हुए (7) सनातन सत्य परमात्मा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति-ही राष्ट्र को विस्तृत, प्रख्यात, सात्त्विक तथा आदरणीय बनाने वाली ग्रहण की जायेंगी।

लगभग इसी मन्त्र के भाव और शब्दों को लेकर दशमण्डल का एक मन्त्र आया है-

मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहुकृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।।[7]

अर्थ-(देवाः) किसी भी प्रकार की दिव्यता की कामना करने वाले साधक, यह जानकर कि (विद्वान् अग्निः) सब को आगे बढ़ाने वाला सर्वज्ञ प्रभु परमात्मा ही (नः पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुं यज्ञं कल्पयाति) हमारे किसी भी पाँच आधारों पर स्थित होकर, सात प्रकार के साधनभूत पदार्थों या भावों से विस्तृत होने वाले, प्रारम्भ में मन्द-मन्द चलकर, यौवनावस्था में धूम-धाम मचाने वाले और अन्त में शनैः शनैः जीर्ण-शीर्ण होने वाले यज्ञ (परार्थ आयोजन) को प्रारम्भ करने, समर्थ और सफल करने तथा दुर्बल होकर समाप्त कर देने का सामर्थ्य प्रदान करता है-(हव्यवाहम्) आदेय पदार्थों और स्थितियों का अप वहन करने वाले (अपम्लुक्तम्) मध्य में किसी भी न्यूनता से मुक्त रखने वाले और अन्त में (बहुकृच्छ्रा चरन्तम्) धीरे धीरे

7 ऋक् 10-52-4

कठिनाइयों को उत्पन्न करके समाप्त कर देने वाले (मां दधिरे) मुझे ही अपने हृदय में धारण करते हैं।

निष्कर्ष-(1) प्रत्येक कर्म (आयोजन) प्रारम्भ में धीरे-धीरे बढ़ता है, कुछ काल बाद खूब विख्यात और लोकप्रिय हो जाता है, और फिर क्रमशः आपत्तियों और कठिनाइयों से प्रताडित होकर समाप्त हो जाता है। आयोजन चाहे व्यक्तिगत हो चाहे समष्टिगत, चाहे राष्ट्रगत -प्रत्येक आयोजन की ये तीन स्थितियाँ अवश्य होती हैं। इन तीनों स्थितियों में परमात्मा को ही हृदय में धारण करके आयोजन का प्रारम्भ, सफलता में आत्मगौरव, और अवनति में सन्तोष किया जाता है।

(2) प्रत्येक कार्य प्रभु को स्मरण करके प्रारम्भ करना चाहिये, प्रभुस्मरण से उत्साह बना रहता है। प्रत्येक कार्य की चरमोन्नति और लोकप्रियता में भी प्रभुस्मरण से उपरत नहीं होना चाहिये, इससे मनुष्य में अहंकार उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक आयोजन के शिथिल होते समय भी प्रभुस्मरण करने से निराशा नहीं होती।

अर्थपोषण=कल्पयाति=कृप अवल्कने=आयोजन की कल्पना तथा प्रारम्भ करना, कृपू सामर्थ्ये=आयोजन का उत्कर्ष-ख्याति और सफलता का समय, कृप दौर्बल्ये=आयोजन का धीरे-धीरे शिथिल होकर समाप्त हो जाना। रलयोरभेदः सिद्धान्त के अनुसार रूप हैं- कल्पयति, कल्पते, क्लपयति। हव्यवाहम्=हव्यम्=दानादानयो:' वहति। अपम्लुक्त=अप+म्लुचुगतौ अपगतम्=मुक्तम्, कृच्छा चरन्तम्=निऋति की ओर ले जाने वाले निर्ऋतिः=दुर्गतिः। पञ्चयामम्= पञ्च-आयाम-युक्तम्। त्रिवृतम्=तिसृषु स्थितिषु वर्तमानम्। सप्ततन्तुम्=सप्तभिः तन्तुभिः ततम्=सात धातु, सात पदार्थ, सात भाव, सात छन्द, सात लोक, सात प्राथमिकताऐं।

सप्ततन्तु-से सप्तपदः, सप्तसंसदः, सप्तबन्धवः, सप्तर्षयः, सप्तमातरम्, सप्तनामा, सप्तास्यः, सप्तजिह्वः का भी ग्रहण किया जा सकता है। **कल्पयति**-में काशकृत्स्न ने क्लृप् अवकल्पने' कल्पनायाम् मानी है। अतः कल्पयाति- के तीन अर्थों की कल्पना की गई है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ085-88)

वैदिक वाङ्मय में पशुतत्त्वचिन्तन

(अश्वतत्त्व के विशेष अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा
संस्कृत-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतीय सारस्वत-साधना का उद्गम-स्थल वेद है। 'वेद' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। यही कारण है कि ज्ञान-विज्ञान की किसी भी शाखा का निरूपण करते समय विद्वान् वेदों से ही उसका विकास प्रदर्शित करना आवश्यक समझते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दर्शन, विज्ञान, साहित्य आदि किसी क्षेत्र का आरम्भ सूत्र खोजते समय यदि गम्भीर रूप से विचार किया जाए तो कोई सन्देह नहीं कि वैदिक वाङ्मय ही समस्त ज्ञान का भण्डार है। भगवान् मनु ने **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** कहकर वेद को समस्त ज्ञान का मूल स्रोत माना है।

भारतीय साहित्य में जो स्थान वेदों को प्राप्त हुआ है, वह अन्य किसी साहित्य को नहीं। वेद में निष्ठा भारतीयों के केवल श्रद्धा का ही प्रतीक नहीं है, अपितु सम्यक् रूपेण ज्ञान के आदि स्रोत के लिये हमें वेद का आधार लेना पड़ता है।

समस्त शास्त्रों की वेद मूलकता के विषय में विचार करते हैं तो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला-शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि के उपलब्ध ग्रन्थों में अपने-अपने विषय की वेदमूलकता मुक्त-कंठ से घोषित की गई है। मनुस्मृति में मनु कहते हैं -

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

वेदों का महत्त्व न केवल उनकी प्राचीनता तथा उनमें निहित ज्ञान-विज्ञान के कारण हैं, अपितु वेदों का अध्ययन अनेक नवीन शोधों एवं विज्ञान चर्चाओं को जन्म देता है। यही कारण है कि वेद का आधार लेते हुए अनेक शोधग्रन्थ लिखे गए हैं इसीलिए प्रस्तावित शोध का विषय भी वेदों को आधार बनाकर ही चयनित किया जाता है।

प्रस्तावित विषय पशुतत्त्व से सम्बद्ध है, जिसमें अश्व की विशिष्ट व्याख्या करना मुख्य उद्देश्य रहेगा। इसी सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'पशु' शब्द पर विचार किया जा रहा है -

अणुपरिच्छिन्न रूप सीमित शक्ति से युक्त होने वाला जीव ही 'पशु' है। वह न तो चार्वाक के समान देह रूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैन मतावलम्बियों के सामन अव्यापक है। 'पशु' अकर्ता भी नहीं है क्योंकि पाशों के दूरीकरण करने के अनन्तर

शिवत्व की प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। इसीलिए शैव सिद्धान्त पशु को कर्त्ता मानता है।

संसार के समग्र जीव पशु हैं। 'पशु' का अर्थ है-वह व्यक्ति जो पाशों के द्वारा जकड़ा गया हो-**'पाशनाच्च पशवः'** पाशुपतसूत्र में पशु की व्युत्पत्ति देते हुए बन्धन से पड़े हुए प्रत्येक तत्त्व को पशु कहा गया है, क्योंकि 'पाश' शब्द का अर्थ है-'बन्धन' वह बन्धन, जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व प्राप्त होता है। जीव सदा पाशों में जकड़ा हुआ है, अपने शुद्ध रूप से विहीन वह जगत् के प्रपञ्च में फंसा हुआ है, वस्तुतः जीव स्वतन्त्र है, परन्तु इन्हीं पाशों ने उसे परतन्त्र बना डाला है। जिस प्रकार लोक में गायों के गले की रस्सी को खोलकर उनका स्वामी ही उन्हें स्वतन्त्र बनाता है, ठीक इसी प्रकार पशुपति (शिव) की अनुकम्पा के विना यह जीव रूप 'पशु' अपने पाशों से कथमपि विमुक्त नहीं हो सकता है।

पाणिनि मुनि ने 'पशु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है **'पशु बन्धने। पाशयति...... ....।'** विभिन्न कोष ग्रन्थों में पशु शब्द केवल जानवर के लिये ही प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु मानव जाति के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग किया गया है। याज्ञवल्क्य मुनि ने पशु शब्द की व्युत्पत्ति में कहा है कि अनादिकाल से प्रवृत्त मल तथा आवरणों से युक्त होने के कारण अनेक योनियों में भ्रमणशील तथा अनन्त क्लेशों का भोजन होते हुए पाश रूप बन्धन युक्त प्रत्येक जीव तथा प्राणिमात्र पशु है।[1]

ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रतीक चिह्न मिलते हैं जिनमें मनुष्य जाति के लिए भी पशुओं की संज्ञायें दी गई हैं। यथा-काश्यप (कच्छपंकशीय) मात्स्यगण, अज-गण, गौतम (वृषभ), वत्स (बछड़े), शुनक (श्वान), कौशिक (अलूक) और माण्डुकेय (माण्डुक पुत्र) आदि गणों की चर्चायें हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि को देवों का पशु कहा गया है-**'अग्निर्हि देवानां पशुः'**।[2] इसी प्रकार कौषीतकि ब्राह्मण में सोम को भी पशु कहा गया है। इसी प्रकार वेदों में अन्यान्य स्थानों पर 'वपु' को पशु 'विश' को पशु और यजमान को भी पशु शब्द से सम्बोधित किया गया है, जो प्रतीक रूप से विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराते हैं। ऐतरेय, गोपथ, कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में 'पशु' शब्द के अनेक पर्याय मिलते हैं। यथा-'जागता वै पशवः' 'जागता पशवः' 'पशुर्वै मेघो, 'औषध्यात्मा वै पशुः', 'अग्निर्यो वाव सर्वे पशवः, स वो एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः, चतुष्पादा वै पशवः, पशवः पूषा, पशवः प्रगाथः, पशवो वै मरुतः, पशवो वै स्वरः बर्हितता, पशवः, मिथुनः वै पशवः, पशवः छन्दांसि' इत्यादि अंश विभिन्न ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं।

1 याज्ञवल्की-1/32/1 पशुः युं, अविशेषेण सर्वं पश्यतीति। दृशिरौ प्रेक्षणे-अर्च्चिशिक्रम्यमि पंसीति। इति कः पश्यादेशश्च (अन्या व्युत्पत्तिर्यथा, पशयन्ति पश्यन्ति पार्श्वहस्ताभ्यां हिताहितम् इति भरतः जन्तु तस्य लक्षणम्।)

2 ऐ. ब्राह. 1/15

उपर्युक्त पर्यायों का निर्माण साध्य-साधन, कार्य-कारण, सादृश्य-परम्परा, आधार-आधेय, सम्बन्धों के आधार पर हुआ है, ऐसा ज्ञात होता है।

'पशु' शब्द के अर्थ को ठीक समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। यज्ञीय कर्मकाण्ड में जहाँ पशु का वर्णन आता है वहाँ पार्थिक पशु अर्थ करने में भूल हो सकती है। पशु का अध्ययन यज्ञोपकरणों के अंतर्गत किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित इन पर्यायों का विस्तार से वर्णन करना शोधकार्य में महत्त्वपूर्ण रहेगा। अध्ययन-सौकर्य के लिए हम पशु के पर्यायों को देवता, छन्द हवि क्रम से विभाजित करते हैं-कोष के अनुसार पशु का अर्थ है-जो सबको अविशेष रूप से देखे-**'सर्वं अविशेषेण पश्यतीति पशुः।'**[3]

अतः वैदिक वाङ्मय में विभिन्न स्थानों और अर्थों में प्रयुक्त हुए शब्द जो जानवर अथवा जन्तुमात्र का वाचक न होकर अनेकानेक प्रतीकों से युक्त है, जिसकी मीमांसा करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। प्रस्तावित शोध कार्य में इस लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक शब्द का सप्रमाण विवेचन करना महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहेगा।

प्रस्तावित शोध लेख में वेद में 'पशु' शब्द एवं तत्त्व का चिन्तन करते हुए वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त 'अश्व' तत्त्व पर गम्भीर चिन्तन किया जायेगा, जिससे अश्व के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो सके।

सामान्य रूप से पशु शब्द की मीमांसा करके गम्भीर चिन्तन की दृष्टि से विचार करते हुए देखते हैं कि वेद में 'अश्व' शब्द ही अनेक बाद प्रयुक्त हुआ है जो मात्र घोड़ा है, इस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैदिक अश्व के पंख हैं इसीलिए निघण्टु में अश्व के पर्यायों में श्येन, सुपर्ण, पतंग भी दिये गए हैं। वहाँ 'नर' शब्द भी अश्व का पर्याय है और नर ही वह ग्राम है, जिसमें अश्व के अतिरिक्त पुरुष, गौ और अज को 'ग्राम्या पशवः' रूप से कहा गया है।

पुरुष सूक्त में जब पुरुष से गौ, अश्व और अज नामक पशुओं की उत्पत्ति बताई जाती है तब भी कुछ इसी प्रकार विचित्र सी बात लगती है। एक अन्य दृष्टि से तैत्तिरीय संहिता में अश्व को मां के सम्बन्ध से और विभु को पिता के सम्बन्ध से प्रभु कहा गया है, जो हय, अत्य, नर, सप्ति, वाजी, वृषा, वैदिक अश्व मूलतः कोई ऐसा तत्त्व है, जिसके रूपान्तरों को ही अनेक नाम दिये गए हैं।

संर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्
वेदशब्देभ्यैवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में मनु ने कहा है कि समस्त लौकिक नाम और कर्म वैदिक शब्दों के आधार पर ही रखे गए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वेद यद्यपि

3 पद्मचन्द कोष, पृष्ठ संख्या 234
4 मनु/1/21

प्रधानतः अध्यात्मपरक हैं तथापि वैदिक अश्व की अधिकांश विशेषतायें जिस पशु में पाई जाती हैं, वे लोक में अश्व नामक जीव में उपलब्ध होती हैं ये विशेषतायें इस प्रकार की है-अश्व का तीन पैरों पर खड़ा होना, चार पैरों से दौड़ना, पीछे से पैर मारना इत्यादि। इन विशेषताओं को बताने के लिए वैदिक साहित्य में कुछ कथानक मिलते हैं, यथा -

सृष्टि के प्रारम्भ में अश्व की 'आपः' से उत्पत्ति हुई। शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन शाखा में अश्व की 'आपः' से उत्पत्ति बताई गई है। उल्लेख है कि अश्व आपः से उत्पन्न हुआ और 'असर्व' अर्थात् असम्पूर्ण अथवा अधूरा उत्पन्न हुआ है और 'असर्व' होने के कारण ही वह चारों पैरों से खड़ा नहीं होता है, जिसकी वैज्ञानिक व्याख्या अपेक्षित है। अनुसन्धान करने योग्य है।

'पशवो वै छन्दांसि' कहते हुए संहिता पशुओं ओर छन्दों का सम्बन्ध स्थापित करती है और अश्व को अनुष्टुप् के साथ गायत्री से सम्बन्ध होकर चार पैरों पर दौड़ने वाला बताती है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण अश्व द्वारा ही रथों का सम्पादन होना बताता है। इस प्रकार अश्व रथ के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वहन नहीं करते हैं।

पीछे के पैरों से मारने के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों ने अश्व होकर पैरों से मारा। अश्व होकर पैरों से मारना ही देवों का अश्वत्व है। पशुओं में दीप्तिमान् भी अश्व ही है। उसे ही सर्वाधिक ऐश्वर्यवान् कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में अश्व के श्रेष्ठ और आशुगामी होने के विषय में कहा गया है कि हे अश्व! तू अत्य है, इसी कारण सारे पशुओं का अतिक्रमण कर जाता है। लिखा है -

अत्योऽसि इत्याह। तस्मादश्वः सर्वान् पशून् अत्येति।
तस्मादश्वैः सर्वेषां पशूनां श्रेष्ठ्यं गच्छति।"[5]

'**आ ब्राह्मण ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसि**' के प्रसंग में 'आशुः सप्तिः'[6] कहा गया है, इसी कारण सृष्टि के आदि में आशु अश्व का उत्पन्न होना बताया गया है तथा प्रयुक्त अश्व का दूर-दूर तक जाने में समर्थ होना और वीर्यवान् होना कहा गया है। वर्तमान में भी शक्तिशाली वस्तुओं के मापदण्ड के लिए 'हार्सपावर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो इसी बात को प्रमाणित करता है।

अश्व के श्रेष्ठ माने जाने की दृष्टि से ऋग्वेद में न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' कहते हुए अश्व से पूर्व गदर्भ को नहीं ले जाने की बात कही गई है जिससे सूचित होता है कि योग्य अथवा श्रेष्ठ के सामने अयोग्य अथवा अश्रेष्ठ को महत्त्व नहीं दिया जाता। अन्यत्र भी अनेक ब्राह्मणों और संहिताओं में इसी बात को अलग-अलग ढंग से कहा गया है।

वेदों में अश्व के भिन्न-भिन्न पर्यायों की भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से उत्पत्ति बताते हुए वर्णन किया गया है, जिनका तात्विक एवं वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है।

5 3/8/9
6 यजु0।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ089-94)

वैदिक इन्द्र के विभिन्नार्थ-दर्शन

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार,
रीडर श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान,
गु0का0वि0वि0 हरिद्वार)

वेदार्थावबोधन में वैदिक निघण्टुकोष तथा यास्कीय निरुक्त का अपूर्व योगदान है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय में ऐसे शब्द हैं जो वेदों में प्रधान देवता के रूप में आते हैं। यास्काचार्य ने इस अध्याय के पदों का अर्थानुसन्धान निरुक्त में कर दिया है। इनके द्वारा कृत अर्थान्वेषण को वेदभाष्यकारों ने ओर बढ़ाया है। निरुक्तकार यास्क ने 151 वैदिक देवताओं को पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थानीय इन तीन वर्गों में विभाजित किया तथा उनका भौतिक या अधिदैवत स्वरूप दर्शाया है। वेद के अधिकांश भाष्यकारों ने स्वमतभेद प्रकट करते हुए कतिपय ने इन्हें प्राकृतिक क्षेत्र में घटाकर इनके अग्नि, वायु, सूर्य, उषा, बादल आदि अर्थ, कतिपय ने शारीरिक क्षेत्र में घटाकर इनके जीवात्मा, प्राण, मन, बुद्धि, पञ्चकोष, मस्तिष्क, हृदय आदि अर्थ, कतिपय ने याज्ञिक अर्थ और कतिपय ने इन्हें एक ही परमात्मा के विभिन्न नामों के रूप में मानकर अर्थ स्वीकार किये हैं। विभिन्न देवों में इन्द्र वेदों का सर्वाधिक महत्त्वशाली देवता है। चारों वेदों की कुल मन्त्रसंख्या 20389 का लगभग चतुर्थांश इन्द्र की स्तुति से भरा पड़ा है। रसानुप्रदान, वृत्रवध तथा बल के समस्त कर्म इन्द्र के प्रमुख कार्य हैं-ऐसा निरुक्तकार का कथन है।[1] ब्राह्मणकार ने यज्ञ का देवता इन्द्र को माना है।[2] एक पौर्णमास यज्ञ के प्रकरण की कथा के अनुसार इन्द्र का प्रधान शत्रु वृत्र माना गया है।[3] अतः पौर्णमासयज्ञ को वार्तघ्न नाम से भी जाना जाता है।[4] ग्रन्थकारों ने सूर्य,[5] यजमान,[6] आहवनीय अग्नि,[7] वायु,[8] यज्ञ का नेता,[9] प्राण,[10] मन,[11]

1 द्रष्टव्य-निरु0 7,9
2 इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता। श0 ब्रा0 1,4,5,4
3 श0 ब्रा0 1,6,3,1-10
4 तद्वा एतदेव वार्त्तघ्नं यत् पौर्णमासम्।। श0 ब्रा0 1,6,4,13
5 तद्वा एष एवेन्द्रः य एष तपति। श0 ब्रा0 1,6,4,18
6 श0 ब्रा0 2,1,2,11
7 तद्वा एष एवेन्द्रो यदाहवनीयः। श0 ब्रा0 2,3,2,2
8 यो वै वायुः स इन्द्रः।। श0 ब्रा0 4,1,3,19
9 इन्द्रो यज्ञस्य नेता। श0 ब्रा0 4,1,2,1,15,16
10 स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः। श0 ब्रा0 6,1,1,2
11 यन्मनः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श0 ब्रा0 8,5,3,2

आदित्य,[12] वाग्बल,[13] संवत्सररूप प्रजापति,[14] विश्वकर्मा,[15] बल और बलपति,[16] ओज,[17] आकाश,[18] तथा सत्य[19] को इन्द्र माना है। निरुक्तकार के अनुसार अन्तरिक्षस्थानीय द्वितीय वर्ग के देवों का राजा वायु या इन्द्र को माना गया है।[20] इन्द्र पूरे वर्ग का एक प्रमुख देव है। महाभाग्य की दृष्टि से देखा जाये तो इन्द्र परमात्मा का भी एक नाम है।[21] यास्काचार्य ने इन्द्र पद का व्याख्यान करते हुए लिखा-**इन्द्र इरां इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, दृणातीति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्, इति विज्ञायते, इदं करणादित्याग्रायणः, इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः, इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्।।**[22]

निरुक्तकार ने ये 15 निर्वचन इन्द्र पद के किये हैं, जिनका क्रमशः अर्थ है विद्युत् जल को फाड़ती है। 'इराम्+दृ' विदारणे+अक्-इम् द्र-इन्द्र। इन्द्र का अशनि अर्थ भी है।[23] 'इरा' अन्न पद का वाचक है।[24] अतः आचार्य दुर्ग ने इन्द्र वर्षा से क्लेदित व्रीहि आदि अन्न को फोड़कर अंकुरित करने के कारण 'इरादार' होता हुआ परोक्षवृत्ति से इन्द्र कहलाता है' यह अर्थ दर्शाया है। इरा का 'इ' तथा 'दृ' विदारणे-धातु का 'द्र' है, इन दोनों के योग से इन्द्र' पद बनता है।[25]

विद्युत् जल को देती है, इराम्+दा+रक्[26]-इम् द्र-इन्द्र। वर्षा के द्वारा अन्न (इरा) प्रदान करने वाला इन्द्र है।[27] विद्युत् जल को धारण करती है। इराम्+धा+रक्।

12 अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ब्रा० 8,5,3,2
13 वागिन्द्रो बलम्। श० ब्रा० 12,7,2,6
14 यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेव इन्द्रः। तै० ब्रा० 1,2,2,5
15 श० ब्रा० 1,2,3,3
16 इन्द्रो बलं बलपतिः।। श० ब्रा० 2,5,8,4
17 ओजो वाः इन्द्रः। तै० ब्रा० 5,2,5,4
18 स यस्य आकाश इन्द्र एव सः।। जै० उ० 1,6,3,2
19 सत्यं हीन्द्रः।। कौ० ब्रा० 3,1
20 तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। निरु० 7,5
21 महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। निरु० 7,4
22 निरु० 10, 9
23 बृहदारण्यकोपनिषद् 3,9,6
24 निघ० 2,7
25 इराम् अन्नं व्रीह्यादि दृणाति विदारयति। इरा शब्दात् पूर्वपदं, दृणातेरुत्तरपदम्। वर्षक्लेदितमङ्कुरं बीजं भिनत्ति, तदिन्द्रकारितम्।।
26 उणादि० 2,28
27 यो वर्षद्वारेण इरामन्नं ददाति सोऽयम् इरादः इरादाता इन्द्रः। दुर्ग

चतुर्थ निर्वचन में चुरादिगणी 'दृ विदारणे' धातु से रूपसिद्धि सम्पन्न की गयी है। जो इरा को विदीर्ण करवाता है वह इन्द्र है। पाँचवे निर्वचन में धृञ् धारणे धातु है, जो इरा को धारण करवाता है वह इन्द्र है। विद्युत् जल की वृष्टि के लिये संचरण करती है और सूर्य चन्द्रमा को प्रदीप्त करने के लिये सुषुम्णा रश्मि से जाता है। यह इन्द्र के सोम, जल तथा चन्द्रमा अर्थ गृहीत किये गए हैं।[28] विद्युत् जल में रमण करती है और सूर्य चन्द्रमा में रमण करता है। एवं इन्द्र विद्युत् या सूर्य है। इन्दुरम्-इन्द्र।

सब प्राणियों को प्रकाश देने से विद्युत् इन्द्र है। इन्ध्+रक्, यहाँ कर्ता में प्रत्यय हुआ है। विद्वानों ने यहाँ प्राणियों को द्युतिमान् करने के कारण 'इन्धी दीप्तौ' धातु से इन्द्र पद व्युत्पन्न माना है।[29] विद्युत् वृष्टि को करती है अतः आग्रायणाचार्य के मत में 'इदंकर' से इन्द्र है। सब कुछ करने का सामर्थ्य रखने से भी इन्द्र इदंकर है।[30] वृष्टि प्रदान द्वारा इन्द्र सब जगत् को उत्पन्न करता है, अतः इदंकर इन्द्र हुआ।[31] जीवात्मा जगत् का द्रष्टा होने से इन्द्र है।[32] सब जगत् को देखने से भी इदंदर्शी' इन्द्र है।[33] ऐश्वर्यवान् होने से विद्युत्, परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सूर्य आदि इन्द्र कहे जा सकते हैं। इदि परमैश्वर्ये+रक्। विद्युत् वृत्त का विदारण करती है, ऐश्वर्यवान् होकर वह कार्य सम्पन्न करती है। शत्रुओं को विदीर्ण करने और भगाने के कारण ईश्वर इन्द्र हैं।[34] यज्ञकर्ताओं को विद्युत् ऐश्वर्यवान् होती हुई वृष्टि के द्वारा सत्कृत करती है, अतः वह इन्द्र है।

इस प्रकार निरुक्तकार ने अनेकानेक विद्वानों के मतों की स्थापना करते हुए इन्द्र के विभिन्न निर्वचन दर्शाये हैं। जिन निर्वचनों से अध्येता इन्द्र के सूर्य, परमेश्वर, ब्राह्मण, राजा, सेनापति आदि अनेक अर्थ गृहीत कर लेता है।

इन्द्र के विभिन्न कार्यों का वर्णन वेदों में आया है। इन्द्र वृष्टि तथा वृत्रवध करता है -

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्।[35]

इन्द्र पैदा होते ही इतर देवों को अपने कर्म से परास्त करता है, उन्हें पकड़ लेता है उन्हें अतिक्रान्त कर देता है। आकाश और भूमि उससे डरकर थर्राने लगते हैं-

---

28 इन्दु शब्दात् पूर्वपदम् द्रवतेरुत्तरपदम्। इन्दुः सोमः। तं पातुमसौ द्रवति। द्रवतिर्गत्यर्थः। सोमपानार्थमसौ द्रवति, सोऽयम् इन्दुद्रवः इन्द्रः। दुर्ग।। गच्छति सोमं पातुमित्यर्थः। स्कन्द

29 भूतानि ह्यसौ अन्नोत्पत्या अधिदेवस्थो वाऽभ्यवहारयन् विभजमानश्च दीपयति द्युमिमन्ति करोति, सोऽयम् इन्धः इन्द्रः। दुर्ग। अतः इन्धनादिन्द्रः। स्कन्द

30 इदमसौ सर्वम् अकरोदिति, सोऽयं इदंकरः सन् इन्द्रः। दुर्ग

31 इदं कृत्स्नं जगत्, वृष्टिप्रदानद्वारेण करोतीति। स्कन्द

32 चन्द्रमणि विद्यालंकार तथा ब्रह्ममुनिकृतभाष्य

33 इदमसावद्राक्षीत्सर्वमिति। सोऽयम् इंददर्शी इन्द्रः। दुर्ग

34 ईश्वरश्चासौ द्रावयिता च शत्रूणाम, अथवा ईश्वरश्चासौ दारयिता च शत्रूणामितीन्द्रः। दुर्ग

35 ऋ0 5,32,1

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥[36]

इन्द्र सर्वत्र वृत्र के वध के लिये प्रसिद्ध है। वेदों में भी उसके इस कर्म का अनेकत्र वर्णन है -

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।

वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥[37]

इन्द्र ने अहि=वृत्र को मारकर जल के स्रोतों को खोल दिया।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥[38]

इन्द्र द्वारा तीस सरोवरों के पान की चर्चा करते हुए इन्द्र सूर्य को माना गया है और तीस सरोवर शुक्लपक्ष के तीस अहोरात्रों में चन्द्रमा में व्याप्त 'सूर्य-रश्मियाँ' मानी गयी हैं।

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।

इन्द्रः सोमस्य काणुका॥[39]

वेदों में इन्द्र और अगस्त्य के सम्वाद का भी वर्णन है।[40] इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी नारियों में सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी है, क्योंकि उसका पति इन्द्र कभी वृद्धावस्था से मरता नहीं है

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।

नह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्रः उत्तरः॥[41]

कौषीतकि ब्राह्मण में इन्द्र को ब्रह्म माना गया है,[42] वह विश्वजित् है।[43] वह राजा, अधिराज, स्वराट् तथा आत्मा है।[44] अस्यवामीय सूक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार आत्मानन्द,[45] आचार्य सायण,[46] तथा अनेक स्थलों पर स्ववेदभाष्यान्तर्गत स्वामी दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ परमेश्वर

36 ऋ2,12,1
37 ऋ0 1,32,10
38 ऋ0 1,32,11
39 ऋ0 8,77,4
40 ऋ0 1,170,1
41 ऋ0 10,86,11
42 तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति॥ कौ0 ब्रा0 6, 14
43 इन्द्रो विश्वजिदिन्द्रो हीदं सर्वं विश्वमजयत्॥ कौ0 ब्रा0 24, 1
44 तै0 सं0 2,3,6,2
45 ऋ0 1,164,46
46 इदि परमैश्वर्ये इत्यस्य धातोरर्थानुगमात् इन्द्रः परमात्मा।

किया है।[47] वेद स्वयं इन्द्र को परमेश्वर नाम से ज्ञापित करता है।[48] ऐतरेयोपनिषद्कार भी इसी व्याख्यान को स्वीकृति देता है।[49]

वेदों में अनेक स्थलों पर इन्द्र को राजा नाम से जाना गया है।[50] अनेक आचार्यों ने भी इन्द्र को राजा नाम से सम्बोधित किया है, यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। स्वामी दयानन्द तो स्ववेदभाष्य में अनेकत्र इन्द्र का अर्थ राजा करते हैं जो कि उनकी विभिन्न व्याख्याओं से प्रदर्शित होता है।[51]

इन्द्र का अर्थ वेदों ने स्वयं विद्वान् किया है।[52] स्वामी दयानन्द ने भी इसी को आधार बनाकर इन्द्रदेवताक मन्त्रों का भाष्य रचते हुए उनका विद्वान् अर्थ किया है।[53] विद्वानों का महत्त्व, विद्या प्राप्ति के उपाय, विद्वानों के कर्तव्य, विद्वानों का सेवन-सत्कार, विद्वानों द्वारा शिल्प-विद्या की उन्नति, अध्यापकों के गुण तथा उनके कर्तव्य, इत्यादि अनेक विषयों पर स्ववेदभाष्य के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर व्याख्यान किया है।

स्वामी दयानन्द से पूर्व ब्राह्मणग्रन्थकारों, नैरुक्तों तथा अनेक आचार्यों द्वारा इन्द्र के जिन नामों का व्याख्यान हुआ उन सबका तथा स्व उपज्ञा से प्रसूयमान विविधार्थों को गृहीत करते हुए एवं अनेकत्र वेद से मन्त्रार्थ को दर्शाते हुए इन्द्र का इन्द्र सूर्य, विद्युत्, वायु, जीवात्मा तो स्वामी जी ने माना ही है, किन्तु कतिपय स्थलों पर इन्द्र का अर्थ गृहस्थधर्म से जोड़कर[54] तथा कहीं वैद्य रूप में[55] और कहीं कृषक[56] अर्थ में भी किया है। इन सबके अतिरिक्त इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य, मित्र, मेघ, यज्ञ, यज्ञपति, यजमान, रण, राज्य, पुरुषार्थी, योद्धा, शालाधिपति, प्राणी, वृद्ध, बल, योगजिज्ञासु, सोमरस, व्यवहार आदि अर्थ भी किये गए हैं।[57]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्र के विभिन्नार्थ स्वयं वेदमन्त्रों में आये हैं जिन्हें ब्राह्मणकारों, नैरुक्तों, आचार्यों तथा वेदभाष्यकारों ने दिखाया है। इन्हीं सब अर्थों का प्रदर्शन स्व-स्व ग्रन्थों में अनेक रूपो में सामवेद के प्रख्यात भाष्यकार वेदमार्तण्ड आचार्य रामनाथ वेदालंकार, मनुस्मृति के भाष्यकार डॉ0 सुरेन्द्र कुमार, वैदिक इन्द्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ

---

47 यजु0 31,5,9,12;

48 ऋ0 1,64,46; 10,114,5; 10,82,3; यजु0 32,1

49 एष ब्रह्मैष इन्द्रः।।3,1,3

50 ऋ0 1,32,15; 100,1; 174,1; 177,1; 2,14,11; 4,17,20; 4,19,2; 21,10;

51 द्रष्टव्य-ऋ0 1,52,8; 1,51,1; 1,63,7; 5,35,1; 6,46,11; 5,40;

52 ऋ0 2,15,7; 3,44,2; 4,30,17; 5,2,8; 10,32,6; 8,63,3;

53 ऋ0 1,83,2; 1,132,3; 1,165,14; 2,13,13; 3,30,21;

54 ऋ0 1,56,2

55 ऋ0 2,11,11

56 ऋ0 4, 57

57 द्रष्टव्य दयानन्द भाष्य-ऋ0 2,11,11; 1,173,9; यजु0 1,2,4; 1,4; ऋ0 2,36,1; यजु0 28,14; 7,38; 5,30; ऋ0 2,20,5; 2,20,7; 1,101,7; यजु0 21,35; 8,39; 9,4; ऋ0 1,176,6; यजु0 20,62; 33;

लेखिका डॉ0 सुकामा व्याकरणाचार्य, पं0 धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, डॉ0 सुधीर कुमार गुप्त, गंगाप्रसाद उपाध्याय, सुधा रस्तौगी, जयदत्त उप्रैती तथा श्री अरविन्द आदि अनेक विद्वानों ने किया है। इस प्रकार इन्द्र पद से अनेकार्थों का ग्रहण प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ095-100)

वेदों में यज्ञ

डॉ0 रमा दुबे
इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र
वाराणसी-221005

हिन्दू-संस्कृति के साथ यज्ञानुष्ठान का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। **'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण एवं दान के अर्थ में पठित 'यज्' धातु से 'नङ्' प्रत्यय लगाने पर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है।[1] यज्ञ तो वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है-ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।

इस मन्त्र में ऋषि मधुच्छन्दा गायत्री छन्द में अग्निदेव की स्तुति करते हैं-'मैं अग्निदेव की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञ के देवता, देवताओं के आह्वाता और श्रेष्ठतम रत्नों की खान हैं, वे हमें श्रेष्ठतम रत्नों को प्रदान करें।' इस मन्त्र में देवयज्ञ का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ऋषियों ने हिन्दू-जीवन में यज्ञविधान के द्वारा जिस दिव्य भावना की सुरसारिता प्रवाहित की, वह अविरल गति से सृष्टि के आदिकाल से आज तक बहती जा रही है और उसमें अवगाहन कर विश्व के असंख्यों पुण्यवान् दिव्य ज़ीवन के भागी हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र में यज्ञ का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि यज्ञ का प्रसार आर्यजीवन में था तथा अग्निदेव यज्ञ के देव थे, यज्ञ में ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठान में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद-वेदत्रयी का युगपत् प्रयोग होता है। अत एव यज्ञ के साथ वेदों का नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है। तत्त्वतः देवता मन्त्रस्वरूप हैं अत एव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्नि की रचना कौन करेगा? अग्नि का आदि नहीं है, अन्त नहीं है। अत एव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्रों को कार्य रूप में देखकर **'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'** इस न्याय के अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। उत्तर है, कि मन्त्र कार्य नहीं है, वे नित्य हैं और वाणी के रूप में उनकी अभिव्यक्ति ऋषियों के अन्तःकरण में होती है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है कि यज्ञ के द्वारा ऋषियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूप को प्राप्त होते हैं।[2] यास्काचार्य कहते हैं-यज्ञों में तत्तद् वस्तु को अभिप्रेत करके ऋषियों को मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् ऋषियों के पुनीत अन्तःकरण में देवस्वरूप मन्त्रों का दर्शन होता है। इसीलिए वेद को शब्दब्रह्म कहते हैं और इसे नित्य और सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। महर्षि जैमिनि के अनुसार- आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठान के लिए है; अत एव यज्ञभावना से

1 यज्ञयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (3/3/90 पाणिनीय सूत्र)
2 यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋ0 10/71/3)

हीन जो विषय है, वे अनर्थ हैं, अधर्म ही हैं, जो धर्म के कञ्चुक में छिपे हुए भँवरजाल में फँसने के लिए मायाजाल बिछाये हुए हैं।[3] धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह धर्म है। अतः जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूप का ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है, जबकि आज आर्य सन्तान यज्ञ का नाम तक नहीं जानती।

मनुष्य को जीवन के सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञधर्म को अपनाना चाहिए। परमात्मा के निःश्वासभूत वेदों की मुख्य प्रवृत्ति यज्ञों के अनुष्ठान विधान में है। यज्ञों द्वारा समुद्भूत पर्जन्यवृष्टि आदि से संसार का पालन होता है। परमात्मा यज्ञ के सहारे ही विश्व का संरक्षण करते हैं। मानव और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टि के आदिकाल से ही चला आ रहा है। गीता में भी इसका उल्लेख है-प्रजापति ने-सृष्टि रचना के समय यज्ञ के साथ मानव जाति को उत्पन्न करके उनसे कहा-इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिए मनोवांछित फल देने वाला होगा। तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता तुम लोगों को यश-फल-प्रदान के द्वारा सन्तुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याणपद को प्राप्त करो।[4] पद्मपुराण में मानव की उत्पत्ति ही यज्ञकर्म के सम्पादन के लिए बतायी गयी है- हे महाभाग! ब्रह्माजी ने यज्ञ कर्म के लिए ही यज्ञ के श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्य के रूप में मानव की रचना की।[5]

शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञ से इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि साधनयोग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यज्ञ भगवान् का यजन किया।[6] शतपथ ब्राह्मण[7] में यज्ञ को साक्षात् भगवान् का स्वरूप कहा है। यज्ञ के सम्बन्ध में शुक्लयजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न मत उपस्थित किए गए हैं कि यज्ञ[8] समस्त भुवनों का केन्द्र और वही पृथ्वी[9] को धारण किए हुए है। यज्ञ साक्षात भगवान् का स्वरूप ही है, जिसे विद्वान् लोग विष्णु[10] राम, कृष्ण, यज्ञपुरुष, प्रजापति, सविता, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामों से उच्चारित करते हैं। तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है, कि द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा

3 आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमेतदर्थानाम्। (जै0 सू0 1/2/1)

4 सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेनप्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (गीता 3/10-11)

5 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह। चातुर्वर्ण्यं महाभागयज्ञसाधनमुत्तमम्।। (पद्मपु0 सृष्टिखण्ड, 3/123)

6 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (शुक्लयजुर्वेद, 31/16)

7 अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम्, तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येनं प्रतिमामसृजत।। (शत0 11/1/8/3)

8 (क) अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (यजु0 23/11) (ख) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः (अथर्व0 9/10/14)

9 यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववे0)

10 एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ0 1/164/22)

ऋषिऋण से, यज्ञ के द्वारा देवऋण से और सन्तति के द्वारा पितृऋण से मुक्ति होती है।[11]' इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में यज्ञ को मानव का प्रधान धर्म कहा है। जो लोग यज्ञ के वास्तविक रहस्य और महत्त्व को समझकर यज्ञ के प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते वे नष्ट हो जाते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है-हे अर्जुन! यज्ञ न करने वाले को यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक) की तो बात ही क्या है।[12] अथर्ववेद भी कहता है-यज्ञहीन पुरुष का तेज नष्ट हो जाता है।[13]

कालिकापुराण के **'सर्वं यज्ञमयं जगत्'** के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् एवं उसके क्रिया कलाप यज्ञमय हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भगवतीश्रुति कहती है कि हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है, प्राण धूम है जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं, उसी अग्नि में देवगण अन्न का होम करते हैं, उस आहुति से रेतरूप शक्तिपुञ्ज उत्पन्न होता है.. .... इत्यादि।[14]

इस प्रकार जब सभी सांसारिक चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं, तब उन सभी यज्ञों का अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिए ताकि वे मानवमात्र के लिए कल्याणकारी बनें। इस संसार में प्राणिमात्र की यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ, किन्तु पुण्यपुञ्ज प्रभाव के विना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख विशेष की प्राप्ति नहीं कर सकता, यह शास्त्रों का कथन है। ईशावास्योपनिषद् कहती है-शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए जीव इस जगत् में शतायु होने की इच्छा करे। ऐसे किए जाने वाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्य में लिप्त नहीं होगे। इससे पृथक् अन्य दूसरा मार्ग ही नहीं है।[15] इसी संदर्भ में गीता[16] भी माता की तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्रों को उपदेश करती है। मुण्डको उपनिषद् में यज्ञ को संसार सागर से पार (मुक्ति) कराने वाली 'प्लव' अर्थात् नौका कहा है।[17]

द्रव्य, देवता और त्याग (द्रव्यदेवतात्यागः) ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं। वेदों में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान है, परन्तु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद भी बहुत होते हैं। जैसे सोमयाग

---

11 जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। (तै0सं0 3/10/5)

12 नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। (गीता, 4/31)

13 अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (अथर्ववे0 12/3/37)

14 पुरुषो वाव................................ तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति। (छा0 उ0 5/7-8)

15 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

16 अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। (गीता 3/14)

17 प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (मुण्डक0 उ0 1/2/7)

के भेदों में अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। यजुर्वेद का पहला मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञ के पलाश-शाखा छेदन विधि में होता है।

दर्शपौर्णमासयज्ञ

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठित होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृतिरूप में होने के कारण इसी यज्ञ का पहले विधान हुआ है। दर्शपूर्णमास में अन्य किसी याग की विधि प्रयुक्त नहीं होती। शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में इसकी व्रतोपायन विधि का उल्लेख आता है। दर्शपूर्णमास यज्ञ में कुल छः याग होते हैं। दर्शपौर्णमास यज्ञ के द्वारा संस्कृति की रक्षा के साथ-साथ हम इहलोक एवं परलोक को उज्ज्वल बना सकते हैं। इस यज्ञ के माध्यम से स्वर्ग को प्राप्त एक याज्ञिक कहता है -

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥[18]

अर्थात् मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोक में आया, देवताओं को जान लिया। अब शत्रु मेरा कुछ नहीं कर सकते तथा अमरलोक को प्राप्त मेरा जरा भी कुछ नहीं कर सकती।

यज्ञस्थली अधिभौतिक लोक के मध्य एक आधिदैविक रूप के समान होती है। वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठान द्वारा इन्द्रादि देवगण प्रसन्न हो, स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो, वह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराण[19] में यज्ञ का लक्षण वर्णित है कि जिन कर्मविशेष से देवता, हवनीयद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा-इन पाँच उपादानों का संयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है। दर्शपूर्णमास के अतिरिक्त वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ और पारस्कर आदि सूत्रग्रन्थों में यज्ञ के अनेक भेद-प्रभेद बताये गए हैं, परन्तु मुख्य रूप से इनका समाहार हविर्यज्ञसंस्था, सोमयज्ञसंस्था और पाकयज्ञसंस्था के अन्तर्गत हो जाता है, पुनः एक-एक में सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं इनका उल्लेख भी संक्षेप में यहाँ अवश्य करणीय है।

हविर्यज्ञसंस्था

मुख्यतः हविर्यज्ञ सात प्रकार के कहे गए हैं।

18 ऋ० 8/48/3

19 देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा। ऋत्विजां दक्षिणानां व संयोगो योग उच्यते॥ मत्स्य पु० सभी वेदों-पुराणों ने यज्ञों के यथासम्भव सम्पादन पर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञों का फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी हो।

वेदों में यज्ञ

१. अग्न्याधेय-इस यज्ञ में कई इष्टियाँ होती है और यह 13 रात्रियों तक चलता है। घृत तथा दुग्ध के द्वारा प्रतिदिन के किए जाने वाले हवन को 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसी का एक भेद पिण्ड पितृयज्ञ भी है। तीसरे हविर्यज्ञ के रूप में 'दर्शपौर्णमास' का उल्लेख है। चौथा भेद आग्रायण है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है। छठा हविर्यज्ञ निरूढपशुबन्ध है। यह प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में किया जाता है। हविर्यज्ञ का सातवां अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। इनका विस्तृत उल्लेख धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

सोमयज्ञसंस्था-यह आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। इसे कालावधि के आधार पर एकाह, अहीन और सम, इन तीन रूपों में देखा गया है। अग्नि में सोमलता के रस की आहुति देने के कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञसंस्था के मुख्य सात प्रकारों में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम की गणना होती है। इनके अन्य बहुत से उपभेद भी है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञ की 17 दीक्षाएँ होती हैं। विस्तारभय से इसका संक्षेप किया जा रहा है।

पाकयज्ञसंस्था

पाकयज्ञ के अन्तर्गत सप्तसंस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जो क्रमशः अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी के नाम से जानी जाती हैं। पाकयज्ञसंस्थाओं में पहला अष्टकाश्राद्ध है। यह श्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष ओर माघ इन तीन मासों की कृष्णाष्टमियों पर ही सम्पन्न होता है। इनमें पितरों का श्राद्ध करने का बहुत बड़ा माहात्म्य है।*

पर्व-पर्व पर या पितरों की निधन-तिथि पर और महीने-महीने पर होने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इसी क्रम में और शेष याग भी महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में रुद्रप्रयाग, महारुद्रप्रयाग, अतिरुद्रप्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवतसप्ताह-यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं। ये यज्ञ सकाम भी किए जाते हैं और निष्काम भी। इन यज्ञों से परमपुरुष नारायण की ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा गया है-जिसके राज्य अथवा नगर में वर्णाश्रम-धर्मों का पालन करने वाले पुरुष-स्वधर्म-पालन के द्वारा भगवान् यज्ञ-पुरुष की आराधना करते हैं। हे महाभाग! भगवान् अपनी वेदशास्त्ररूपी आज्ञा का पालन वाले उस राजा से प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे ही सारे विश्व की आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षक हैं।[20] पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड[21] में स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है। इस प्रकार संसार का पालन-पोषण करने के कारण ही यज्ञ कल्याण के हेतु कहे गए हैं।[22]

---

20 यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः। इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः।। तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः। परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने।। (श्रीमद्भा0 4/14/18,19)

21 पद्मपु0 3/124

22 यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः। आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याण हेतवः।।

अतः यज्ञों का उद्देश्य केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठान से देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभी को अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वांगीण अभ्युदय भी हुआ है।

निष्कर्षतः अद्यतन भी हम देखते हैं कि अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति हो या वृष्टि का उद्देश्य हो, जहाँ तक कि कभी कभी भयंकर बीमारियों के प्रकोप से एवं प्रदूषण मुक्त्यर्थ भी यज्ञ का प्रयोग किया जाता है। शारीरिक, मानसिक शुद्धि के साथ यज्ञ से पर्यावरण भी स्वच्छ एवं लाभप्रद सिद्ध होता हुआ पाया गया है।

अस्तु, यज्ञीय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है। इससे भारत को एक विकसित एवं स्वस्थ राष्ट्र बनाया जा सकता है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0101-109)

उपनिषदों का एक भौगोलिक अध्ययन

डॉ0 विजेन्द्र कुमार तोमर
प्राचार्य,
कृषक, पी0 जी0 कॉलेज मवाना, मेरठ (उ0प्र0)।

यद्यपि उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक तत्त्वों-आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पुनर्जन्म, मृत्यु और मोक्ष आदि का दार्शनिक विवेचन करना है तथापि गौणरूप से प्रसंगवश कुछ भौगोलिक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। आकाश, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, सूर्य की गतियाँ-उत्तरायण, दक्षिणायन, दिन-रात, कृष्ण-शुक्ल पक्ष, पूर्णिमा-अमावस्या, चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण, मास, संवत्सर, ऋतुएँ-वर्षा, ग्रीष्म, शरद्, वसन्त, हेमन्त, शिशिर, नदी, पर्वत, समुद्र मेघ का बनना, तड़ित, वर्षा, दिशा-उपदिशाओं का ज्ञान, विविध वृक्षों, ओषधियों-वनस्पतियों एवं ग्रामीण तथा आरण्यक जीव-जन्तुओं के निवास एवं उनकी उत्पत्ति आदि विषय भौगोलिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त कराते हैं। इसके साथ ही ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध विभिन्न जनपदों एवं नगरों के नाम यथा-'कुरुदेश, पञ्चाल, महावृष, गन्धार, विदर्भ, कोसल, केकय, काशी, विदेह, मिथिला, सिन्धुप्रदेश, उशीनर, मद्र, मतस्य, ब्रह्मावर्त और भारतवर्ष तथा महेन्द्र, मलय, मेरु आदि पर्वत, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, केदार, आदि तीर्थों के वर्णन से तात्कालिक भौगोलिक अध्ययन की सामग्री उपलब्ध होती है। अब आगे क्रमानुसार इनका विवेचन किया जा रहा हैं

यह सभी जानते हैं कि सभी प्राणियों का आश्रय-स्थल पृथ्वी ही है। छान्दोग्योपनिषत्कार इस सत्य को जानकर पृथ्वी की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों अथवा पदार्थों का रस (सार) पृथ्वी है। पृथ्वी का रस जल, जल का रस औषधियाँ, औषधियों का रस पुरुष, पुरुष का रस वाक्, वाणी का रस साम और साम का रस उद्गीथ ओंकार है,[1] अत: ओंकारोपासना महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि सभी भौतिक पदार्थ आध्यात्मिक उन्नति के साधन हैं। आगे कहा गया है कि देवों ने ओंकार की उपासना की। असुरों ने उसे पापयुक्त करना चाहा। उसके निकट वे ऐसे ध्वस्त हुए, जैसे कठोर चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है।[2]

इस प्रकार यहाँ प्रसंगवश पृथ्वी, जल, रस, औषधियों, चट्टान और मिट्टी आदि भौगोलिक पदार्थों का वर्णन किया गया। एक स्थान पर 'कुरुदेश' में होने वाली ओलों की वृष्टि के कारण वहाँ की खेती के नष्ट होने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ओलों की वृष्टि से

1 छा0 उप0 1.2
2 वही, 1.7

कुरुक्षेत्र की खेती नष्ट हो गयी। उस समय 'इभ्य' ग्राम में 'चक्र' ऋषि के पुत्र 'उषस्ति' अपनी अल्पवयस्का पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में रहने लगे थे। एक दिन–'उषस्ति' ऋषि ने अत्यन्त घुने हुए उड़द (कुल्माष) खाने वाले एक महावत से भिक्षा मांगी। तब उसने कहा कि इन झूठे उड़द के अतिरिक्त मेरे पास और कोई अन्न नहीं है। इसी पात्र में उड़द रखे हैं। ऋषि उन्हें खाकर राजा के यज्ञ में गए।[3]

यहाँ 'कुरुक्षेत्र' में उत्पन्न होने वाले उड़द और ओलों की वृष्टि का भौगोलिक वर्णन किया गया। आज भी हरयाणा और यमुना से लगे पश्चिम उत्तर प्रदेश के जिलों–'सहारनपुर', मुजफ्फरनगर, मेरठ, गाजियाबाद, बुलन्दशहर, और अलीगढ़, आदि में पर्याप्त मात्रा में उड़द लगाये जाते हैं। उक्त दलहन के उगाये जाने और यहाँ उड़द की दाल आज भी पर्यापत मात्रा में खाये जाने से कुरुदेश की भौगोलिक सीमा की पुष्टि होती है।

इसी उपनिषद् में आगे घनीभूत होकर बरसने वाले मेघों, पूर्व व पश्चिम दिशा की ओर जाने वाले मेघों तथा समुद्र का वर्णन किया गया है।[4] यह बात सिद्ध है कि गर्मी बढ़ने से ऋतु-परिवर्तन होकर समुद्र से वाष्प उठकर वर्षा हो जाती है। अतः कहा गया कि पूर्व एवं पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका (वाष्प द्वारा) समुद्र से आगमन होता है और अन्त में वे उसी समुद्र में समाहित हो जाती है।[5]

पाँच ऋतुओं का वर्णन भी यहाँ किया गया है–**ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्।**[6] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि इष्टापूर्त से धूम को, धूम से रात को, रात से कृष्णपक्ष को और कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः मासों को प्राप्त करते हैं। वहाँ कर्मों के क्षय से अभ्ररूप को प्राप्त करते हैं। उससे मेघ होता है, मेघ से वृष्टि होती है, तब वे सभी इस लोक में धान, यव, औषधि, वनस्पति, उड़द और तिल आदि के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।[7]

इस प्रकार वर्षा द्वारा, यहाँ नाना धान्यों और औषधियों की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। यह सत्य है कि जल के विना जीवन नहीं है, उसी से अन्न बढ़ता है, उससे जीवों में वृद्धि होती है, अतः कहा गया है कि जब प्रचुर वर्षा होती है तो प्रसन्नता होती है कि बहुत अन्न उत्पन्न होगा। यह जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति,

3 वही, 1.10.1-7
4 छा0 उप0 2.4.1
5 वही
6 10.1
7 वही,

श्वापद, कीट-पतंगों और पिपीलिका आदि स्तर के प्राणी हैं, ये सभी मूर्तिमान् जल रूप ही हैं, अतः जल की उपासना श्रेष्ठ है।[8]

इस प्रकार जल का जीवन के लिए विशेष महत्त्व है, यह सिद्ध हो जाता है। एक स्थान पर ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र आदि के स्थित होने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस अक्षर के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी, निमेष, मुहूर्त, दिवा-रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर आदि स्थित हैं। इसी के अनुशासन में विभिन्न नदियाँ पर्वतों से निकलकर पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं में बहती है।[9] उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि यह भली-भाँति जानते थे कि सभी भौगोलिक घटकों-सूर्य, चन्द्र, ऋतु, संवत्सर नदी, पर्वत की संरचना ब्रह्म के अधीन है।

वृक्षों पर फूलों का आना, बढ़ना व पककर गिरना ऋतुओं पर निर्भर है। उक्त सत्य को प्रतीक रूप में ग्रहण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आम, गूलर अथवा पीपल का फल वृक्ष से अलग होकर गिरने लगता है उसी प्रकार वृद्धावस्था में शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है।[10]

बृहदारण्यकोपनिषद् में अग्नि की उत्पत्ति और उससे सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में दिशाओं और अवान्तर दिशाओं (कौणिक दिशाओं) का नाम नामोल्लेख करते हुए कहा गया है कि पूर्व दिशा उस विराट् का शीर्ष भाग है, ईशान दिशा और आग्नेय दिशाएँ उसकी दोनों बाहें, पश्चिम दिशा उसकी पूँछ तथा वायव्य और नैऋर्त्य दिशाएँ उस विराट् की जंघाएँ हैं। उत्तर और दक्षिण दिशाओं को उसका पार्श्वभाग तथा द्युलोक को पृष्ठभाग कहते हैं। अन्तरिक्ष उसका उदर प्रदेश और पृथ्वी वक्षस्थल (हृदय) है।[11]

इस प्रकार यहाँ दसों दिशाओं का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सूर्य में स्वयं का प्रकाश विद्यमान है, वह स्वयं प्रकाशित है तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। ऋषि इस सत्य को जानते थे। अतः कहा गया है कि सूर्य अकेले ही ऊपर, नीचे तथा इधर-उधर की सभी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान रहता है।[12] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी दिशाओं की जानकारी दी गयी है।[13]

छान्दोग्योपनिषद् में उत्तरायण और दक्षिणायन का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया गया है कि शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः मासों को प्राप्त करते हैं। इसी उत्तरायण के छः मासों

---

8 वही, 7.10.1
9 बृहदा0 3.8.9
10 वही, 4.3.3.6
11 वही 1.2.3
12 श्वेता 5.4
13 तैत्ति0 उप0 7.1

से संवत्सर को प्राप्त करते हैं।[14] जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि चन्द्रमा देवता इड़ा नामक नाडी में और सूर्य देवता पिङ्गला नाड़ी में संचरित होता है। पिङ्गला नाडी से इड़ा नाड़ी में जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, वह उत्तरायण कहलाता है। इसी प्रकार इड़ा से पिङ्गला में जो प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे दक्षिणायन के नाम से जाना जाता है। जब प्राण इड़ा और पिङ्गला की संधि में गमन करता है, तब अमावस्या होती है।[15] आगे कहा गया है कि जब प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है तो 'आद्यविषुव' नामक योग प्रकट होता है। जब प्राण वायु सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होता है, तब श्रेष्ठ तत्त्व का विचार करते हुए अन्तिम 'विषुव' योग कहा जाता है। सभी उच्छ्वास एवं निःश्वास मास संक्रान्ति माने गये हैं। जब प्राण इड़ा नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के क्षेत्र में आ जाता है तब 'सूर्यग्रहण' का समय होता है।[16]

इस प्रकार देखा जा सकता है कि वैदिक ऋषियों को उत्तरायण व दक्षिणायन की संक्रान्ति, पूर्णिमा, अमावस्या, चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण का सम्यक् ज्ञान प्राप्त था।

परमेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। उसी की सहायता से जीव नानारूपों में उत्पन्न होते हैं। औषधि, वृक्ष, पर्वत उसी के द्वारा रचे गये हैं। महोपनिषद् में कहा गया है कि कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्म रूप धारण किये हुए हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में है। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में तो कोई जम्बीर (नींबू) कदम्ब, आम, ताड़ और तमाल के वृक्षों के रूप में है। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर और मेरु आदि पर्वतों के रूप में तो कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में विद्यमान है।[17]

इस प्रकार यहाँ भारत के औषधि-वृक्षों और पर्वत आदि भौगोलिक उपादानों का वर्णन किया गया। इससे तात्कालिक भारत की भौगोलिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। एक अन्य स्थान पर भी नदी, तट, पर्वत, खाई, गुफा और निर्झर आदि भौगोलिक दृश्यों का वर्णन किया गया है।[18] अन्यत्र आरुण्युपनिषद् में पलाश, बिल्व, अश्वत्थ, उदुम्बर वृक्षों के दण्ड और मुञ्ज की मेखला को धारण किये जाने का वर्णन किया गया है।[19] भारत में ये वृक्ष और तृण बहुलता से पाये जाते हैं। आश्रमोपनिषद् में उदुम्बर, बदर (बेर), नीवार और श्यामक (साँवा) का वर्णन किया गया है और कार्तिक पूर्णिमा पर पुराने फलों के त्याग तथा नवीन के ग्रहण का

14 छा0 उप0 5.10.1-2
15 जाबाल0 4.39-42
16 वही 4.43-47
17 महोप0 5.139-141
18 जाबालो0 6.3
19 आरुण्यु0 5

भी वर्णन किया गया है।[20] एक स्थल पर दस प्रकार के ग्रामीण धान्यों का उल्लेख किया गया है- व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु, (सांवा), प्रियङ्गु (कांगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (धान) और खलकुल (कुलथी)। इन सबको पीसकर मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती थी।[21]

इस प्रकार तात्कालिक जन नाना धान्यों से भलीभाँति परिचित थे और कई प्रकार से खानपान एवं यज्ञ आदि में इनका प्रयोग करते थे। ये लोग पृथ्वी से खनिज निकालने, शोधने, विभिन्न धातुओं को गलाने और टांके लगाने की कला भी जानते थे, यथा कहा गया है कि लवण से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से रांगे को, रांगे से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है।[22]

आगे भेड़, बकरी, गो, अश्व और पुरुष की समृद्धि का भी वर्णन किया गया है[23] जिससे सुखी समाज के दर्शन होते हैं।

नादबिन्दूपनिषद् में ओंकार की बारह मात्राओं के साथ प्राणों के विनियोग और प्रारब्ध फल की प्राप्ति के प्रसंग में भारतवर्ष को सौभाग्य की भूमि मानते हुए कहा गया है कि ओंकार की द्वादश कलाओं की प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है तो वह भारतवर्ष में सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है।[24] इस प्रकार यहाँ प्रसंगवश भारतवर्ष की भौगोलिक समृद्धि का वर्णन किया गया है क्योंकि यहाँ योग्य पदार्थों की प्रचुरता है।

उपनिषत्काल में नैमिषारण्य ज्ञान तप, यज्ञ और उपासना के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। यहाँ दल्भ ऋषि के पुत्र बक ने उद्गीथ की उपासना की थी।[25]

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में नैमिषारण्य को ऋषियों के नियम-संयम से पवित्र करने वाले तीर्थ के रूप में वर्णित किया है।[26] नैमिषारण्य संभवतः आधुनिक नीमसार है, जो सीतापुर में 32 किमी0 तथा लखनऊ से 72 किमी0 दूर उत्तर पश्चिम में स्थित है। यहाँ महर्षि व्यास और उसके शिष्यों द्वारा वेद-वेदांगों का प्रवचन एवं संग्रह महाभारत युद्ध के पश्चात् किया गया था।

---

20 आश्रम0 3

21 बृहदा0 6.3.13

22 छा0 उप0 4.17.7 तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपुं त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा।।

23 छा0 उप0 2.6.1

24 नादबि0 उप0 12 प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते। भारते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते।।

25 छा0 उप0 1.3.13 तेन तं ह बको दाल्भ्यः विदांचकर। स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव सह सोमेभ्यः कामानागायति।

26 नारदप0 1.2

भारतवर्ष में विद्यमान कुछ जनपदों एवं नगरों का उल्लेख भी उपनिषदों में किया गया है। उनका नीचे क्रमानुसार विवेचन किया जा रहा है–

कुरु–छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध कुरुदेश का वर्णन इसी पत्र में ऊपर किया जा चुका है, जहाँ उषस्ति ऋषि द्वारा भोजन के अभाव में उडद खाये जाने का वर्णन किया गया है। जाबालोपनिषद् में कुरुक्षेत्र और ब्रह्मसदन (ब्रह्मावर्तः) का वर्णन पवित्र मोक्ष प्रदान करने वाले स्थान के रूप में किया गया है।[27] दक्षिणामूर्त्युपनिषद् (1) में ब्रह्मावर्त देश में महभाण्डीर नाम के वट वृक्ष के नीचे शौनकादि महर्षियों के द्वारा दीर्घकाल तक चलने वाले सत्र का वर्णन किया गया है। कुरुक्षेत्र तो वर्तमान में हरियाणा का प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र जिला ही है। ब्रह्मसदन सरस्वती नदी के किनारे का ब्रह्मतीर्थ है, ऐसा वामनपुराण के अनुसार कहा गया है।[28] मनु ने सरस्वती एवं दृषद्वती इन दोनों नदियों के मध्य भाग को ब्रह्मावर्त कहा है।[29]

कालिदास के मेघदूत के अनुसार उनके काल तक कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त सम्भवतः एक ही माने जाते थे।[30] इससे स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त एक ही था। ब्रह्मा की वेदी के कारण कुरुक्षेत्र ब्रह्मर्षि देश कहलाता था।[31]

पञ्चाल–छान्दोग्योपनिषद् में पञ्चाल जनपद का वर्णन किया गया है। जहाँ कहा गया है कि पञ्चाल नरेश की सभा में एक बाद अरुणि पुत्र श्वेतकेतु आया।[32] बृहदारण्यकोपनिषद् में कुरु और पाञ्चाल जनपदों का उल्लेख प्रायः एक साथ ही आया है।[33] कौषीतकि ब्रह्मणोपनिषद् में गार्ग्यबालाकि के कुरुपञ्चाल जनपदों के ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ का वर्णन किया गया है।[34] 'कुरु' राज्य के पूर्व में 'पञ्चाल' तथा दक्षिण में 'मत्स्य' जनपद था। 'कुरुक्षेत्र' प्रदेश के अन्तर्गत थानेश्वर सोनीपत, अगोन, करनाल, पानीपत और यमुना दोआब से लेकर गंगा के किनारे के पूर्वी जनपद मेरठ आदि थे।[35] पञ्चाल जनपद में बरेली, बदायूँ, फर्रूखाबाद, रुहेलखण्ड, बिजनौर आदि आते हैं। इसके पूर्व में गोमती और दक्षिण में चम्बल नदी बहती थी।

काशी–बृहदारण्यकोपनिषद् में काशी नरेश 'अजातशत्रु' का 'दृप्तबालाकि' के साथ शास्त्रार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है।[36] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् से भी इसकी पुष्टि होती है।[37]

27 जाबालो0 1.1
28 वामनपुराण 28.40
29 सरस्वती दृषद्वत्योः देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।। मनु0 2.7
30 मेघदूत पूर्व0 48 ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।।
31 वामन पु0 12.15
32 छा0 उप0 5.3.1
33 बृहदारण्यकोपनिषद् 6.2.1
34 कौषी0 उप0 4.1
35 ऐंशियेंट ज्योग्रैफी पृ0 360–कनिंघम
36 बृहदा0 2.1.1

एक अन्य परवर्ती उपनिषद् 'प्राणाग्निहोत्र' में 'काशी' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा कोई ब्राह्मण इस उपनिषद् को पढ़े तो एक ही जन्म में चित्त-शुद्धि करने वाले ज्ञान एवं मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[38]

'काशी' का समीपी जनपद 'कोसल' था। शतपथ-ब्राह्मण से पता चलता है कि हस्तिनापुर के राजा 'भरत' का राज्य 'काशी' तक विस्तृत था।[39]

कोसल-प्रश्नोपनिषद् में 'कोसल' देश के विद्वान् 'आश्वलायन' का 'पिप्पलाद' ऋषि से संवाद वर्णित है।[40] इसी उपनिषद् में कोसल देशवासी राजपुत्र 'हिरण्यनाभ' का संवाद भी वर्णित है।[41] एक अन्य उपनिषद् में उपकोसल कामलायन (कमल का वंशज) सत्यकाम जाबाल के आचार्यत्व में विद्याग्रहण करता हुआ वर्णित किया गया है।[42] प्रतीत होता है कि 'उपकोसल' 'कोसल' का समीपी स्थान रहा होगा। उत्तरकाल में 'कोसल' को सोलह महाजनपदों में मान्यता मिली थी।[43] इसके पश्चिम में 'कुरुपञ्चाल' और पूर्व में 'विदेह' था। विदेह से इसे 'सदानीरा' नदी पृथक् करती थी।[44]

विदेह-बृहदारण्यकोपनिषद् में 'विदेह' जनपद के राजा जनक और 'कुरुपञ्चाल' जनपदों के विद्वानों के साथ एकत्र होकर संवाद किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है।[45] परवर्ती महोपनिषद् में 'व्यास' के पुत्र 'शुकदेव' जी को उसके पिता समझाते हुए कहते हैं कि आत्मज्ञान की बातें 'मिथिलापुरी' में जाकर राजा जनक के पास सिखें। यहाँ 'मिथिलापुरी' का एक नामकरण 'विदेहनगरी' भी किया गया है।[46] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार विदेह 'माथव' ने पूर्वी भाग में आर्यसंस्कृति का प्रचार किया था।[47] वे मूलतः 'विदेह' के रहने वाले थे। 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' के अनुसार 'निमिसाप्य' राजा 'विदेह' का था।[48] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार कोसल और काशी राज्य इसे प्रभावित करते रहते थे।[49] सम्भवतया उक्त तीनों राज्यों की सीमाएँ खिसकती रहती होंगी। जो भी बलवान् राजा होता होगा वह दूसरे राज्य का भाग अपने अधीन करता रहा होगा।

---

37 कौषी0 उप0 4.1
38 प्राणानि0 23
39 श0 ब्रा0 13.5.4.21
40 प्रश्नो0 3.1
41 वही, 6.1
42 छा0 उप0 4.10.1
43 अंगुत्तरनिकाय 1.213, 4.252
44 कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया खण्ड पृ0 308
45 बृहदा0 3.1.1
46 महो0 2.19-20
47 शतपथ-ब्राह्मण 1.4.1.10
48 पञ्चविंश-ब्राह्मण 25.10.17
49 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.109.9

गन्धार-छान्दोग्योपनिषद् में गन्धार राज्य का उल्लेख किया गया है। वहाँ दिशाओं का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से प्रतीक रूप में कहा गया है कि यदि किसी पुरुष की आँखे बाँधकर गन्धार देश से अन्यत्र किसी निर्जन स्थान पर छोड दें तो दूसरे पुरुष की सहायता से वह पूछ-पूछकर एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए गन्धार देश में उसी प्रकार पहुँच जायेगा जैसे सदाचारी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म को पा लेता है।[50] यह राज्य सिन्धु नदी के तट के दोनों ओर स्थित था। तक्षशिला और पुष्करावती इसके दो नगर थे। वर्तमान में यह पश्चिमोत्तर पाकिस्तान और अफगानिस्तान के भूभाग में विद्यमान है।

केकय-छान्दोग्योपनिषद् में इस जनपद का उल्लेख किया गया है,[51] जहाँ कहा गया है कि केकय नरेश अश्वपति आत्मारूप वैश्वनार को जानते थे। सम्भवतया केकय राज्य गन्धार और व्यास नदी के मध्य में स्थित था।

मद्र-बृहदारण्यकोपनिषद्[52] में मद्र देश के रहने वाले पतञ्चल का उल्लेख किया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण[53] के अनुसार कुरु-पञ्चाल, वाश तथा उशीनर राज्य भारत के मध्य में निर्दिष्ट हैं। कौषीतकि उपनिषद्[54] में कुरुपञ्चाल मत्स्य और काशी एक साथ वर्णित किये गये हैं, जिनसे इनका समीप होना सिद्ध होता है तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का भी पता चलता है।

मत्स्य-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि गार्ग्यबालाकि मूलतः उशीनर प्रदेश के रहने वाले थे, किन्तु प्रसिद्ध वक्ता एवं अध्ययनशील होने के कारण वे मत्स्य, कुरु-पञ्चाल और काशी प्रदेश में भ्रमण करते रहते थे।[55]

उशीनर-ऊपर उशीनर राज्य का वर्णन आ ही चुका है।

विदर्भ-प्रश्नोपनिषद्[56] में विदर्भ देशवासी भार्गव का महर्षि पप्पलाद के साथ वार्तालाप वर्णित किया गया है इससे इस जनपद के पृथक् अस्तित्व का पता चलता है। मत्स्य और वायुपुराण के अनुसार यदुवंशियों ने इसे बसाया था।[57] प्रश्नोपनिषद्[58] में ही वैदर्भि कौण्डिन्य का नाम आया है। पश्चात् में कुण्डनपुर विदर्भ की राजधानी बन गयी थी।

50 छा० उप० 6.14.1-2
51 छान्दोग्योपनिषद् 5.11.4
52 बृहदारण्यकोपनिषद् 7.1.1
53 ऐतरेय-ब्राह्मण 8.14
54 कौषीतकि उपनिषद् 4.1
55 बृहदा० 3.1.1
56 प्रश्नोपनिषद् 1.1
57 मत्स्य पुराण 43.10-29, 44.36 वायुपुराण 94.25, 95.35
58 प्रश्नोपनिषद् 2.1

महावृष-छान्दोग्योपनिषद्[59] में महावृष जनपद का वर्णन किया गया है। वहाँ रैक्व नाम के ऋषि रहते थे। उनके नाम पर वहाँ के सभी गाँव रैक्वपर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सिन्धुदेश-बृहदारण्यकोपनिषद्[60] में सिन्धु नामक देश का वर्णन किया गया है जहाँ कहा गया है कि जैसे सिन्धु देश का श्रेष्ठ अश्व पैर बाँधने से खूंटी को उखाड़ डालता है वैसे ही प्राण ने सभी इन्द्रियों को विचलित कर दिया है। आज भी सिन्धु प्रदेश के घोड़े श्रेष्ठ होते हैं। भौगोलिक जलवायु के कारण ऐसा होता है।

इस प्रकार उपनिषदों में कुरु, पञ्चाल, काशी, कोसल, विदेह, गन्धार, केकय, मद्र, मत्स्य, उशीनर, विदर्भ, महावृष और सिन्धु जनपदों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें से प्रमुखता से सभी भारत की सीमा में हैं। कुछ जनपद भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में हैं, जो पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान में चले गये हैं। ये भी पहले भारत देश के अन्तर्गत थे। अतः उक्त जनपदों का सारा वर्णन भारतीय है, जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य भारत के मूल निवासी थे। उनका चिन्तन एवं उनके ग्रन्थ सभी भारतीय एवं मौलिक हैं। इस प्रकार यहाँ राजनीतिक भूगोल की एक अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। अन्तिम पृष्ठ पर इसका एक मानचित्र भी दिया गया है।

जाबाल दर्शनोपनिषद्[61] में श्रीपर्वत तीर्थ का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि बाह्य तीर्थ की अपेक्षा आत्मतीर्थ (आत्मज्ञान) श्रेष्ठ है।

मैत्रेय्युपनिषद्[62] में मैत्रेय ऋषि के महादेव के निवास स्थान कैलास पर्वत पर जाकर परमतत्त्व के सम्बन्ध में संवाद किये जाने का वर्णन किया गया है। निश्चय ही कैलास पर्वत भारत का शीर्षभाल रहा है।

इस प्रकार उपनिषदों से कई प्रकार की भौगोलिक जानकारी उपलब्ध होती है। भारत की भौगोलिक जानकारी के लिये ये ग्रन्थ मूलस्रोत का कार्य करते हैं। यदि अन्य ब्राह्मण, आरण्यक, वेदांग, रामायण, महाभारत, पुराण और महाकाव्य आदि लौकिक संस्कृत-ग्रन्थों को साथ लेकर उक्त अध्ययन किया जाए तो उक्त भारतीय भौगोलिक ज्ञान के प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ऐतिहासिक रूप से भी इनका योगदान अप्रतिम सिद्ध होगा।

59 छान्दोग्योपनिषद् 4.2.4

60 बृहदारण्यकोपनिषद् 6.1.13

61 जाबाल दर्शनोपनिषद् 4.48.53

62 मैत्रेय्युपनिषद् 2.1

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0110-114)

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण

डॉ0 जगत नारायण त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक-संस्कृत
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय
देवेन्द्रनगर, पन्ना (म0 प्र0)

बंकिमचन्द चटर्जी के '**सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां**' में जिस पृथ्वी का चित्र अंकित है, उसमें पर्यावरण संरक्षण का समग्र जीवनदर्शन निहित है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपायों से भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग छोटे-बड़े उद्योगों में लगा हुआ है। परन्तु यदि खुली हवा में साँस न लिया जा सके, प्रकृतिप्रदत जल पिया न जा सके तथा पृथ्वी से उत्पन्न अन्न एवं फल खाया न जा सके तो विकास की सभी व्यवस्थायें अर्थहीन हो जायेंगी।

प्राचीन ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को समझकर ही वन उपवन लगाने की परम्परा आश्रम के साथ डाली थी। अग्नि, हवा, पर्जन्य, वरुण, सोम, सविता, पृथ्वी, वृक्ष इत्यादि सभी वैदिक ऋषियों के पूज्य रहे हैं। भारतीय दृष्टिकोण में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। प्राकृतिक शक्तियों की यह उपासना श्रद्धा संवलित कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी। भूमण्डलीय पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राकृतिक शक्तियों के सन्तुलन विषयक ऋषियों द्वारा की गई मंगल कामना द्रष्टव्य है -

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः। शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[1]

पर्यावरण के प्रमुख घटक वृक्ष वनस्पतियों के संरक्षण के संदर्भ में प्राचीन दृष्टिकोण आज भी अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक है। ज्ञातव्य है कि कुछ वृक्षों में एक रस स्राव 'मेलाटोनिन' पाया जाता है।[2] यह हारमोन केले, पीपल और बरगद जैसे पेड़ों में सर्वाधिक परिणाम में पाया जाता है। शायद इसीलिए धार्मिक और आध्यात्मिक कृत्यों में इनका ज्यादा महत्त्व बताया गया है। ज्यादातर धर्मकृत्यों में केले के तने और पत्तियों के प्रयोग का विधान है। गीता में श्रीकृष्ण ने पेड़ों में स्वयं को पीपल बताया है। बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति बरगद के नीचे ही प्राप्त हुई थी। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि इस हारमोन की वजह से व्यक्ति को चिरयुवा बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष वनस्पतियों में चेतना की स्वीकृति, देवत्व

1 शुक्ल यजुर्वेदः
2 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका अक्टू0 1996 पृ0 17

की प्रतिष्ठा, पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पाप-पुण्य की अवधारणा आदि प्राचीन अवधारणायें पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

मत्स्यपुराण में पुत्रों से भी अधिक वृक्षों के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला निम्न कथन पर्यावरण की दृष्टि से अतिसार्थक है-

दशसकूपसमोवापी दशवापी समो ह्रदः।

दसह्रदसमः पुत्रो दसपुत्र समो द्रुमः॥

अर्थात् दसकूप के समान पुण्य एक वापी बनाने में, दस वापी का पुण्य एक तालाब बनवाने में, दस तालाबों का पुण्य एक पुत्र से, तथा दस पुत्र के समान पुण्य एक वृक्ष लगाने से होता है। कुपुत्र या धर्मविमुख पुत्र से अपयश की आशंका रहती है, लेकिन वृक्षरूपी पुत्र तो सदा कल्याणकारी होते हैं।

पुत्रैर्विना शुभफलं न भवेन्नराणाम्,

दुष्पुत्रकैरपि तथोभयलोकनाशः।

एतद्विचार्य सुधिया परिपाल्यवृक्षान्,

यत्नेन वेदविधिना परिकल्पनीया॥[3]

वृक्षों की पुत्ररूप से प्रतिष्ठा तथा इससे भी बढ़कर उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा का भाव प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है। वृक्षों की धर्मपुत्र या पुत्ररूप में मान्यता का उल्लेख अग्निपुराण में निम्न प्रकार से किया गया है-

तस्माद् सुबहवो वृक्षा रोप्या श्रेयोऽभिवाञ्छता।

पुत्रवत् परिपाल्याश्च ते पुत्रा धर्मतः स्मृताः॥[4]

प्रायः समस्त संस्कृत साहित्य पर्यावरण संरक्षण के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से परिचित थे। महाभारत में तो वृक्षों को पुत्र के समान मनुष्यों को तारने वाला तथा यशप्रदान करने वाला बताया गया है -

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।

वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति पत्रतुतु॥[5]

न केवल वृक्ष वनस्पतियाँ वरन् धार्मिक व्रत अनुष्ठान, त्यौहार, पूजा पद्धति इत्यादि सभी क्रियाओं में पर्यावरण संरक्षण की व्यापक भावना समाई हुई है। श्रीकृष्ण का गोवर्धन पूजा का संदेश पर्यावरण के प्रति इसी सजगता का निदर्शक है। पर्वत शिखर मेघों को रोककर वर्षा के कारक बनते हैं। राजस्थान की अरावली पर्वत श्रेणियों के आस-पास अच्छी वर्षा तथा शेष भाग

3 ब्रह्मवैवर्तपुराण॥

4 अग्निपु0।

5 महा0 अनुशासन पर्व 30

में तपता दहकता रेगिस्तान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कृषि का सफल होना पौधों पर निर्भर है। संस्कृत कवि कालिदास ने मेघदूत में मेघ की इसी महत्ता को समझकर ही उससे भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित किया है। यदि इसके मर्म को न समझकर इसके स्वरूप धूम, ज्योति, जल और हवा को प्रदूषित होने से नहीं बचाया गया तो उसकी तेजाबी वर्षा जल को तेजाब में बदल देगी। जो मानव ही नहीं बल्कि समूची प्रकृति के विनाश का कारण सिद्ध होगी।

पर्यावरण की शुद्धता का रहस्य भी हमारे त्यौहारों में छिपा है। निदर्शन के लिए होली त्यौहार शीतकाल का संचित कफ वसन्त की गरमी पाकर पिघलता है। उसके सब कीटाणु शरीर में फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफरोग के लिये आयुर्वेद और लोक में प्रसिद्ध है। विशेषकर बालकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग इस मौसम में होते हैं। घरों में शीतकाल मे पूर्ण गरमी न पहुँचने के कारण कई प्रकार के कीटाणु अपना स्थान बना लेते हैं, जो कई प्रकार की हानि करते हैं। शरीर में उत्साह लाना, कूदना, अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाज से गाना आदि सभी काम कफ के निवर्तक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानों से कफ रोगों की निवृत्ति में किसी को सन्देह नहीं। इस अवसर पर हास्यरस प्रधान गान और यथेच्छभाषण स्वभावत: उच्चस्वर से बोले जाने के कारण कफ हटजाने से फेफड़े साफ हो जाते हैं।

आज का मानव पूर्णतया भौतिकता में निमग्न है। स्वार्थ के वशीभूत मानव अपने परिवेश के प्रति संवेदना शून्य हो गया है। पर्यावरण संरक्षण की प्राचीन महत्ताओं को अज्ञानतावश या आधुनिकतावाद के कारण न समझकर विनाश के दलदल में फंसता चला जा रहा है। वनों की अन्धाधुन्ध कटाई से पर्यावरण सन्तुलन का आधार डगमगा रहा है। सबके मूल में एक संकट है- जनसंख्या वृद्धि। आज हम जहाँ रह रहे हैं, उसके साधन सीमित हैं। आबादी बढ़ने के साथ-अन्न उत्पादन भी बढ़ना चाहिए। आवास के लिए भूमि भी चाहिए। खाद्यान्न उत्पादन नई-नई वैज्ञानिक विधियों द्वारा बढ़ाया जा रहा है। इससे तात्कालिक राहत तो जरूर मिल रही है। लेकिन इन रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग उपभोक्ता और मिट्टी की उर्वरता दोनों के लिये गम्भीर परिणाम की चेतावनी है। दूसरी मुख्य समस्या आवास की है। जमीन का दो तिहाई भाग जल से भरा है। एक तिहाई हिस्से में पर्वत, वन सभी सम्मिलित हैं। यदि आवास योग्य भूभाग में ही आबादी को रखा जाए तो यह एक छोटे से बाडे में अनेक पशुओं को रखने जैसी स्थिति हो जायेगी। ऐसे वातावरण में सभी के लिए शुद्ध हवा, प्रकाश एवं जल की कल्पना निरर्थक है। ऐसे में विकल्प बचता है वनों को काटा जाए, पहाडों को समतल बनाया जाए। इससे प्रकृति और पर्यावरण दोनों प्रभावित होंगे। जंगल कटेंगे तो वर्षा घटेगी, आबादी बढ़ेगी तो उद्योग बढ़ेंगे। उद्योग बढ़ेंगे तो प्रदूषण बढ़ेगा और पर्यावरण अस्वास्थ्यकर बनता चला जायेगा। विश्वजनसांख्यिकी रिपोर्ट के अनुसार दुनियाँ की कुल आबादी आज से 9 हजार साल पूर्व मात्र 45 लाख थी। सन् 1501 में यह 44 करोड, 1630 में 52 करोड 1855 में 98 करोड, 1950 में 210 करोड, 1975 में 1400 करोड तथा 1996 में 620

करोड़ हो गई।[6] इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि पर्यावरण प्रदूषण का सबसे प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विलासिता के लिये किए जा रहे आविष्कारों से भी पर्यावरण का खतरा मंडरा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण का गंभीर स्रोत परमाणु अस्त्रों के परीक्षण निर्माण और दुर्घटना से जुड़ा है।

आधुनिक विकास की जो भी रीति या नीति रही है। इसके द्वारा भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है, परन्तु मानवता का अपेक्षित विकास नहीं हुआ। प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राचीन ऋषि आश्रमों में जहाँ विवाह पुत्रजन्मोत्सव आदि शान्तिमय वातावरण में संपन्न होते थे वहीं आज छोटे-छोटे कार्यों में भी लाउडस्पीकरों की भयावह ध्वनि लोगों के सुनने की शक्ति में ह्रास पैदा कर रही है। स्वस्थ पर्यावरण में पलने के कारण ही दुष्यन्त पुत्र भरत में सिंह शिशु के साथ खेलने की क्षमता रही है। यज्ञाग्नि में डाली गई विधिवत् आहुतियों से वर्षा होती है। जिससे शस्यश्यामला धरती परिकल्पित है। किन्तु आज बढ़ते उद्योगों के कारण वायु प्रदूषण का गंभीर खतरा बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विकास के लिये किये जा रहे सम्पूर्ण प्रयास पूर्णतया व्यर्थ हैं। अपितु आवश्यकता है वर्तमान विचारधाराओं तथा प्राचीन तथ्यपूर्ण मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने की। जरूरत औद्योगिक विकास और भौतिक उन्नति को अवरूद्ध करने की नहीं, अपितु इसके मूल में प्रवहमान पाश्चात्त्य एकांगी विचारधारा में परिवर्तन की है। इसके लाभ और हानि को समझते हुये इस उन्मुक्त हाथी के ऊपर अंकुश रखा जाए। भौतिक प्रगति के इस बाघ को यदि खुला छोड़ा गया तो यह किसी को छोड़ने वाला नहीं है। इस टेक्नालॉजी और बौद्धिक विकास, आर्थिक विकास के पीछे आध्यात्मिकता का अंकुश उसी प्रकार रखा जाए जिस प्रकार पागल हाथी के सूंड़ के ऊपर एक अंकुश रखा जाता है। आध्यात्मिक का अभिप्राय केवल धार्मिक अनुष्ठानों से नहीं है, बल्कि महानता से है इंसानियत से है तथा कर्तव्यपरायणता से है, जिसके विकास से परमाणु अस्त्रों की विभीषिका तथा भीषण रक्तपातादि जनित प्रदूषणों से सहज मुक्त हुआ जा सकेगा। पर्यावरण प्रदूषण का कारण बने इन अस्त्र-शस्त्रों के निर्माणादि पर जो धन-बल लग रहा है, उसे राष्ट्र के अन्यत्र विकास में लगाया जा सकेगा। बड़े-बड़े उद्योगों से उत्पादन तो बढ़ता है, किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाली घातक विषाक्तता उत्पादन की अपेक्षा अधिक मँहगी पड़ती है। प्रदूषण वृद्धि रोकने के लिए बड़े उद्योगों का कुटीर उद्योंगों में परिवर्तन किया जाए। जिससे उत्पादन में कमी तो हो सकती है, किन्तु दूरगामी परिणामों की दृष्टि से देखा जाए तो बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रदूषण में कमी अवश्य होगी। आवश्यकताओं को कम करके काम चलाया जा सकता है, किन्तु उद्योगों के प्रदूषण की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले प्राकृतिक विक्षोभों को सहन करना असह्य है। पर्यावरण के परिशोधन के लिए प्राचीन ऋषि चिन्तन को जनसामान्य के चिन्तन में उतारा जा

6 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, दिस0 1996 पृ0 33

सके तो पर्यावरण की शुद्धता के साथ-साथ कर्तव्य की निकृष्टता तथा चिन्तन की भ्रष्टता का परिष्कार संभाव्य है। प्राचीन चिन्तन की सार्थकता और उद्देश्य को समझ लेने पर शायद हम पर्यावरण को बचा पायेंगे और मानव जीवन को सुरक्षित कर सकेंगे।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0115-120)

जैन चिन्तन में कर्मफलभोग

(इसिभासिमयाइं सुत्ताइं के विशेष सन्दर्भ में)

डा0 वीरेन्द्र कुमार अलंकार
संस्कृत-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

भारतीय दर्शन में कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म और मुक्ति की विशद चर्चा है। जैन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। इसिभासियाइं सुत्ताइं (ऋषिभाषितानि सूत्राणि)' कृति में अर्हतर्षि प्रोक्त सूत्र हैं। इन सूत्रों में बड़ी रोचक शैली में जैन परम्पराओं, मान्यताओं, अवधारणाओं का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ का सम्पादन तथा अनुवाद पं. मुनि श्री मनोहरमुनि जी महाराज ने किया है। इस अद्भुत ग्रन्थरत्न की संस्कृत टीका तथा हिन्दी गुजराती अनुवाद मूल प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण में परम सहायक है। पैंतालीस अध्ययनों में विभक्त इस ग्रन्थ में जैन आचार संहिता का सुन्दर विधान है। तुलनात्मक समीक्षा द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि कर्म सम्बन्धी विवेचना में इसका कुछ साम्य वैदिक दर्शन से तथा कुछ साम्य गीता से भी है।

ध्यातव्य है कि जैन विचारणा में वैदिक दर्शन की भाँति जन्म का आधार कर्म ही स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शन में जीवात्मा को कार्य करने में स्वतन्त्र तथा फलभोग में परतन्त्र माना गया है। क्योंकि जो परमेश्वर कर्म करता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता। इसलिए जीव अपने कर्म में स्वतन्त्र है।[1] परमेश्वर की प्रेरणा से ही जीव कर्म करे तो फलव्यवस्था की व्याख्या सम्भव नहीं है। कर्म के अनन्तर उसका फल अवश्यंभावी है। फल भोग में परतन्त्रता गीताकार को भी मान्य है।[2]

जैन सम्प्रदाय में कर्म ही परलोक या पुनर्भव का आधार है। कर्मानुगामी आत्मा जिस दुःख से भीत होकर पलायन करता है, अज्ञानवश पुनः उसी दुःख को ग्रहण करता है, जैसे कि युद्ध से भागती हुई सेना पुनः शत्रु के घेरे में फंस जाती है -

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति किच्चा दिन्ना व वाहिणी।।[3]

सांख्य में जिस दुःखापघातक हेतु विषयक जिज्ञासा का उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने किया था, वही जिज्ञासा जैन परम्परा में भी दिखाई देती है, किन्तु जैनदर्शन अपनी बात घुमा फिरा कर

1 द्र. सत्यार्थ-प्रकाश (समुल्लास-7): दयानन्द सरस्वती
2 श्रीमद्भगवदगीता-2.47 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषू कदाचन।
3 इसिभासियाइं सुत्ताइं-अनु मनोहरमुनि जी महाराज, सुधर्माज्ञान मन्दिर कान्दावाडी, मुम्बई 1963, (अध्याय-2.1)

नहीं कहता, वहाँ कर्म करने वाला आत्मा है, इसलिए आत्मा ही दु:ख भोगता है। तभी तो समस्त आत्माएँ दु:ख की उपशान्ति खोज रही हैं। वह दु:खमुक्ति तो चाहता है, पर उसके कारण को नहीं छोड़ पाता। मानो उसने नागरबेल की जगह भूल से नागफनी का पान खा लिया है। वस्तुत: अशान्ति का मूल है आरम्भ। सुख के लिए वह आरम्भ करता है, किन्तु आरम्भ ही अशान्ति की जड़ है। किन्तु यदि आत्मा के परिभ्रमण के मूल हेतु कर्म हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि कर्म पहले माना जाए या आत्मा। यदि आत्मा पहले था तो उस कर्मरहित आत्मा ने कर्म क्यों ग्रहण किये, और यदि कर्म पहले थे तो दूर पड़े ये कर्म आत्मा से क्यों और कैसे चिपक गए? इस प्रश्न का उत्तर प्राय: सभी प्रस्थानों के आचार्य टटोलते रहे और इस सृष्टिगत जन्मपरम्परा को अनादि परम्परा माना। जैन प्रस्थान के आचार्य भी इस प्रश्न से विमुख नहीं हुए और समाधान खोजने का प्रयास किया है। सब जानते हैं कि बीज में विराट् वृक्ष समाया हुआ है। अनुकूल वातावरण में बीज एक दिन विशाल वृक्ष बनता है, जिसमें असंख्य बीज छिपे रहते हैं। कर्म भी बीजवत् है। अल्परूप में आए हुए कर्म अपने में अनन्त संसार लिए आते हैं और तब मात्रा आरम्भ होती है, भाव कर्म से द्रव्य कर्म की। भाव कर्म से प्रेरित हो आत्मा द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। विपाकरूप में उदित ये कर्म किसी निमित्त को ही सब कुछ मान बैठते हैं और कर्म दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुए भी अनादि के सहयात्री हैं। इस प्रकार बीज से अंकुर फूटता है और अंकुरों में से बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की सम्पदा बढ़ती है। इस अनादि संसार में कर्म बीजवत् है। मोह मोहित चित्तवाले के लिए उन बीजों से कर्मसन्तति आगे बढ़ती है -

बीया अंकुरणिप्फत्ती अंकुरातो पुणो बीयं।
बीए संवुज्झज्जमाणम्मि अंकुरस्सेव संपदा।।
बीयभूताणि कम्माणि संसारम्मि अणादिए।
मोहमोहितचित्तस्स ततो कम्माण सन्तति।।[4]

वैदिक दर्शन में आत्मा का अपना स्वरूप शुद्ध और पवित्र माना गया है। जैन आचार्य भी मानते हैं कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है, किन्तु फिर वह निम्न और तिर्यग् गति क्यों करता है। इसका उत्तर यही है कि तुंबे का स्वभाव जल में तैरना है, पर यदि उसे धागों से बान्धकर मिट्टी का लेप कर पानी में डाला जाये तो वह डूब जायेगा। स्पष्ट है कि तुंबे के डूबने में वह लेप कारण है। इसी प्रकार इस दु:ख रूप संसार में आत्मा के डूबे रहने का कारण भी लेप है। इसलिए ममत्त को समस्त लेपों से उपरत होना चाहिए। **भविदव्वं खलु भो सव्वलेवोवरत्तेण।**[5] कर्म और कषाय ही लेप हैं राग द्वेष से अभिभूत आत्मा सूक्ष्म या स्थूल हिंसा कर बैठता है और पापकर्म में लिप्त हो जाता है-

4 वही-2.4-5
5 वही- (अध्ययन-3) पृ0-11

सुहुमेय बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ।
रागदोसाभिभतूप्पा लिप्पते पावकम्मुणा।।[6]

इस प्रकार रागद्वेष पहली वृत्ति है, जो आत्मा को कर्म में लिप्त करती है। दूसरी वृत्ति परिग्रह है। असत्य, चोरी, कामवासना, क्रोध भी लेप हैं।

जैन दर्शन में पुनर्भव की स्पष्ट अवधारणा है। इन लेपों से आवेष्टित आत्मा निम्न और तिर्यग् गति करता है। अज्ञान के कारण ही आत्मा दुःख रूप संसार में डूबा रहता है। **दुक्खमूलं च संसारे अण्णाणेण समज्जितं।**[7]

जैन दर्शन में आचार का विशेष महत्त्व है। मनुष्य अपने फल भोग का उत्तरदायी स्वयं है। प्राणी के शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के बीज हैं। कर्म का अनुबन्ध भवपरम्परा में परिभ्रमण कराता है। आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध होकर परलोक-गमन करता है। आर्त्त आत्मा स्वकर्म से सिक्त सिंचित जन्म और मृत्यु की परम्परा में फंसता है-

गच्छंति कम्मेहिं सेऽणुबद्धे पुणरवि आयाति से सयं कडेणं।
जम्ममरणाइ अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्म सित्ते।।[8]

जन्म और मृत्यु की परम्परा कर्म और कर्मफल के अस्तित्व को सूचित करती है। जब तक जन्म है तब तक कर्म है। कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है। **जाव जाव जम्मं ताव ताव कम्मं, कम्मुणा खलु भो पया सिया।**[9] जैनदर्शन मानव को स्वावलम्बन का संदेश देता है। भिखारी बनकर क्यों किसी के सामने हाथ फैलाना। पुण्य कोष भरा होगा तो मिलेगा ही। जैन कर्मवाद का यह सिद्धान्त है कि जिस विषफल से तू भागना चाहता है, उसके बीज एक दिन तेरी आत्मा ने बोये थे। किसी दूसरे पर दोष कैसा? देहधारी आत्मा को पुण्य पाप के आदान-प्रदान ग्रहण और परिभोग में योग्य वस्तुओं की परम्परा प्राप्त होती है, वह स्वकृत पुण्य और पाप के फलस्वरूप ही है-

पुण्णपावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिणं।
सन्तई-भोग-पाउग्गं पुण्णं पावं समं कडं।।[10]

जिन निमित्तों को पाकर आत्मा कर्म ग्रहण करता है, वे पाँच है-मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, प्रमाद, कषाय और योग। यहाँ योग का अर्थ है चंचलता। उमा स्वाति ने इन्हें बन्ध हेतु माना है-**मिथ्यादर्शनाविरतप्रमादकषाययोगबन्धहेतवः।**[11]

6 वही-3.1
7 वही-2.8
8 वही-2.3
9 वही-9, पृ0 31
10 वही-9.3
11 तत्त्वार्थसूत्र-8.1

विश्ववैचित्र्य की व्याख्या दो स्तरों पर की जाती है-प्राकृतिक दूसरी प्राणिजन्य। सांख्य की भाषा में इसे जड़ जगत् और चेतन जगत् कह सकते हैं। इस जड़ (प्राकृतिक) जगत् में सूर्य दिन में क्यों निकलता है? पूर्व में ही उदित क्यों होता है। इतने तारे आकाश में क्यों इन प्रश्नों का समाधान तर्क के पास नहीं, वह स्वभावगत है, पर प्राणिजन्य (चेतन जगत्) वैचित्र्य का समाधान मनुष्य करना चाहता है। एक मोटा क्यों है, दूसरा पतला क्यों? कोई लम्बा कोई नाटा , कोई धनवान्, कोई फटेहाल क्यों, एक ही बीमारी में डॉक्टर द्वारा एक जैसी दवा दिये जाने पर एक रोगी स्वस्थ हो जाता है दूसरा मर जाता है या रोग बढ़ जाता है। इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर स्वभाव के पास नहीं, बल्कि कर्मवाद के पास है। जिस व्यक्ति ने दूसरे को रुलाया है, पीड़ित किया है, वह तज्जन्य कर्मों को एकत्र करता है, फिर जब तक वे कर्म रहते हैं कोई दवा इजेंक्शन दे दिये जाएँ उसे स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। यही है कर्म का प्रतिबन्धकत्व। महाभारतकार का यह श्लोक यहाँ उद्धरणीय है-

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततो जयति सपत्नान् समूलं तु विनश्यति।।[12]

जैन यथार्थवादी दर्शन है। वह जीवन की सच्चाई को माया या मिथ्या नाम देकर मुंह मोड़ना नहीं चाहता। वह यथार्थ में जीता है। इसलिए मानता है कि यह विराट् विश्व सत्य है-**अधा सच्चं इणं सव्वं।**[13] यह विश्व भला स्वप्न कैसे हो सकता है! अनदेखी या अनसुनी वस्तु का स्वप्न कभी नहीं आता। यह माया भी कोई तत्त्व है या नहीं। यदि तत्त्व नहीं तो दिखायी क्यों देती है और तत्त्व है तो फिर माया। (अवास्तव कल्पना) कैसी? यह वदतोव्याघात क्यों? अतः इस विश्वव्यवस्था को सत्य मानना पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि यह विचित्रता क्यों? समाधान यह है कि जो कर्म यहाँ किये जाते हैं, आत्मा उन्हें परलोक में अवश्य भोगता है। जिन वृक्षों को मूल सिंचित किया गया है, उसका फल शाखाओं पर दिखाई देता है-

इध जं कीरते कम्मं तं परतोवभुज्जई।
मूलसेकेसु रुक्खेसु फलं साहासु दिस्सति।।[14]

खेत में जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल आता है। इसी प्रकार जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है। प्याज खाकर इलायची की डकार नहीं ली जा सकती। किये कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। कर्म हमारे जीवन के निर्माता हैं, पर कर्म के निर्माता हम हैं। कोई हमारा धन, आरोग्य, स्वास्थ्य मित्र भले ही छीन सकता हो, पर हमारे कर्म तो हमारी मृत्यु के बाद भी पीछा करेंगे। पचाने वाले को एक दिन पकना पड़ेगा। दूसरे की निंदा पर मुस्कुराने वाले को एक दिन निन्दित होना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी कर्म निरर्थक नहीं जाता-

12 मनुस्मृति-4.174
13 इसि मासियाइं सुत्ताइं-30 पृ० 181
14 वही-30.1

णत्थि कम्मं णिरत्थकं।[15] भगवान् महावीर मानते हैं कि सुन्दर कर्मों का प्रतिफल सुन्दर और बुरे कर्मों का प्रतिफल सदैव असुन्दर ही होगा- **सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति।** बात केवल परलोक की नहीं है। इस जीवन में भी भद्र कार्यों को दुनिया भद्र मानती है और मधुर रूप में स्वीकारती है तथा कड़ुवे को कड़ुआ और कठोर को कठोर ही कहा जाता है। इसलिए जैसा कर्म वैसा फल यही जैन दर्शन की स्थापना है-**जारिसं किज्जते कम्मं तारिसं भुज्जते फलं।।**[16]

कोई भी आत्मा कषाय अथवा हिंसा करके अबाध सुख प्राप्त नहीं कर सकता। **णेव इमा पया कयाइ अव्वावाह सुहमेसिया कसं कसाविता।**[17]

अब प्रश्न यह शेष रहता है कि क्या कर्मफल से मुक्ति सम्भव है? इसका स्पष्ट उत्तर है–नहीं। स्थान विशेष के भ्रमण से पाप पुण्य और पुण्य पाप नहीं हो सकते। बीमार आदमी स्वर्णमहल में रहे या पाषाण किले में। उसे शान्ति तभी मिलेगी जब वह रोगमुक्त होगा। यह तो निर्विवाद है कि-**जरिसं वुप्पते बीयं तारिसं भुज्जए फलं।**[18]

इस संदर्भ में यह भी सिद्धान्त है कि जीव स्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है, परकृत कर्मों का नहीं-**अत्तकडा जीवा नो परकडा किच्चा किच्चा वेदेति।**[19] इस दर्शन दिशा के पीछे जैनदर्शन व्यावहारिक समीक्षा भी करता है। वस्तुतः जैनदर्शन मनुष्य को स्वावलम्बन का संदेश देता है।

इस प्रकार जैन दर्शन पारलौकिक ही नहीं व्यावहारिक दर्शन भी है। इहलोक और परलोक में अपूर्व समन्वय यहाँ दिखायी देता है। कर्मवाद का यह जैनसम्मत सिद्धान्त मानव को आन्तराभिमुख बनाता है जो कुछ बनता बिगड़ता है, उसके उत्तरदायी हम स्वयं हैं, दूसरे पर रोष और दोष क्यों आरोपित करें। स्वयं के उत्थान के लिये स्वयं ही जिम्मेवार होना पड़ेगा। दूसरा तो निमित्त मात्र है। कर्मवाद का रहस्य इसी में है कि हे मानव! सब कुछ तेरे हाथ में है। भाग्यवाद का निर्बल सहारा लेकर व्यक्ति कब तक पलायन करता रहेगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि जैनदर्शन में इस जगत् को शाश्वत नित्य माना गया है-लोए ण कताई णासी, ण कताई ण भवति ण कताई ण भविस्सति भविं च भवति य भविस्सति य धुवे सासए, अक्खए, अव्वए अविट्ठिए णिच्चे कयातिणासी जावणिच्चा एवामेव लोके विण कयाति णासी जावणिच्चे।[20] अतः इस अव्यय, अक्षय लोक से तर कर ही दुःख मुक्ति संभव है।

15 वही-30.5
16 वही-30.3
17 वही-अध्ययन-31पृ0 187
18 वही-30.2
19 वही, अध्ययन-31, पृ0 191
20 वही, पृ0 191

कर्मविरति की पद्धति भी जैनदर्शन में प्रतिपादित है। विस्तारभयात् उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है।

जैनदर्शन का कर्म और कर्मफल सिद्धान्त बौद्धिक व्यायाम नहीं है, वरन् दार्शनिक धरातल पर इसकी तुलना मुख्यत: वैदिक दर्शन से की जा सकती है और व्यावहारिक धरातल पर यह जीवन की एक सुन्दर कला है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0121-124)

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग

डॉ0 (श्रीमती) मनोरमा गुप्ता
विभागाध्यक्ष (संस्कृत)
कानपुर विद्यामन्दिर महिला महाविद्यालय
कानपुर
कु0 दीप्ति श्रीवास्तव
शोध-छात्रा (संस्कृत)

अनादिकाल से जीव अज्ञानवश संसार-सागर में पड़ा है। जन्म-मरण रूप में न जाने कितनी बार वह निमज्जन कर चुका है और जब तक मुक्त नहीं हो पाता, तब तक सदैव निमज्जन ही करता रहता है। ऐसे जीव को कृपावश परमात्मा की प्राप्ति करा देना ही श्रीमद्भगवदगीता का प्रधान सन्देश है। गीता में जीवन जीने की कला का निरूपण है, वह परमार्थ के प्रयोग के व्यवहार में अद्भुत कला है। इस कला में प्रवीण मानव मनोजय के साथ-साथ कर्म तथा धर्म पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन एवं मनन करने वाले मानव को कर्म का बन्धन और धर्म की आसक्ति कदापि बाँध ही नहीं सकती है, वह अपने शरीर, मन और बुद्धि के समन्वित एवं हितकर सन्तुलन से अपने लिए 'निष्काम कर्मयोग' एवं 'अनन्य भक्तियोग' से मार्ग प्रशस्त करता है। उन पर निर्णयपूर्वक एवं निःशंक चलते हुए तथा जीवन के संघर्षों का सामना करते हुए भय और मृत्यु को परास्त करता है। अतः समस्त शास्त्रों का साररूप एक शास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता ही है, जिसका अद्भुत गान देवकीनन्दन कृष्ण ने किया है-

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्यं देवस्य सेवा॥"[1]

श्रीमद्भगवद्गीता का उत्कृष्ट एवं अनामनय पद की प्राप्ति कराने वाला अकाट्य ज्ञान न केवल भारतीय दार्शनिकों एवं विचारकों को प्रभावित करता है, अपितु पाश्चात्त्य दर्शनिकों को भी आकृष्ट करता है, वे भी गीता के ज्ञान-प्रकाश की किरण-पुंज को प्राप्त करने हेतु इसका अध्ययन एवं मनन करते हैं। जर्मन के विद्वान् 'मैक्समूलर' का मत है कि मृत्युरूपी अन्धकार पर विजय प्राप्त करने के लिए और प्रकाशस्वरूप आत्मा को जानने के लिए गीता-ज्ञान का आत्मबल अपरिहार्य है-

1 स्कन्दपुराणा-भगवद्गीता महात्म्य

"If I am asked what is the preparation for death. I shall certainly point towards the philosophy of the Gita."[2]

श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र है। शास्त्र का अर्थ होता है किसी विषय का व्यवस्थित अध्ययन। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म का नहीं बल्कि 'योग' का व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। अतः गीता का मुख्य उपदेश 'योग' है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'मिलना' अथवा संयोग अथवा तादात्म्य। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार कर्मों में कौशल (पूर्णता) ही योग है।[3] योग का अर्थ समझाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि **'युक्त आहार, विहार, कर्मों से युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्न और युक्त जागरण वाले के लिए योग दुःख का नाशक होता है।'** एक अन्य स्थान पर योग को 'समत्व' कहा गया है। यहाँ पर युक्त अथवा समत्व का अर्थ सन्तुलित नहीं है। 'युक्त' तथा 'समत्व' से तात्पर्य है कि 'जागृत', स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्था में खाते-पीते और कर्म करते सभी क्रियाओं में हाथी, कुत्ते और ब्राह्मण तथा चाण्डाल आदि सभी जीवों में ईश्वर दिखाई पड़ना अर्थात् सभी अवस्थाओं में ईश्वर से तादात्म्य रहना।' इस प्रकार योग का अर्थ दैवी शक्ति से अविच्छिन्न तादात्म्य रखना है। इसी से गीता के परम श्रेय भगवद्-प्राप्ति और लोकसंग्रह की एक ही साथ सिद्धि हो सकती है। लोकसंग्रह भगवद्-प्राप्ति का ही एक पक्ष है और भगवद्प्राप्ति के बाद लोक में भगवान् के कार्य का सफल यन्त्र बनना ही मानव की सबसे ऊँची अवस्था है। भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राणी के उद्धार एवं उसकी अपनी श्रेय प्राप्ति के लिए प्रमुख तीन मार्गों का उपदेश दिया है, वे मार्ग है-कर्मयोग 2. ज्ञानयोग 3. भक्तियोग।

ये तीनों योग आपस में स्वतन्त्र होकर भी सम्बद्ध है और परस्पर प्राप्ति हेतु एक दूसरे का सहयोग करते है। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म में किसी को मुख्य नहीं ठहराया है बल्कि निष्काम कर्मयोग' के नाम से एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है जिसमें ज्ञान भक्ति, और कर्म, बुद्धि भावना और संकल्प ही चरम सीमा परिणति है। यह निष्काम कर्मयोग ही गीता का मुख्य उपदेश है।

फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धि से कर्म करने का नाम 'कर्मयोग' है। अर्थात् फलासक्ति का त्याग करके ममत्वरहित होकर शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि हेतु कर्म करना ही कर्मयोग है इसी को 'समत्वयोग' भी कहा गया है। सांसारिक कामनाओं से रहित होकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्य को पूरी निष्ठा के साथ पालन करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। निष्काम कर्मयोग में सर्वाधिक बाधक तत्त्व 'राग-द्वेष' इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में अनुकूलता का भाव होने पर 'राग' और प्रतिकूलता का भाव होने पर 'द्वेष' उत्पन्न हो जाता है। राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होने पर उस कार्य में प्रवृति या निवृति नहीं होनी चाहिए। अपितु कार्य में प्रवृति या निवृति तो

2 श्रीमद्भगवद्गीता डॉ. विश्वम्भर नाथ द्विवेदी पृ0 32

3 श्रीमद्भगद्गीता, 2/48

शास्त्रानुसार ही होनी चाहिए। शास्त्र के अनुसार चलने से अपनी रुचि और अरुचि की मुख्यता नहीं रहती इस प्रकार किया जाने वाला कर्म सकाम न होकर निष्काम कहलाता है।

निष्कामभावपूर्वक संसार की सेवा करना ही राग-द्वेष को मिटाने का उपाय है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से लेकर अहंभाव तक जो कुछ भी है, इसे संसार की सेवा में लगा देना चाहिए। राग-द्वेष से सर्वथा रहित मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो जाता है। इस प्रकार कर्म को यज्ञ समझकर करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं-

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥[4]

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि अपने सभी कर्मों को मुझमें त्यागकर अपनी चेतना को आत्मा में स्थित करके इच्छा और अहंकार से शून्य होकर निरुद्वेगपूर्वक युद्ध-कर्तव्य को करो।"[5]

यहाँ पर निष्काम का अर्थ वैयक्तिक कामना से नहीं, बल्कि विश्वात्मा (जो कि हमारी आत्मा का ही उच्च पक्ष है) की कामना से कर्म करना, भगवद्कर्म के सफल यन्त्र बनना है। कर्म का अर्थ अपने-अपने वर्ण-धर्मानुसार अथवा स्वभाव और शक्ति के अनुसार देव, गुरु और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य करना है। गीता ने वर्णाश्रम धर्म को जन्म से नहीं, बल्कि स्वभाव के आधार पर माना है। श्रम-विभाग को गीता ने दैवी स्वीकृति प्रदान की है। इसका अर्थ किसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था न होकर समाज का सुचारु रूप से संचालन था, क्योंकि वर्ण-धर्म का पालन जन्मसिद्ध अधिकार समझकर नहीं बल्कि भगवान् का आदेश समझकर उसकी दी हुई शक्तियों को उसी के काम के लिए उपयोग करने के लिये है।

योग का अर्थ ईश्वर से तादात्म्य है और यही गीता का परमश्रेय है। गीता में योगी को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। 'स्थितप्रज्ञ' का अर्थ है-'दैवी-प्रज्ञा में स्थित'। इस प्रकार गीता में दैवी-प्रज्ञा में स्थित एक ऐसे योगमय जीवन का उपदेश दिया है जिसमें कि अन्य समस्त धर्मों को छोड़कर दैवी आदेश का यन्त्र बनकर जीवन बिताना ही एक मात्र धर्म बन जाता है। ईश्वर-साक्षात्कार से ही आत्मा के स्वरूप का भी ज्ञान होता है, क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही रूप है। इस आत्मा को केवल आभ्यन्तर ही नहीं बल्कि बाह्य जगत् में भी अनुभव करना है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य सभी में परमात्मा के ही दर्शन करता है। ईश्वर आत्मा एवं भौतिक पदार्थों का नियामक है, वह सृष्टि का कर्ता पालक और संहारक है। वह अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापी है, आत्मा ईश्वरीय कार्यों का यन्त्र मात्र है।

आत्मा और जगत् दोनों को ही ईश्वर का अंश मानने के कारण गीता में 'लोक सेवा' का भी उतना ही महत्त्व है, जितना कि आत्म-साक्षात्कार का। समाजसेवा मानव को परमेश्वर

4 श्रीमद्भगद्गीता, 3/10

5 श्रीमद्भगद्गीता 3/10

की ओर ले जाती है। अतः कर्तव्य केवल कर्तव्य के हेतु नहीं बल्कि लोक-संग्रह के लिये किया जाना चाहिए। गीता में कर्म-संन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ माना गया है, यह कर्म निष्काम कर्म है। इस निष्काम कर्म का अर्थ नितान्त प्रेरणाहीन होकर कार्य करना नहीं है। निष्काम कर्म की प्रेरक ईश्वरार्पण बुद्धि है। मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है। फल का नहीं। कर्म-फल को हेतु नहीं बनाना चाहिए, न ही अकर्म में आसक्ति होनी चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मां कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥[6]

गीता ने कर्मवाद और संन्यासवाद का समन्वय किया है, इसमें आत्मसंयम पर बहुत बल दिया गया है। काम और क्रोध ये दोनों ही मानव के भयंकर शत्रु हैं, कर्म और संन्यास के समन्वय से अभ्यास और वैराग्य की भावना से इनको जीता जा सकता है। ज्ञान को काम-भावना आवृत्त किये रहती है, क्रोध से मोह और मोह से स्मृतिनाश एवं स्मृतिनाश से बुद्धि एवं सर्वस्व नष्ट हो जाता है। आत्मा द्वारा इन दोनों को जीता जा सकता है। क्योंकि बुद्धि और मन आत्मा के यन्त्र मात्र हैं। इस प्रकार आत्मसंयम से कर्मों का नाश होगा। परन्तु कर्म भी समाज एवं व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस विरोधाभास का हल है- 'निष्काम कर्म' अथवा 'अनासक्त कर्म' इससे कर्मों का फल, बन्धन का कारण नहीं होता।

6 श्रीमद्भगद्गीता, 2/47

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0125-128)

महाभारत का वनपर्व-आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में

डॉ. श्रीमती निरूपा सिंह
रीडर संस्कृत-विभाग
तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

संस्कृत साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि के पश्चात् महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं। इनके द्वारा लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। रामायण और महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्यरूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार प्रस्तावित हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाभारत वह धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है-

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥[1]

जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली अत्यधिक रूखी प्रतीत होती है।[2]

अर्थनीति राजनीति तथा अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया गया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्त्वज्ञान के विश्वकोष हैं।

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥[3]

अर्थशास्त्र राजनीति तथा अध्यात्मशास्त्र के लिए ही महाभारत प्रकाश स्तम्भ नहीं है। आधुनिक युग की ज्वलन्त स्त्री हिंसा, भ्रूणहत्या, जनसंख्या विस्फोट का समाधान भी वनपर्व में प्राप्त होता है। वनपर्व कौरवों के द्वारा द्यूतक्रीड़ा में पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात्

1 महाभारत, आदि-2 श्लोक-83

2 महाभारत, आदि-2 श्लोक-84 श्रुत्वेदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते। पुंस्कोकिलं गिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥[2]

3 महाभारत

पाण्डवों के वनवास की अवधि में विभिन्न तीर्थों का वर्णन कर, विभिन्न वनस्पतियों का चित्रण कर व्यास ने पर्यावरण प्रदूषण से रहित भारत का चित्रण किया है।

आधुनिक भारत में स्त्री पुरुषों के प्रतिशत में अत्यधिक अन्तर चिन्ता का विषय माना जा रहा है। जिसका प्रमुख कारण कन्या भ्रूणहत्या को स्वीकार कर योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। महाभारत में कन्या जन्म को अभिशाप नहीं माना गया है, अपितु वनपर्व में कन्याश्रम तीर्थ का वर्णन प्राप्त होता है जो कन्या के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान्।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नुपवासपरायणः।
लभेत् कन्याशतं दिव्यं ब्रह्मलोकं च गच्छति॥[4]

पुलस्य ऋषि का कथन है कि नियत ब्रह्मचारी तथा उपावास परायण होकर पुरुष कन्यातीर्थ में जाकर तीन व्रत करे। ऐसा करने से सौ दिव्य कन्यायें ओर ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल में कन्या जन्म अभिशाप नहीं था एवं कन्या जन्म के लिए लोग तीर्थ यात्रा करते थे। भ्रूणहत्या करने वाले को पापी माना जाता था और राजगृह तीर्थ में जाकर यक्षिणी को नैवेद्य लगाकर भोजन करने से भ्रूणहत्या से लगे पाप से मुक्त होने का विधान बतलाया गया है।

ततो राजगृह गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप।
अस्पृश्य तपोदेषु काक्षीवानिव मोदते॥
यक्षिण्या नैत्यकं तत्त प्राश्नीत पुरुषः शुचि
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते भ्रूणहत्यया॥[5]

(हे नराधिप! तीर्थ सेवी पुरुष राजगृह तीर्थ को जाए, वहाँ तीर्थों का स्पर्श करने से पुरुष को काक्षीवान् के समान आनन्द प्राप्त होता है। वहाँ पवित्र पुरुष यक्षिणी को नैवेद्य लगाकर भोजन करे तो यक्षिणी के प्रसाद से पुरुष भ्रूणहत्या से छूट जाता है।)

नलोपाख्यान में स्त्री को दुःख में पड़े पति के लिये भेषज कहा गया है-

न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥[6]

(मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि वैद्यों के मत में सब दुःखों में स्त्री के समान औषध और कुछ नहीं है।)

नल का कथन भी इस उक्ति का समर्थन करता है-

4 महाभारत, वनपर्व अ-81 श्लोक-165
5 महाभारत, वनपर्व अ-82 श्लोक-89-90
6 महाभारत, वनपर्व अ -58 श्लोक-27

नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम्।'

महाभारत में अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा का जन्म तत्कालीन कोशिकीय विज्ञान की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति करता है। अभीप्सित गुणों वाली कोशिकाओं का गर्भ में प्रत्यारोपण कर अगस्त्य ऋषि ने अपनी पत्नी लोपामुद्रा का जन्म कराया था। विवरण इस प्रकार है-

अगस्त्य मुनि ने पुत्रोत्पत्ति के विषय में विचार करने के पश्चात् विचार किया कि किस स्त्री से विवाह करूँ? उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने के निमित्त कोई स्त्री अपने समान न पाई। उन्होंने जिस-जिस प्राणी का जो-जो अंग उत्तम था, उन भागों को लेकर उन्हीं-उन्हीं भागों से एक उत्तम स्त्री रची।

ततः प्रसवसन्तानं चिन्तयन् भगवानृषिः।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत्सदृशीं स्त्रियम्॥
स तस्य-तस्य सत्त्वस्य तत् तदंगमनुत्तमम्।
संभृत्य तत्समैरंगैर्निममे स्त्रियमुत्तमाम्॥[7]

उसको रचकर महातपस्वी अगस्त्य मुनि ने उस स्त्री को सन्तान प्राप्ति की इच्छा से तप करते हुए विदर्भराज को अपने निमित्त दे दिया-

स तां विदर्भराजाय पुत्रकामाय ताम्यते।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः॥[8]

वह बिजली के समान सुन्दर शरीर वाली और उत्तम मुख वाली राजा के घर में उत्पन्न हुई तेजस्वी शरीर को धारण करके वहाँ बढ़ने लगी।

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत् शुभानना॥[9]

इस प्रकार परखनली शिशु के रूप में मुनि अगस्त्य ने लोपामुद्रा का जन्म कराया जो अभीप्सित गुणयुक्त कोशिकाओं के न्यसेचन के साथ किया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में विज्ञान का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है।

जनसंख्या वृद्धि हमारे देश की ज्वलन्त समस्या है, किन्तु महाभारत काल के विद्वान् दम्पति हजार दुष्ट पुत्रों की अपेक्षा एक महात्मा विद्वान् पुत्र को जन्म देना श्रेयस्कर मानते थे, जो नियोजित परिवार की अवधारणा को पुष्ट करता है। अगस्त्य ऋषि लोपामुद्रा से बोले-

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसंमितम्।

7 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-16,17
8 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-18
9 महाभारत, वनपर्व अ -94 श्लोक-19

दश वा शततुल्यास्युरेको वापि सहस्रवत्॥[10]

तुम्हारे हजार पुत्र हों, या दस के समान सौ हों या फिर सौ के समान दस हों अथवा हजार के समान एक ही हों।

लोपामुद्रा का उत्तर है-

सहस्रसम्मितः पुत्र एको मेऽस्तु तपोधन।

एको हि बहुभिः श्रेयान्विद्वान्साधुरसाधुभिः॥[11]

मुझसे हजार पुत्र के समान एक पुत्र उत्पन्न हो, क्योंकि हजार दुष्ट पुत्रों से एक महात्मा विद्वान् पुत्र अच्छा होता है।

इस प्रकार महाभारत का वनपर्व पर्यावरण प्रदूषण, स्त्रीहिंसा, भ्रूणहत्या, जनसंख्या विस्फोट इत्यादि समस्याओं के समाधान में ज्ञान की ज्योति जलाते हुए आधुनिक कोशिकीय विज्ञान के प्रेरणा स्रोत के रूप में स्थापित है।

10 महाभारत, वनपर्व अ -97 श्लोक-19

11 महाभारत, वनपर्व अ -97 श्लोक-20

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0129-133)

कालिदास और वैदिक व्यवस्था

डॉ. वेद प्रकाश उपाध्याय
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

महाकवि कालिदास के महाकाव्यों और नाटकों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने मनु को अपना आदर्श बनाया था, जो वैदिक व्यवस्था के पोषक थे। रघुवंश में कहा गया है-

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वत्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।।[1]

मानवधर्मशास्त्र की व्यवस्था या लीक से कालिदास के आदर्श राजा की प्रजा ठीक उसी प्रकार नहीं हटती जैसे रथ। अब प्रश्न उठता है कि यदि वर्तमान मनुस्मृति को कालिदास का आदर्श स्वीकार किया जाये तो अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। आधुनिक विद्वानों विशेषतः पाण्डुरंग वामनकाणे आदि ने मनुस्मृति को बहुत प्राचीन नहीं माना है और यह सिद्ध किया है कि मनु के नाम पर यह बाद में लिखी गयी हैं। वास्तव में मानवधर्मशास्त्र जो वर्तमान मनुस्मृति से भिन्न था, अत्यन्त प्राचीन था, जिसके प्रणेता मनु का उल्लेख ऐतरेय-ब्राह्मण में किया गया है- **मनुर्वै पुत्रेभ्यो दायं व्यभजते।** ऐतरेयब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है जो लौकिक संस्कृत साहित्य के श्रौतग्रन्थों से पर्याप्त प्राचीन हैं। आज मानवश्रौतसूत्र तो उपलब्ध हैं और उसी शाखा का मानवधर्मसूत्र अपने मूलस्वरूप में अब उपलब्ध नहीं होता है। इतना तो निर्विवाद है कि मनु के द्वारा निर्धारित किया गया मार्ग श्रुतिमूलक रहा है और जिन स्थलों पर वेदों से वैपरीत्य परिलक्षित होता है, वे स्थल उपेक्षणीय हैं।

कालिदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार मानव धर्मशास्त्र को माना है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था ऋग्वेदसंहिता के दशम मण्डल के नब्बे संख्या के सूक्त में दृष्टिगत होती है। ऋग्वेद में कहा गया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।[2]

वर्णो वृणोतेः इस निर्वचन के आधार पर वर्णशब्द वरण करना अर्थ वाली वृ धातु से निष्पन्न होता है। समाजरूपी पुरुष के अस्तित्व के लिए चारों ही वर्ण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि

1 रघु1.17
2 ऋ0 10/90/12

एक भी वर्ण का कार्य अवरुद्ध हो जाए तो समाज की गाड़ी का चलना दुष्कर हो जायेगा। जिस प्रकार समांज को मार्गदर्शन देने के लिए ब्राह्मणवर्ण अपेक्षित है, उसी प्रकार समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय वर्ण का होना आवश्यक है। कालिदास के शब्दों में जो क्षत् से रक्षा करता है वह क्षत्रिय है।[3] वैश्य का सम्बन्ध समाज के भरण-पोषण के निमित्त अर्थव्यवहार से है तथा शूद्रवर्ण का सम्बन्ध समाज की सेवा से है। शूद्र को ऋग्वेद में चरणस्थानीय माना गया है। यदि समाजरूपी शरीर शूद्ररूपी चरणों से रहित हो जाए तो समाज सकल न रहकर विकल हो जायेगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में कालिदास सीता की उक्ति को प्रस्तुत करते हैं जो परित्यक्ता सीता द्वारा लक्ष्मण के माध्यम से राम के प्रति प्रेषित की जाती है। सीता कहती है कि यद्यपि वर्णों और आश्रमों का पालन करना राजाओं का धर्म है और मुझे आपने त्याग दिया है, किन्तु सामान्य तपस्विनी होने के कारण मैं भी आपकी प्रजा हूँ, अतः मेरी भी रक्षा सामान्य प्रजा की भाँति तो आप करते ही रहेंगे। क्या ही सुन्दर उक्ति है-

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया॥[4]

वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राजा राम अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिए बाध्य हैं, चाहे वह परित्यक्ता सीता भी क्यों न हो। इस परम्परा के अनुपालन में नियामक हेतु हैं। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था और तत्पोषिणी मानवधर्मशास्त्रीय व्यवस्था इसी कारण से महाकवि कालिदास ने रघु को वर्णाश्रम व्यवस्था का संरक्षक गुरु कहा है। रघुवंश के पञ्चमसर्गगत **'वर्णाश्रमाणां गुरवे'** इस श्लोकांश से इसकी पुष्टि होती है। केवल रघु ने ही नहीं अपितु रघुवंशी राजाओं ने भी वर्णों और आश्रमों में विभाजित मनुष्य जीवन को एक आदर्श जीवन स्वीकार किया। वर्णाश्रम व्यवस्था में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि मानी गयी है। डॉ. शंकर दत्त ओझा ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि वैदिक काल से चली आती हुई वर्णाश्रम व्यवस्था को कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में सुप्रतिष्ठित किया है।[5] बाद में भारवि, भट्टि, माघ और श्रीहर्ष आदि ने कालिदास का अनुकरण करके वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन अपनी-अपनी कृतियों में किया।

वर्णाश्रम में वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्था ये दो व्यवस्थायें हैं। चार वर्णों की भाँति आश्रम भी चार हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

3 क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघु 2.53)

4 रघु0 14.67

5 संस्कृत को रघुवंश की देन-डॉ0 शंकरदत्त ओझा, पृ0 382 प्रकाशक राजस्थान प्रकाशन मण्डल, पान दरीबा, लखनऊ 1984

ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास करने वाले विद्याध्येताओं का रघुवंशी राजाओं द्वारा बड़ा ध्यान रखा जाता था। कालिदास का यह आदर्श रहा है कि गुरुकुल में रहकर विद्याध्यन करने वाले ब्रह्मचर्याश्रम का व्रत धारण करने वाले तपस्वियों की सर्वथा राजा परिचर्या एवं उनकी देखरेख की जाए। रघुवंश के पञ्चमसर्ग के अनुसार आदर्श राजा का स्वरूप उस समय दृष्टिगत होता है जब महाराज रघु वरतन्तु के शिष्य कौत्स से उनके आश्रम के विषय में प्रश्न करते हैं। कौत्स उत्तर देता है-

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।।[6]

अर्थात् हे राजन् हमारी हर प्रकार से कुशलता समझें क्योंकि आपके राजा या स्वामी रूप में होते हुए हम प्रजाओं का अकल्याण कहाँ। क्या सूर्य के प्रकाशित रहने की स्थिति में अन्धकार लोगों की दृष्टि में आवरण डालने में समर्थ हो सकता है।

गृहस्थ आश्रम को कालिदास ने सभी आश्रमों में समर्थ माना है। इस आश्रम में प्रवेश के लिए गुरु से सम्यक् रूप से आज्ञा प्राप्त करके ब्रह्मचर्याश्रम व्रतधारी शिष्य उद्यत होता है जैसा कि कहा गया है-

अपि प्रसन्नेन महार्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतोगृहाय।
कालो ह्ययं संक्रममितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।।[7]

गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है, क्योंकि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम में आश्रय पाते हैं। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का चित्रण करने के प्रसंग में विद्याभ्यास का सम्बन्ध शैशव से, विषयोगभोगों का सम्बन्ध यौवन से मुनिवृत्ति का सम्बन्ध वृद्धावस्था से तथा तनु परित्याग या संसार परित्याग का सम्बन्ध योग या संन्यास से माना है। जहं शैशव अर्थात बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्याश्रम अभीष्ट है, वहीं ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याभ्यास को पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश भी इष्ट है। रघुवंशी राजाओं द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याभ्यास करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था तथा गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम तभी स्वीकार किया जाता था, जब कि वे अपने युवा पुत्र पर राज्यभार आरोपित कर देते थे। रघुवंशी राजाओं द्वारा गृहस्थ आश्रम की स्वीकृति केवल विषय भोगों के लिए ही नहीं होती थी अपितु ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की दृष्टि से गृहस्थाश्रम में उनके द्वारा प्रवेश किया जाता है। प्रजा में गृहमेधिनाम् कालिदास का आदर्श है। यहाँ पर प्रजा शब्द सन्तति के लिये प्रयुक्त हुआ है। रघुवंश में कालिदास ने यह स्पष्ट उद्घोषित किया है-

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।

6 रघु 5.13
7 रघु 5/10

संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥[8]

अर्थात् पितृ ऋण से उन्मुक्ति व्यक्ति को इस लोक तथा परलोक में सुखदायक होती है। ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण इन तीन ऋणों से छुटकारा प्राप्त करके ही व्यक्ति को मोक्ष में मन लगाना चाहिए। जो व्यक्ति इन ऋणों से मुक्त हुए विना ही मोक्ष में मन लगाता है, उसका अध:पतन होता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

उपर्युक्त आदर्श को ध्यान में रखकर ही कालिदास ने गृहस्थाश्रम के महत्त्व का प्रतिपादन **सर्वोपकारक्षममाश्रमम्** कहकर किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित श्रौतयागादि कर्म सतमान्यरूप से यजमान पत्नी की सहायता से किए जाते हैं। श्रौतयागों में हविर्याग और सोमयाग आते हैं। जिनमें इष्टि अवश्यमेव सम्पन्न की जाती है, जिसमें इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि के तन्त्र का आश्रय लिया जाता है। दर्शपूर्णमासेष्टि में पत्नीसन्नहन नामक एक कृत्य भी किया जाता है, जिसके लिए यागाधिकारी यजमान का गृहस्थ होना आवश्यक है। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम की अनिवार्यता को कालिदास ने वेदमूलकता के कारण स्वीकार किया है, जो स्मृतियों से भी समर्थित है।

गृहस्थाश्रमपालक रघु के पास जब वरतन्तु शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते हैं और उन्हें यह प्रतीत हो जाता है कि विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व समर्पित कर देने वाले रघु के पास अब कुछ भी शेष नहीं बचा, तो वह निराश होने लगते हैं, किन्तु रघु उन्हें खाली हाथ वापस नहीं भेजते और धनद कुबेर से यथेष्ट धनराशि प्राप्त करके कौत्स को देते हैं। यह है कालिदास की आस्था गृहस्थ आश्रम पर जिसके द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थित एक विद्याभ्यासी को यथेष्ट सम्पत्ति दान में दी गयी।

गृहस्थाश्रम की अवधि पार करते ही कालिदास के आदर्श राजा अपनी रानी समेत आरण्यकवृत्ति का आश्रय ग्रहण कर लेते थे। किन्तु इससे पहले वे अपना राज्यभार अपने समर्थ युवा पुत्र को सौंप देते थे, जैसा की कालिदास की इस उक्ति से स्पष्ट है।

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥[9]

8 रघु. 1.69
9 रघु. 3.70

कालिदास और वैदिक व्यवस्था

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कालिदास वैदिक वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था के समर्थक रहे हैं। उनका श्रुतिज्ञान विलक्षण था। उनके आदर्श पात्र श्रुति के विधि और निषेध से सम्यग् अवगत तो थे ही, किन्तु विधि का पालन करते थे और निषेध को वर्जित करते थे। वे आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि अग्नियों में श्रौतयागो को सम्पन्न करते थे। कालिदास की प्रतिभा से उद्‌बोधित होने के लिए केवल साहित्य का ही नहीं, अपितु वेदों-वेदाङ्गो तथा दर्शनों का अनुशीलन भी आवश्यक है।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0134-139)

कालिदास का प्रकृतिदर्शन

कु0 पुष्पा
शोधछात्रा, संस्कृत-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, श्रीगंगानगर (राज.)

संस्कृत वाङ्मय और प्रकृति का आदिकाल से ही अटूट सम्बन्ध रहा है। प्रकृति चित्रण के विना हर रचना अधूरी है। वाल्मीकि, माघ, भारवि, बाणभट्ट का प्रकृति चित्रण अलौकिक है। इसी शृंखला में कालिदास का प्रकृति वर्णन सबसे अधिक पृथक् है। क्योंकि कालिदास प्रकृति के कवि हैं। भारतीय काव्य-परम्परा में उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं प्रकृति के प्रति प्रेम अद्वितीय है। अतः प्रकृति के कुशल चितेरे होने के साथ-साथ वे बाह्य प्रकृति के भी मर्मज्ञ हैं। उसके साथ उनके हृदय का पूर्ण तादात्म्य हुआ है। यह सत्य है कि उनसे पूर्व आदिकवि ने प्रकृति के शुद्ध एवं सहज स्वरूप का यथेष्ट अंकन किया है, किन्तु कालिदास की भाँति वे अपने आपको उसकी मनोहारिता में पूर्णतः लीन नहीं कर बैठे हैं। उनके प्रकृति चित्रण में प्रकृति का यथार्थ रूप सुरक्षित है, उनके विस्तृत वर्णनों में सौन्दर्य व्यञ्जना भी है, किन्तु कालिदास की प्रकृति अपेक्षया अधिक अलंकृत है। साथ ही वैदिक कवि का सा प्रकृति के प्रति सहज उल्लास एवं वाल्मीकि की सी हार्दिकता एवं सहजता भी उनमें प्राप्य है। वाल्मीकि की भाँति कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति-वर्णन को स्थान दिया है। उनका प्रकृति चित्रण सूक्ष्मपर्यवेक्षण एवं स्वानुभूति पर आधारित है। उनकी बाह्य-दृश्योद्घाटिनी अद्भुत क्षमता कतिपय प्राकृतिक दृश्यों एवं उपकरणों के चित्रण तक ही सीमित नहीं रही है, अपितु प्रकृति के नाना रूपों के साथ-साथ उनके हृदय के रागात्मक सम्बन्ध की पूर्ण व्यञ्जना कराने वाली है। कालिदास ने अपनी कृतियों में प्राकृतिक दृश्यों का जैसा मूल्यांकन किया है, वह सत्य का प्रमाण है कि कवि की दृष्टि से प्रकृति काव्य रचना का साधन मात्र न होकर स्वयं साध्य भी है। प्रेयसी प्रकृति की प्रत्येक भावभंगिमा पर कवि ने अपना हृदय न्यौछावर किया है, भले ही वह उसका सौम्य एवं आकर्षक स्वरूप रहा हो अथवा उद्वेगकारी भीषण रूप, किन्तु इतना अवश्य है कि प्रकृति का प्रशान्त एवं सुकुमार रूप कवि को अधिक प्रिय रहा है।

मानव जीवन में प्रकृति के बहुमूल्य योग को कवि ने भली प्रकार माना व पहचाना है। उसकी दृष्टि में मानव जीवन और प्रकृति एक दूसरे के पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे का अपूर्ण भासित होना सर्वथा स्वाभाविक है। कालिदास ने अपने ही ढंग से प्रकृति को मानव संवेदना का भागी बनाया है। उनकी प्रकृति मनुष्य सत्ता से खंडित करके नहीं देखी जा सकती। उनके आधुनिक समीक्षक इस सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत हैं कि प्रकृति को काव्य का प्राणतत्त्व होना चाहिए और इस दृष्टि से कालिदास मुख्यतः प्रकृति के कवि हैं। इसलिए न केवल अपने काव्यों में, अपितु अपने नाटकों में भी कवि ने मानव और प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की अत्यन्त

सुन्दर व्यञ्जना की है। उनकी कृतियों में आये हुए प्रकृति-चित्रण का अनुशीलन स्पष्ट कर देता है कि उन्होंने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था। उनकी सबसे प्रारम्भिक कृति 'ऋतुसंहार' में सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षण के आधार पर विभिन्न ऋतुओं की स्वाभाविक प्राकृतिक विशेषताओं का सुन्दर अंकन हुआ है। उनके सभी काव्य यों तो प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं, किन्तु प्रस्तुत कृति प्रकृति-चित्रण के निमित्त ही रची गयी है। यद्यपि लक्षणग्रन्थों के अनुसार परवर्ती महाकाव्यों एवं नाटकों में भी यथास्थान ऋतु वर्णन आवश्यक माना गया है, परन्तु सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में केवल ऋतु वर्णन के लिए लिखा गया काव्य 'ऋतुसंहार' ही है। प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध भारत सदृश अयनवृत्तीय देश में जन्म ग्रहण करने वाले इस कवि की समस्त वृत्तियाँ आरम्भ से ही प्रकृति निरीक्षण में लग गयी थीं और प्रकृति के प्रति उसके मन में एक श्रद्धामय एवं स्वाभाविक प्रेम वर्तमान है। 'ऋतुसंहार' का कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर कामनियों के प्रति वह अधिक अनुराग रखता है, अतः प्रकृति कुछ गौण हो गयी है और अपनी वेश-भूषा, प्रसाधन एवं मनोविकार लेकर रमणी प्रधान हो गयी है, तथापि प्रकृति के प्रति कवि की सहानुभूति एवं प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की उसकी अद्भुत क्षमता भी दर्शनीय है। कवि का प्रकृति के प्रति आकर्षण बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक नहीं, अपितु भावात्मक है और इसीलिए एक प्रेमी-दम्पति की ऋतु-विशेष में बदलती हुई भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में उसने प्रत्येक ऋतु की सहज शोभा का निरूपण कर दिया है और बताया है कि मनुष्य की सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भावनाओं पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ता है। यद्यपि सम्पूर्ण काव्य उद्दीपन की भावना से ओत-प्रोत है, तथापि उसमें अनेक ऐसे स्थल हैं जिन्हें प्रकृति के शुद्ध स्वरूप के यथातथ्य अंकन कह सकते हैं। प्रत्येक ऋतु के सुरम्य एवं अरम्य सभी पक्षों का कवि ने अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

'कुमारसंभवम्' में कवि ने दैवी विभूतियों एवं प्राकृतिक विभूतियों में साम्य स्थापित किया है। इस काव्य की घटनास्थली हिमालय है और प्रथम सर्ग में ही कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य के केन्द्र हिमालय की महिमा का गान किया है। इस काव्य में प्रकृति के भव्य स्वरूप के चित्रण के साथ-साथ उसने वन, पर्वत, नदी, उपत्यका, दिवस, रात्रि ऋतु इत्यादि को लेकर प्रकृति के चिरन्तन एवं चिर नूतन सौन्दर्य का सूक्ष्म निरूपण किया है। प्रकृति के प्रति कवि का उल्लास ज्यों का त्यों हुआ है।

किन्तु प्रकृति और मानव के तादात्म्य का सुन्दर निदर्शन कवि का 'मेघदूत' हैं। प्रकृति और मानव के इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को कालिदास ने सदैव आवश्यक एवं सुखद माना है, इसीलिए पूर्वमेघ में प्रिया-विरहदग्ध यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य के सान्निध्य में अपने विधुर हृदय को आश्वासन देता है और 'उत्तरमेघ' में प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत और भावी मिलन के स्वप्न देखता है। पूर्वमेघ में बाह्य-प्रकृति का अत्यन्त विशद चित्रण किया गया है किन्तु उसमें मानवीय भावनाओं का छायातप भी घुला है। 'उत्तरमेघ' ने मानव हृदय का मार्मिक चित्रण है, किन्तु वह प्रकृति सौन्दर्य से परिवेष्टित ही है। इस काव्य में कवि ने प्रकृति और प्रेम दोनों की महिमा का स्तवन किया है और यह निर्णय कर सकना कठिन है कि किसकी

व्यञ्जना अधिक सुन्दर है। उत्तर भारत की प्राकृतिक सुषमा का इसमें अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रकृति और प्रेम के काव्य के रूप में इस कृति का अत्यधिक महत्त्व है।

रघुवंश में भी कवि ने मानव और प्रकृति के इस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा है। इस काव्य में कवि ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं राज्य से भी प्रकृति की घनिष्ठता का चित्रण किया है तथा भौतिक सभ्यता के प्रतीक नगर एवं प्राकृतिक जीवन के प्रतीक तपोवन के पारस्परिक सहयोग से उत्पन्न होने वाले कल्याणप्रद परिणामों का उल्लेख करते हुए यह भी दिखाया है कि प्रकृति से वियुक्त मानव जीवन की समाप्ति किस प्रकार आध्यात्मिक ह्रास, सामाजिक दुर्दशा एवं राजनीतिक अवनति में हुआ करती है। प्रस्तुत काव्य कवि की सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं प्रकृति-चित्रण की क्षमता का उदाहरण है। 'मेघदूत' में उत्तर भारत की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करने के उपरान्त कवि ने प्रस्तुत काव्य में दक्षिण भारत की प्रकृति के वन, नदी पर्वतों आदि का सजीव अंकन किया है। तेरहवें सर्ग में किया गया गंगा और यमुना के संगम का वर्णन आलंकारिक प्रकृति-चित्रण का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

काव्यों की ही भाँति अपने नाटकों में भी कवि ने मानव जीवन में प्रकृति का सम्मिश्रित वर्णन किया है। उनके 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'विक्रमोर्वशीय' में प्राकृतिक शोभा का एवं प्रणय-भावना में प्रकृति के योग का सुन्दर निरूपण हुआ है। 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में वर्षा का भावशील वातावरण राजा पुरुरवा की मनःस्थिति से अनुरंजित है। किन्तु कवि की प्रकृति-चित्रण विषयक सर्वोच्च प्रतिभा का दर्शन उनकी प्रौढ़तम कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में होता है। इस नाटक में आद्योपान्त मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए भी कवि ने सर्वत्र प्रकृति और मनुष्य के मधुर सम्बन्ध की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। स्वयं शकुन्तला प्रकृति कन्या है। उसका चरित्र धर्मारण्य की प्रशान्त छाया में माधवीलता के साथ विकसित होकर पशु पक्षियों के अकृत्रिम सौहार्द से आकृष्ट हुआ है। आश्रम के पशु-पक्षी उसके आत्मीय हैं, वृक्ष और लताओं से उसका सहोदरों का सा स्नेह है और इसी कारण इनमें भी शकुन्तला के प्रति उतना ही अनुराग है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी प्रकार के मानवीय आरोप के विना ही प्रकृति को प्रकृति रखकर भी उसे सजीव, प्रत्यक्ष, व्यापक एवं मनुष्य की अन्तरंग बनाकर नाटक के कार्य और व्यापार में प्रधान एवं आवश्यक स्थान दिया गया है। प्रथम अंक में ही नगर के कृत्रिम तपोवन के शान्त स्वाभाविक वातावरण की तुलना की गयी है। कथा का आरम्भ भी कण्व के तपोवन में हुआ है और अन्त भी मारीच के तपोवन में और इस प्रकार बाह्य प्रकृति यहाँ से वहाँ तक नाटक कथा की पृष्ठभूमि में रही है। प्रकृति के मार्मिक संदेश का सुन्दर उद्घाटन इस कृति में हुआ है।

इस प्रकार उनकी सभी कृतियाँ प्रकृतिमयी हैं। साथ ही प्रकृति चित्रण के विविध स्वरूपों का समावेश कवि ने अपनी कृतियों में किया है। उन्होंने चाहे प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण किया हो अथवा उद्दीपन रूप में सर्वत्र उनका प्रकृष्ट प्रकृति प्रेम स्पष्टतः उद्भासित होता रहा है। प्रकृति के शुद्ध स्वरूप का चित्रण करते हुए चुने हुए उल्लेखों से प्रत्येक चित्र को पूर्ण कर देने में कालिदास सिद्धहस्त हैं। प्रकृति स्थितियों की सहज एवं संश्लिष्ट योजना से प्रत्येक

चित्र अपनी पूर्णता में गोचर हो उठता है। प्रकृति वर्णन करते समय अनावश्यक विस्तार का उन्होंने सर्वत्र परिहार किया है और इसी संयम के कारण उनकी कृतियों में प्रकृति का विलक्षण एवं अनिवर्चनीय सौन्दर्य झलक उठा है। उदाहरणस्वरूप 'विक्रमोर्वशीय' में मध्याह्न के समय विविध जन्तुओं की चेष्टाओं का विवरण प्रस्तुत है-

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी,
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीः कारण्डवः सेवते।
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥[1]

'गर्मी से तप्त मूयर वृक्ष के शीतल छांव तले विश्रामार्थ बैठ रहा है। यह भ्रमर कर्णिकार की कली का मुख बेधकर उसमें छिपने जा रहा है। यह कारण्डव उष्ण जल को त्यागकर तट पर खिली कमलिनी की छाया में जा बैठा है और क्रीड़ाभवन में पिंजर-स्थित यह शुक जल की याचना कर रहा है।'

विविध जीवों की मध्याह्नताप जन्य अवस्था एवं चेष्टाओं का विवरण प्रस्तुत कर कवि ने सूर्यताप की प्रखरता भलीभाँति व्यंजित कर दी है। बाह्यप्रकृति की सुषमा का सहृदय निरीक्षण करने के साथ-साथ कवि ने मनुष्य की अन्तःप्रकृति पर पड़ने वाले बाह्यप्रकृति के प्रभाव का भी अत्यन्त सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। किसी अन्य आलम्बन के प्रति उद्बुद्ध हुई आश्रय की भावस्थिति को उत्तेजित करने में प्रकृति जो योग देती है, उसको कवि ने ऋतुओं आदि के उद्दीपन रूप का चित्रण करके अत्यन्त कुशलता से अंकित कर दिया है। एकरूपा प्रकृति ही आश्रय के मन की क्षण प्रतिक्षण परिवर्तमान मनःस्थिति के साथ साथ कहीं प्रिय और कहीं दुःखद प्रतीत होने लगती है। विरह-विधुर पुरुरवा को मेघों के कारण रमणीय दिवस असह्य प्रतीत होने लगता है-

अयमेकपदे तया वियोगः प्रिययया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः॥[2]

'एक ओर तो उस प्रियतमा से बिछुड़ने का असह्य दुःख और दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन जो धूप न होने के कारण सुरम्य लग रहा है, एक साथ ही आ आ गए हैं।'

भावावेश में जड़-चेतन का भेद भूलकर वह प्रकृति के विभिन्न अंगों से प्रश्नोत्तर करने लगता है। प्रकृति उसकी भावस्थिति के अनुरूप ही आचरण करती प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रकृति को उद्दीपक रूप से चित्रित करके कवि ने अन्तःप्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्यञ्जना सुचारु रूप से कर दी है। प्रकृति को कवि ने मूक एवं निष्प्राण नहीं माना है। प्रकृति में उसने

1 कालिदास, विक्रमोर्वशीय, 2.22
2 कालिदास, विक्रमोर्वशीय, 4.3

मानवीय आकृति एवं मानवोचित सुख, दुख संवेदना आदि की भावना एवं तदनुरूप आचरण को प्रत्यक्ष किया है। उन्हें पशु-पक्षी तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते दृष्टिगोचर हुए ही हैं, जड़-प्रकृति भी मानव का अनुकरण करती प्रतीत हुई है। उन्होंने प्रकृति को प्रधानतः प्रेमी की दृष्टि से देखा है और प्रकृति को प्रेयसी का स्थान देकर उसमें कामिनियों के से हाव-भाव का प्रत्यक्षीकरण किया है। इसलिए मधुश्री यदि मुग्धा नायिका है तो मलयपवन दक्षिण नायक। प्रणय भावना के अतिरिक्त संवेदना, उत्कण्ठा, शोक आदि विभिन्न भावनाओं का प्रत्यक्षीकरण कवि ने प्रकृति में किया है। आश्रम में विदा होती हुई शकुन्तला को आश्रम एवं उसके वासियों को छोड़ते हुए जैसा दुःख होता है, आश्रम की जड़ अथवा चेतन प्रकृति का दुःख भी उससे कम नहीं है, तभी तो-

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चतणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥[3]

'हरिणियों ने कुशा के ग्रास मुख से निकाल दिये हैं, मयूरों ने नृत्य करना बंद कर दिया और गिरते हुए पीले पत्तों वाली लताएँ मानों अश्रु-मोचन कर रही हैं।'

इस प्रकार कालिदास के काव्य में प्रकृति निरपेक्ष पृष्ठभूमि अथवा उद्दीपन रूप से ही आयोजित नहीं हुई है, अपितु पात्र रूप से उसमें सक्रिय भाग लेने वाली भी है।

अपनी कृतियों के काव्य सौन्दर्य को और अधिक देदीप्यमान करने के लिए कवि ने उसके निस्सीम भण्डार से अमूल्य रत्न चुनकर उनकी अप्रस्तुत रूप से योजना की है। उनके प्रकृति-चित्र वर्ण्य को उद्भासित करते हुए अपने सौन्दर्य से भी हमें प्रभावित कर देते हैं। कवि की दृष्टि से दृश्य प्रकृति में जो सौन्दर्य व्याप्त है, मानव-सौन्दर्य उसी का अंग है। इसलिए प्रकृति से आदर्श स्थितियों का चयन कर कवि ने उसको अपनी सौन्दर्यानुभूति की व्यञ्जना का साधन बनाया है। मानवीय सौन्दर्य में से अपेक्षाकृत कौन सा अधिक सुन्दर है। इसका निर्णय कर सकना कठिन है। पार्वती की रूप-शोभा का निम्न चित्रण इसका प्रमाण है-

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥[4]

'स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई और बाल सूर्य के सदृश अरुण वस्त्र धारण किये वह (पार्वती) पर्याप्त फलों के गुच्छों से झुकी चलती फिरती लता जैसी प्रतीत होती थी।'

3 कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल, 4.11 बाबूराम त्रिपाठी, आयुर्वेद संस्कृत भंडार
4 कालिदास, कुमार सम्भव 3.54

कालिदास का प्रकृतिदर्शन

कवि ने प्रकृति को मानव जीवन की शोधिका भी माना है। उनकी सूक्तियों का एक महत्त्वपूर्ण अंश प्रकृति सम्बन्धी तथ्यों का ही है। प्रकृति का परपरिग्रह-पराङ्मुखता का यह आदर्श कितना सुन्दर है-

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥[5]

'चन्द्र केवल कुमुदिनियों को खिलाता है और सूर्य केवल कमलों को। संयमी जनों की वृत्ति परस्त्री के स्पर्श से विमुख रहने वाली होती है।'

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति और उसके रमणीय दृश्यों के प्रति कालिदास का स्नेह एवं सहानुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ है। उनकी दृष्टि में मनुष्यत्व की पूर्णता मनुष्य के प्रकृति प्रेम में ही निहित है। साथ ही उन्हें विदित था कि मानव जीवन से सम्बद्ध होकर प्रकृति की कविता सजीव एवं स्पन्दनशील हो उठती है, जहाँ उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य-समुज्ज्वल पक्षों का रूपयोजनात्मक चित्रण किया है, वहाँ उन्होंने प्रकृति को मानवीय भावनाओं में योग देते हुए और मनुष्य के प्रति संवेदना से युक्त भी वर्णित किया है। उनकी प्रकृति मनुष्य की भाँति सचेतन एवं भावनाशील है। प्रकृति-सौन्दर्य एवं मानव-सौन्दर्य दोनों को उन्होंने एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हुए चित्रित किया है। प्रकृति के सूक्ष्म एवं विशद सभी पक्षों का चित्रण करने वाले कवि ने अपने प्रकृति चित्रण में प्रबन्ध काव्यों की सी रेखा चित्र शैली एवं रूप योजनात्मक संश्लिष्ट शैली दोनों का ही प्रयोग किया है, किन्तु उनकी रेखाचित्र शैली केवल दृश्य सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख मात्र नहीं करती। उनके इस चित्रण में कलात्मकता होते हुए भी प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य अक्षुण्ण रहा है। विविध ऋतुओं, प्रहरों, आकाश, वन, नदी, पर्वत पशु-पक्षी आदि प्रकृति के विविध जड़ एवं चेतन अंगों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि की सहृदयता सर्वत्र उपस्थित रही है और कल्पना की क्लिष्टता ने कहीं भी उनके प्रकृति चित्रण की स्वाभाविकता में व्याघात नहीं पहुँचाया है। प्रकृति के सम्पर्क में भाव-विभोर हो जाने वाले कवि ने स्वयं को उसके निस्सीम साम्राज्य में स्वच्छन्द छोड़कर उससे अनेक हृदयग्राही चित्रों का संकलन किया है। अतः उनके काव्य में मानवीय सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से उद्भासित हुआ है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य मानवीय सौन्दर्य से। प्रकृति और मानव के अनादि सम्बन्ध की जैसी विशद व्याख्या कवि ने अपने काव्य में की है, अन्यत्र दुर्लभ है।

5 कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल, 5.28

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0140-143)

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्

डॉ0 भारतेन्दु पाण्डेयः
वरिष्ठ प्रवक्ता,
संस्कृत-विभागे,
मेरठस्थ-नानकचन्द-आंग्ल-संस्कृतमहाविद्यालये

वेदव्याकरणादौ अप्रतिहतपाण्डित्यानां प्रणीतपरष्षष्टिविविधविषयकग्रन्थानां पद्मश्रीप्रभृतिभिर्बहुभिरुपाधिभिर्विभूषितानां विद्वद्वराणां डॉ0 कपिलदेवद्विवेदिनाम् आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्येतन्नाम्नी कृतिः गतख्रिस्तवर्षशतकस्य चतुर्नवतितमेऽब्दे वाराणसीजनपदान्तर्गतज्ञानपुरस्थविश्वभारत्यनुसन्धानपरिषदः प्रकाशमागच्छत्।

कृतिरेषा महर्षेः कपिलस्य मुमुक्षूणां ऋषीणं च संवादमाध्यमेन अग्रेसरति। तनुरेतदीया सर्गाणां विंशत्या आबद्धा वर्तते। तत्र प्रथमसर्गे योगस्वरूपमस्ति विशदं निरूपितम्।[1] द्वितीय तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसर्गेषु प्रस्तूयमानान्नमयकोशप्रकरणे विज्ञानसम्मतं स्थूलशरीरवर्णनम्, हृदयस्य क्रियाकलापः, श्वासोच्छ्वासकेन्द्राणि, यकृदादिवर्णनम्, ग्रन्थीनां कार्यविधिः, लघु बृहच्च मस्तिष्कम्, इडापिंगलासुषुम्णानां वर्णनम्, चक्राणां कुण्डलिनीजागरणप्रभृतीनां च वर्णनानि सुष्ठु प्रत्यपाद्यन्त।[2] सूर्गयोः षष्ठसप्तमयोः प्राणमयकोशवर्णनप्रसंगे प्राणानामुपप्रणानां च क्रियाकलापादि दर्शितम्।[3] अष्टमतः त्रयोदशं यावत् षट्सर्गेषु मनोमयकोशनिरूपणे अन्तःकरणचतुष्टयम्, मनोबुद्ध्यहंकाराः, प्रत्याहारधारणाध्यानादिविधिः प्रकाशदर्शनादिकं च विशदीकृतम्।[4] विज्ञानमयकोशनिरूपकेषु चतुर्दश, पञ्चदशषोडसु सर्गेषु ऋतम्भराप्रज्ञायाः अतीन्द्रियज्ञानस्य च प्राप्तिः सूक्ष्मकारणशरीरदर्शनादिकं चेत्यादिविषयाः विवेचिताः।[5] परवर्तिषु चतुर्षु सर्गेषु आनन्दमयकोशप्रतिपादने चित्तादीनां साक्षात्करणम्, जीवनमुक्तिः अपवर्गसाधनादयश्च विशेषतो वर्णिताः।[6]

1 द्रष्टव्यम् आत्मविज्ञानम् पृष्ठसंख्या 1-5
2 तदेव पृव सं0 8-48
3 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 54-63
4 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 66-123
5 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 127-153
6 द्रष्टव्यं तदेव पृ0 सं0 155-192

पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम् निश्चयेनात्र न शक्यते शंकितुं यदयम् अध्यात्मविज्ञानस्यास्ति कश्चन स्वाभिमतदार्शनिकसिद्धान्तवर्णनपरो ग्रन्थः, परं सहैव अयं यथोक्ततया कोऽपि महाकाव्यात्मकप्रबन्धो अप्यस्ति इत्यत्र विप्रतिपद्यते चेतः। यतोहि...........

महाकाव्यरूपप्रबन्धविशेषस्य स्वरूपादि-भामह-दण्डि-रुद्रट-हेमचन्द्र-विश्वनाथ-प्रभृतिभिराचार्यैः विशदमस्ति निरूपितम्।[7] समेषामेवैतेषां मतेषु सामस्त्येन समालोड्यमानेषु यन्नवनीतं निष्कृष्टं भवति, तत् संक्षेपतः इत्थं प्रस्तोतुं शक्यते ....

कस्याऽपि ग्रन्थस्य वाग्रचनाया वा महाकाव्यत्वविधायकानि तत्त्वानि अंगानि वा द्विविधानि भवेयुः ......

(१) आभ्यन्तराणि जीवितभूतानि वा तत्त्वानि

महाकाव्ये एतेषां प्राधान्येन स्वरूपविधायिन्येव काऽपि स्थितिर्विद्यते। तानि मुख्यतस्त्रीणि भवन्ति ....

(१) कथा-चतुर्वर्गफलमयी,[8] सर्वनाटकसन्धिसगुम्फिता,[9] इतिहासात् कविकल्पनातो वा प्राप्तप्रसवा[10] कथा स्यात्।

(२) नायकः-देवः संदृशः क्षत्रियः अनेके वा एकसत्कुलसम्भवा भूपालाः फलाधिकारितया तत्र नायकपदमर्हन्ति।[11]

(३) रसः-शृंगारवीरशान्तानाम् अन्यतमो रसस्तत्र अंगी स्यात्। अंगत्वं तु सर्वेषामेव रसानां सम्भवति।[12]

बाह्यभूतानि संघटनारूपशरीरमात्रनिष्ठानि तत्त्वानि-उक्तादतिरिक्तानि अन्यान्यपि अनेकानि तत्त्वानि आचार्यैः महाकाव्योपादेयतया उपदिष्टानि-नमस्क्रियादिभिरारम्भः,[13] भिन्नान्त्यवृत्तसर्गबन्धता[14]

---

7 (क) काव्यालंकारः (भामहः)। 1/19-23 (ख) काव्यादर्शः 1/14-22 (ग) काव्यालंकारः (रुद्रटः) 16/7-29 (घ) काव्यानुशासनम् (हेमचन्द्रः) 8/6 सूत्र वृत्तिश्च (ङ.) साहित्यदर्पणः 6/315325

8 (क) चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।' -काव्यालंकारः (भामहः) 1/20 (ख)चतुर्वर्गफलायत्तम्। --काव्यादर्शः 1/15 चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।' -- सहित्यदर्पणः 6/18

9 (क) पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तम्' -- काव्यालंकारः (भामहः) 1/20 (ख)............सर्वनाटकसन्धयः।।' -- साहित्यदर्पण 6/317)

10 10.(क)इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।' --काव्यदर्शः 1/15 (ख)इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।' -- साहित्यदर्पणः' 3/18

11 11.(क)चतुरोदात्तनायकम्' प्रसिद्ध नायक चरितम्' काव्यानुशासनम् (हैमम्) 8/6 वृत्तिः (ख)................. तत्रैको नायकः सरः। सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।। एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।' -- साहित्यदर्पणः 6/35, 316

12 12.शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते। अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः ....।। साहित्यदर्पणः 6/317

13 (क) आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।' --- काव्यादर्शः 1/14 (ख)आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।' --- साहित्यदर्पणः 6/319

प्रतिपाद्याधृतानि सर्गस्य ग्रन्थस्य[15] च नामानि चेत्यादीनि तत्रत्यकलेवरमात्रसंघटकानि। ग्रन्थे उपरिष्टादेव एतेषां समावेशो भवति न अभ्यन्तरतः। वस्तुत इमानि तत्त्वानि महाकाव्यशरीरस्याऽपि प्रायो नितान्तम् उपरिवर्ति औपचारिककर्मकाण्डमेव निर्वर्तयन्ति, तस्य (शरीरस्य) वास्तवं स्वरूपं तु कथायाः सन्धिसन्ध्यंगादिभिरेव विन्यस्यते।

अधुना द्रष्टव्यं भवति यत् समीक्ष्यमाणे ग्रन्थविशेषे उक्तेषु महाकाव्यांगेषु मध्ये किं किमस्ति विद्यामानम्?

यदि भवेत् प्रश्नः प्रथमविधानां तत्त्वानां तत्रोपस्थितिविषयकः, तर्हि स्पष्टतः कथनीयमेव यत्-न किमपि कथातत्त्वम्, न कोऽप्युक्तविधो नायको न च अंगी अंगभूतो वा कश्चन रस एव तत्र आत्मविज्ञाननामके ग्रन्थे दर्शनायापि उपलभ्यते। परम्, अपरविधानि यानि तत्त्वानि भवन्ति नमस्क्रियया ग्रन्थारम्भः, प्रतिपाद्यमाधृत्य ग्रन्थस्य सर्गस्य च नामकरणम् अभीष्टछन्दोनियममयसर्गबन्धता चेतीमानि, तानि तु अस्मिन् ग्रन्थेऽवश्यं मिलन्ति।[16]

पृष्ठभूमावस्यां विचारमामन्त्रयतेऽयं प्रश्नो यद् उक्तविधेऽंगवैकल्येऽपि किमयं ग्रन्थो महाकाव्यमिति संज्ञया व्यपदेष्टुं व्यवहर्तुं वा युज्यते?

यद्यपि काव्यादर्शकृता आचार्येण दण्डिना-न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यन्ति"[17] इति प्रतिपादितमस्ति। परम् कथादिभिराराधारभूतैरंगैः न्यूनायै रचनायै नेयं व्यवस्थाः, यतः स्वयम् अस्या एव कारिकायाः यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः[18] इतिरूपम् उत्तरार्द्धम् उक्तस्य अंगन्यूनत्वसिद्धान्तस्य सीमानमपि निर्दिशति। तथा च स्पष्टमेव, सकलाऽपि अत्रत्या तद्विदाराधनसम्पत्तिः कथानायकरसरूपैव विधत्ते यतो न केवलं सर्गबन्धता ग्रन्थादिनामकरणं चेत्यादि बहिर्भूतं कलेवरमेव जनान् रंजयितुमलम्, प्रत्युत, कथादिरूपं आभ्यन्तरं वास्तवं वा तत्त्वं यद् भवति तत् सकलविधिपुरस्सरं सहृदयान् तान् पर्यन्ततो रससरसि निमज्जयति। तथा च केवलं तदवलम्ब्यैव सर्गादिसंगुम्फनेऽपि किमप्युपादेयत्वमायाति। अतः (तद्विदाराधनसमर्थेषु) कथादिषु सत्सु महाकाव्यत्वं न हीयते, परम् एतेषामेवाभावे क्वचित् आत्मविज्ञानम् इत्येतादृशस्थलेषु महाकाव्यत्वस्य कल्पना स्वप्नेऽपि नैव शक्या कर्तुम्।

14 (क) भिन्नं सर्गान्तवृत्तं च ....।' सरस्वतीकण्ठाभरणम् 5/129 (ख) एकवृतमयैः पधैरवसानेऽन्यवृत्तकैः --- साहित्यदपर्णः 6/320

15 कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।। नामास्य सर्गोपादेकथया सर्गनाम तु।' --- साहित्यदर्पणः 6/324-325

16 (क) मंगलाचरणार्थं द्रष्टव्यम् आत्मविज्ञानम्' 1/1, 2 (ख) ग्रन्थस्य आत्मविज्ञानम् इति नाम ग्रन्थे विवेचितस्य आत्मतत्त्वस्याधारेणैवेति स्पष्टमेव। एवमेव तत्तत्सर्गाणामपि नामानि तत्र विवेचिततत्त्वाधृतान्येव, यथा प्राणमयकोशाख्यः सप्तमः सर्गः' तथा मनोमयकोशात्मकः त्रयोदशः सर्गः इति। भिन्नसर्गान्तवृत्तार्थं द्रष्टव्यानि प्रत्येकं सर्गस्य अन्तिमपद्यानि।

17 काव्यादर्शः 1/20

18 स एव।

पद्मश्री डॉ0 कपिलदेव द्विवेदिविरचितस्य आत्मविज्ञानं महाकाव्यम् इत्यस्य महाकाव्यत्वम्

अत्र यदि कश्चिद् ब्रूयाद् यदयं ग्रन्थः महाकाव्यभिन्न एव कश्चन प्रबन्धो भवेत्, तर्हि इदमपि न सम्भवति; यतोहि आचार्यो ध्वनिकृत्सदृशः प्रबन्धमात्रस्यैव कृते कथाशरीरस्य रसस्य च आवश्यकीं स्थितिं प्रतिपादयति।[19] तावेव चात्र न भवतः। इत्थम्, अयं कश्चन अन्यविधोऽपि प्रबन्धात्मकः काव्यभेदो न सिद्ध्यति।

वस्तुतः अधिकमौलिकी स्थितिस्तु इयमस्ति यत् क्वचित् काव्यभेदसम्बन्धिनः प्रश्नास्तदोपस्थातुं शक्नुवन्ति यदा तत्र काव्यसामान्यं तु निर्णितं भवेत् किन्तु तदेव तत्त्वतो नावातिष्ठतेऽत्र।

अस्यां स्थितौ प्रस्तुतस्य ग्रन्थस्य कृते महाकाव्यम् इत्यभिधा ग्रन्थकर्तुः मानसे कुतः समागतेति प्रश्ने विचार्यमाणे इदं प्रतीतिविषयीभवति यद् अस्य ग्रन्थस्य पूर्णतया पद्यमयत्वादेव सम्भवतो लेखकोऽस्य 'आत्मविज्ञानम्' इत्यनेन वास्तवेन शीर्षकेण सहैव महाकाव्यम् इत्यस्यातिरिक्तस्य पदस्याप्यारोपणाय प्रेरितोऽभवत्ः, यत्तु नितान्ततो असमीचीनमेव यतः पद्यमयत्वामात्रेणैव यदि कश्चन ग्रन्थः काव्यग्रन्थो भवितुमर्हेत्, तदा कारिकाभिर्निबद्धानि संस्कृतस्य सर्वाणि एव शास्त्राणि काव्यान्येव भवेयुः। वस्तुतः इयन्तु काव्यत्वस्य भयावहा अतिव्याप्तिर्भविष्यति।

अन्ततो निर्गलिततया वक्तुं शक्यते यदयम् अध्यात्मविज्ञानावबोधक एव कश्चन ग्रन्थोऽस्ति, काव्यत्वेन महाकाव्यत्वेन वा अस्य दूरतोऽपि कोऽपि सम्बन्धो नैव सम्भवति।

19 विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा। उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥
--- ध्वन्यालोकः 3/10,॥

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0144-156)

डॉ० रामकिरण शर्मा के उपन्यासों में आदर्शवाद

डॉ0 मंजुल गुप्ता
रीडर संस्कृत-विभाग
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, रोहतक।

डॉ. रामकरण शर्मा आधुनिक संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों में से एक हैं। उनकी गणना मूर्धन्य साहित्यकारों में की जाती है। संस्कृत में रचित उनके दो उपन्यास हैं सीमा और रयीशः। उनके दोनों ही उपन्यासों में आदर्शवाद अपने विविध रूपों और आयामों में उपलब्ध होता है। आदर्श के इन सभी रूपों में प्रमुखतम आदर्श लोककल्याण का है, चाहे सामाजिक हो या वैयक्तिक, राजनीतिक हो या वैज्ञानिक, सब में लोककल्याण को ही प्रमुखतया ध्यान में रखा गया है। इनके उपन्यासों में उपलब्ध आदर्शों को हम निम्न वर्गों में रखकर देख सकते हैं।

लोक कल्याण का आदर्शः-

सीमा में लोककल्याण का आदर्श स्थान स्थान पर उपस्थित किया गया है। पृ0 11, 12, 23, 28, 82, 83, 84, 85, 86, 89, 98, 99, 100, 110, 113, 117, 120, 126, 127, 129, 132, 133, 134, 135, 142 पर देखा जा सकता है। किं बहुना, लोककल्याण का आदर्श उपन्यास में आद्यन्त विद्यमान है। यथा कुमार के प्रवचन के प्रभाव में **सुसंस्कृतं किमपि निर्मलं वपुर्दधुस्तत्र चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः कुमारप्रवचनहरचरणन्यासगङ्गावगाहनविगत-कल्मषाः। अवर्धत काचिदभिनवा सेवाभावना परितः। असेवत राजा प्रजाः स्वकीयाः सन्ततीरिव। यथास्थानं यथाशक्ति यथाप्रतिभमसेवन्त राज्यं सर्वाऽपि प्रजाः। अवर्धन्त सर्वा विद्या सर्वभावेन। अवर्धन्त सर्वाः कलाः। .... वनिता अपि स्वयं रक्षिताः स्वयंवराः स्वतन्त्रा विद्याविनयसम्पन्ना मातृशक्तयो निजकुले राष्ट्रकुले च शक्तिं, निष्ठां कलानुरागं निर्मलवृत्तींश्च रामणीयकं सुरुचिं चावर्धयन्। अवर्धन्त प्रजाकुलसम्पदाः। अवर्धत राजकोषः अक्षयमजयमभ्यवसद्राष्ट्रम्। विद्याविनयशक्तिर्भूतिमतीव सर्वत्र बभौ, ददौ, दधौ च सर्वमनवद्यं सत्यं शिवं सुन्दरम्।**"[1] इन पंक्तियों में लोककल्याण के आदर्श के साथ साथ सामाजिक और राष्ट्रिय तथा राजनीतिक आदर्श भी अभिव्यञ्जित हुआ है। समाज में, राष्ट्र में स्त्रियाँ स्वयंवरा हों, वृद्ध अच्छे संस्कारों के प्रवर्तक हों, बच्चे हंसते हुए निर्मल वस्त्र धारण किये हों और युवा नूतन उत्साह से युक्त हों।

अपने दुष्कर्मों का निश्छल वर्णन सभी वैयक्तिक और सामाजिक आधियों का परम औषध है और इस प्रकार की स्वीकारोक्ति समस्त राष्ट्र की शक्ति और दाम्भिक धर्मध्वजों से

1 सीमा, पृ0 11, 12

आच्छादित सत्यनिष्ठा की परम जय के लिए होती है।[2] प्रज्ञापराध सब वैषम्यों का मूल है। मल अपना भी और दूसरे मलों का भी संस्कारक होता है, **अत एव विकारा भवन्ति शमनीया: संस्कार्याश्च सामरसेन परमशिवेन परस्पराभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तिना न तु समुच्छेद्या: समूलम्।'**[3] धातु, मल और क्रियाओं में समता हो। इन पंक्तियों में सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्श भी प्रस्तुत है। लोककल्याण का आदर्श है कि मित्रामित्र से समान अभय हो। समरसता का आश्रय लिए लक्ष्मी चंचल न हो, असीम जिज्ञासा के आश्रय वाली लोककल्याण को ही लक्ष्य रखकर ज्ञान प्रधाना सरस्वती वितण्डा न करें। **'निखिलमपि शिवं सत्यं सुन्दरं निसर्गस्य स्वयं तत्र परिनृत्यति, परिनर्त्तयति च सर्वान्। न तत्र लौहकनबन्धनदासता कस्यापि कुत्रचित्। विसर्पन्तीव तथापि तत्र प्रत्येकं लोकस्य चरणयोरहमहमिकयेव सर्वा अपि समृद्धय: शान्तयश्च। किमस्ति तदाध्यात्मिककाधिभौतिकं वा सुखमुत्तमोत्तमं यत्तत्र नास्ति।'**[4]

रयीश: में भी लोककल्याण का आदर्श विभिन्न पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ भी आद्यान्त यही आदर्श सर्वत्र व्याप्त है। मुनीन्द्र तथा सुधाकर मिश्र के माध्यम से ही कवि ने अपना आदर्श प्रस्तुत किया है तथा मुनीन्द्र के शब्दों में-**'जनपदकल्याणार्थमेव किमपि मे रहसि निवेदनीयम्।' तथा च लोकाराधानमेव ही परमो धर्म: स्नातकानामस्माकम्'।**[5] तथा मुनीन्द्र के विषय में इस उक्ति में- **'तव तु द्वे एवारध्ये। गुरुकुलं लोककुलञ्च'।**[6] इस उपन्यास में भी ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय के आदर्श को प्रस्तुत किया है, यथा सुधाकर मिश्र के व्यक्तित्व वर्णन में- **'अवलोक्यत च कोऽपि वृद्धस्तेजस्वी पुरुषतरुमूलमध्यासीनो मूर्तिमानिव ब्रह्मक्षत्रमहिम्नो: समन्वयस्य।'**[7] **अकुतोभय एष विहरति जनपदाज्जनपदे सर्वभूतहिते रत:**[8] सुधाकर मिश्र आततायों के लिए भी क्षमा याचना करता है क्योंकि उनका हृदय परिवर्तन हो गया है। सुधाकर मिश्र द्वारा आतताइयों के लिए क्षमायाचना में और सीमा में लोकबन्धु द्वारा क्षमायाचना में गाँधीजी का आदर्शवाद भी उपस्थित किया गया है।

अहिंसा का आदर्श :

दूसरा प्रमुख आदर्श कवि ने अहिंसा का प्रस्तुत किया है। कवि गान्धीवाद विचारधारा के पोषक हैं और उन्होंने अपने दोनों उपन्यासों में स्थान-स्थान पर अहिंसा और हृदय परिवर्तन पर बल दिया है। सीमा में अहिंसा का आदर्श पृ0 42, 45, 84, 114, 124 आदि पर अभिव्यक्त हुआ है तथा महर्षि गालव के विषय में यह कथन-**'सर्वेऽप्यत्र सुहृदस्तस्य**

---

2 वही0 पृ0 98
3 वही, पृ0 99 100
4 वही, पृ0 110
5 रयीश, पृ0 2
6 वही, पृ0 17
7 वही, पृ07
8 वही, पृ09

महर्षेश्चराचराः प्राणवन्तः। नात्र हिनस्ति कोऽपि कञ्चन।[9] **यथा च अहिंसयैव स चिकीर्षति सर्वेषां सर्वमनुशासनम्**[10] लोकबन्धु अहिंसाव्रत का आदर्श है। जो आततायी उसको मारने वाले थे, उनके लिए भी वह राजगुरु से जीवन याचना करता है-'**अहिंसाव्रतं मामुद्दिश्य प्राणदण्डैर्दण्ड्यन्ते ते कौरुरराजप्रासादवास्तव्या इति नाहमिदमयशः कदापि शक्ष्यामि सोढुम्।**[11] **पशुमपि न जिंघासति यस्य देशस्य जनपद ईदृशः सम्पन्न आध्यात्मिकाधिभौतिक- सुखसम्पद्भिः कः कथं कल्पत्यप्याक्रान्तुमीदृशं देशम्? कोऽपि विजिगीषुः सद्य स्वयमेव विजितो भविष्यतीति निश्चयो मे।**[12] तथा '**नैकोऽपि हतो योद्धाऽत्रत्यस्तत्रत्यो वा। ग्रामीणा सुरक्षाव्यवस्था अहिंसात्मका सुधाकरमिश्रकल्पिता रहस्यात्मिकाऽत्रावत समस्तमपि राष्ट्रं महतः सङ्कटात्।**[13] में भी अहिंसा सुरक्षाव्यवस्था का गौरव स्पष्ट है। सुधाकर मिश्र की प्रशंसा में भी यही बात प्रकट है-'**निहत्य भावना हिंस्राः सर्वाः प्रतिष्ठापितमत्रभवता साम्राज्यमक्षय्यमजय्यमहिंसायाः सर्वत्र वसुधातले। शक्तिरहिंसाया गरीयसी हिंसाशक्तेः। शक्तिः सौहार्दस्य गरीयसी शात्रवशक्तेरिति नूनमद्यात्रभवता प्रमाणीकृतं विलक्षणयाऽनया प्रतिक्रियया।**[14] वैज्ञानिक शिरोमणि के कथन से भी यही बात प्रकट है-'**न वयं जिंघासामः पिपीलिकामप्येकां भवद्देशस्य जिंघासामो वयं हिंसावृत्तीरेव भवदीया आत्मपरघातिनाः।**[15]

इसके अतिरिक्त दोनों ही उपन्यासों में अहिंसा और करुणा से हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। सीमा में गालव के प्रभाव से मनोहर का, दुर्गाधिपति का, लोकबन्धु के प्रभाव से कौबेर षडयन्त्रकारियों का और रयीशः में सुधाकर के कारण वृकोदर, उसके पुत्रों और षडयन्त्रकारियों का हृदय-परिवर्तन होता है।

राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श :-

कवि ने अपने उपन्यासों में राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श को भी उपस्थित किया है। सीमा में पृ0 11, 12, 23, 33, 36, 37, 45, 70, 78, 86, 93, 94, 102-104, 121, 123-125, 129, 133, 139, 140 आदि पर जगह-जगह राजनैतिक और राष्ट्रीय आदर्श प्रस्तुत किए हैं। त्रिभुजात्मक पञ्च देशों के समन्वय रूप मनोहर राष्ट्र की कल्पना भी राष्ट्रिय आदर्श की ही देन है। आदर्श राज्य में कोई अबल या अबला नहीं होनी चाहिए।[16] राजा लोकबन्धु के राज्य

---

9 सी पृ0 42
10 सीमा पृ0 45
11 वही पृ0 93
12 वही पृ0 57
13 वही पृ0 58
14 वही पृ0 59
15 वही पृ0 64
16 सी0 पृ0 33

का वर्णन करते हुए आदर्श राज्य की ओर ही संकेत किया है-**'राजा लोकबन्धुर्नाम्ना मनसा वाचा कर्मणा च तथैवाभवत्। उपदेशक एव स महर्षेरनुभावात् सर्वमसाधयत् कल्याणाय निखिलराजप्रजाकुलस्य।"**[17] तथा-**'एकमेवासीद् राज्यसञ्चालनसूत्रं तस्य राज्ञः। तदासीत् सर्वकल्याणविधानं सर्वभावेन। न तस्यासीत् कश्चित् स्वकीयः। कश्चिद्वा परकीयः। .... योग इव राज्यसञ्चालनेऽपि जयन्ति मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः सुखदःखपुण्यापुण्य-संस्कारिका महाशक्तयः।"**[१८] लोकभ्युदय और निःश्रेयस में राजाओं का अहंकार परम शत्रु होता हैं अतः वह निरहङ्कार, निरहंवाद था, उसने एक का ही वध किया और वह था, **'तदासीदहंवादाश्रितोऽहङ्कारः स्वकीयो वैयक्तिकः। तत्स्थाने व्यराजन्त तस्मिन् गुरुभक्तिर्निष्ठा, राष्ट्रभक्तिर्निष्ठा समाजभक्तिर्निष्ठश्च।"**[19]

ऐन्द्र देश के वर्णन में राज्य की भौतिक समृद्धि के आदर्श को उपस्थित किया है। जहाँ भौतिक अभाव का ही अभाव हो वहाँ कोई किसलिए किसको मारेगा, दाम्भिकता, असत्यता या तस्करी का आश्रय लेगा, वहाँ कोई किसी रमणी से दुर्व्यवहार नहीं करता, मार्ग, सरिताएँ मलों से मलिन नहीं होते, न ही विकारक धुएं, धूल मच्छर, मक्खी या शारीरिक रोग होते हैं। किन्तु आततताइयों के वध को छोडकर कभी भी सौरविज्ञान का प्रयोग हिंसा या युद्ध के लिए नहीं होता।[20] राष्ट्रीय आदर्श की आवश्यकता है कि लोकबन्धु और लोकपाल जैसे लोग समस्त त्रिभुज राष्ट्र का सांस्कारिक साम्राज्य का सञ्चालन करें, उन जैसों की शक्ति का अपव्यय दैनन्दिन राज्यसञ्चालन में न हो।[21] त्रिभुज राष्ट्र का प्रत्येक वर्ष प्रत्येक राजसिंहासन बदल दिया जाए। राज्य सञ्चालन पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी कर सकती हैं-**'पुरुष एव राज्यं सञ्चालयेदिति नास्ति नियमः।"**[२२] इसमें कवि ने स्त्री पुरुष की समता का आदर्श भी उपस्थित किया है। त्रिभुज राष्ट्र की कल्पना राजनैतिक आदर्श है जिसमें तीनों ही राज्य स्वतन्त्र, परस्पराश्रित, स्वतः परिपूर्ण बढ़ें और समस्त राष्ट्र की अध्यक्षता सौर विज्ञानाचार्य करें। अपने अपने कर्म में लगे राजदम्पती राष्ट्र की सेवा करें, राष्ट्र से विभक्त हुए भी प्रेमभाव से बन्धे रहें।[23] राजनैतिक आदर्श यह भी है-**'न वस्तु सर्वं भवति समक्षं सर्वेषां प्रकाश्यम्।'** दण्ड और अनुग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं-**'नास्ति कोऽपि तादृगनुग्रहो न भवेद्यत्र दण्डः। तथैव दण्डेऽपि**

---

17 वही,पृ0 36
18 वही, पृ0 37
19 वही, पृ0 37,38
20 वही, पृ0 77,78
21 वही, पृ0 102
22 वही, पृ0 103
23 वही, पृ0 105

सर्वत्रावलोकयितुं शक्यते परमानुग्रहोऽपि।'[24] राज्य में सीमा का अतिक्रमण न हो, अपवाद नियम न हों।[25]

जनपदाध्यक्ष भी गुणवृत्तिविभक्त अपना व्यवसाय न भूले। क़रेंसी नोटों की बढ़ती संख्या नियन्त्रित की जाए, सुरक्षित स्वर्ण बैंक की स्थापना हो। सब जनपदों के जागरूक होने पर, सर्वप्रभुत्व सम्पन्न होने, वैज्ञानिक शालाओं के सावधान होने पर देश के किसी भी कोने का अलक्ष्मी कैसे स्पर्श कर सकती है, या आक्रमण, असुरक्षा का भय कैसे हो सकता है? आदर्श राष्ट्र में आवास की विषमता नहीं होती, सभी जनपद अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक मानते हैं, न दातृत्व का अभिमान है, न लेने की लघिमा, न उपकारक उपकार्य का भेद होता है। किसी भी प्रकार जनपदाध्यक्षता, प्रधानता या अनुशास्तृता किसी का भी शाश्वतिक व्यवसाय न हो, क्योंकि इस प्रकार के औपाधिक व्यवसायों के शाश्वतीकरण से परिवार, कुल, समाज, समत्वबुद्धि, विश्वसनीयता, सत्य सत्व शक्ति, राष्ट्र, विश्व नष्ट हो जाते हैं।[26] जनपद की वाञ्छा ही प्रधान हो। देश की समस्या न घर में लायी जाए न घर की कार्यालय में ले जायी जाए।[27] संवैधानिक आदर्श इन शब्दों से भी प्रकट होता है-**'संविधानं कस्यापि देशस्य न मृत्पात्रवत् सदा भवति परिवर्त्तनीयम्।'**[28] केवल प्रधान पद के लिए ही क्यों वय: निर्धारित हो। वय: सीमाविषयक नियम वैषम्याक्रान्त हैं। आदर्श संविधान में कोई भी 75 वर्ष से ऊपर का प्रधान न हो। सभी पदों के लिए एक ही व्यवस्था हो। स्वयं व्यवस्थापित सुरक्षा में केन्द्र सुरक्षाधिकारी, गृहविभाग प्रमुख के पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। राष्ट्रशक्ति सुसंकृत, परस्पर प्रगाढ़ सम्बद्ध, श्रद्धा, विश्वास, स्नेह से सिक्त परिवारशक्तियों, समाजशक्तियों से सम्यक् बढ़े। न परिवार विभक्त हों, न महिला पुरुषों से, न बहिनें भाइयों से, न तरुण वृद्धों से विभक्त हों। **सर्वे सम्भूय, यथौचित्यं स्वं स्वयं नियोगमनुतिष्ठन्ति, पुष्णन्ति च परिवारमपि, समाजमपि, राष्ट्रमपि।'**[29] ऐसे में न जाति-वर्ग भेद, न दुरतिहास, न क्षुद्रस्वार्थ उत्पन्न होते हैं। यथा साम्य नियम सब कुछ भोगते हैं; जिससे सब ओर सौमनस्य सौहार्द बढ़ता है।[30] आदर्श राष्ट्र में क्रिया ही केवल उत्तर हो, मिथ्याश्वासन या संदेश न हों। इस प्रकार राजनैतिक, राष्ट्रिय और संवैधानिक आदर्श उपस्थित किया गया है।

---

24 वही, पृ0 102
25 वही, पृ0 118
26 वही, पृ0 102-107
27 वही, पृ0 94
28 वही, पृ0 100
29 वही, पृ0 101
30 वही, पृ0 102

डॉ0 रामकिरण शर्मा के उपन्यासों में आदर्शवाद

सामाजिक आदर्श

डॉ0 रामकरण शर्मा ने दोनों उपन्यासों में सामाजिक आदर्श को भी लिया है। यथा सीमा में कवि का मानना है कि प्रकृति या जन्म से कोई चोर नहीं होता, मिथ्या अभियोग लगाकर जब दीन को जेल में डाल दिया जाता है तो वह चोर हो जाता है। करुणा से चोर का हृदय भी परिवर्तित हो जाता है।[31] कवि का मत है-**'प्रायेण दुर्बला भवन्त्यपराधिणः। बहि सबलत्वं तेषामावरणमन्तर्दौबलस्य।'**[32] समाज में अतिथि सत्कार भी करणीय है, अभ्यागत की अवमानना होने पर प्रायश्चित भी आचरणीय है।[33] पराग्वर्ती लोकव्यवहार में सर्वत्र सीमाएँ प्रकृति परतन्त्र हैं।[34] प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम ही होता है।[35] प्रणय बन्धान के निश्छल सीमान्त में सभी सीमाएँ प्रकृत्या तिरोहित हो जाती हैं। ब्रह्म और राजकुल के प्रणयाधारित सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं है,[36] किन्तु विवाह सधर्मा ही हों, परिणय में गोत्रगत और भूगोलगत दूरी हो। संकर परिहरणीय है, सङ्कर होने पर सङ्गम मध्यमार्ग में ही रुक जायेंगे-**'परिणयो नाम सङ्गमः सहजश्चित्तयोर्द्वयोरकृत्रिमस्तत्सहकृत एकीभावश्च। अनेकयोरेकतायाः प्रत्येकं चानेकताया उदय उभयोश्च समीकारात्मकः स्वीकारः परिणयसंस्कारः संस्कारकोत्तमः संस्काराणाम्।'**[37] परिणय का आदर्श है। ब्रह्म, क्षत्र, विज्ञान नामक तीनों शक्तियाँ इस प्रकार के सङ्गमों से उपकृत, संस्कृत बढ़ेंगी। जिस किसी विधि से जिस किसी के साथ सम्बन्ध गुणों के उत्कर्ष के लिए, कल्याण के लिए नहीं होगा। सीमा रखने पर सभी विद्या, गुण और उनके प्रयोग बढ़ेंगे। हठाद् आरोपित विद्या या व्यक्ति नये नये मदों, ईर्ष्या और विकारों को जन्म देगा। गुण कर्म विभाग ही धर्मों का अवच्छेदक हो, नियतिकृत गुण विषमता है किन्तु सब एक दूसरे के गुणों का आदर करें।[38]

रयीश में भी सामाजिक आदर्श इसी रूप में उपस्थित हुए हैं। वहाँ भी इसी बात की पुष्टि है कि **'अन्तर्ममहादुर्बला एव भवन्ति शस्त्रैकशक्तयो आततायिनः।'**[39] ममतामय मातृहृदय निर्मम पुरुषों में भी ममता का सञ्चार करता है। सामूहिक उत्सवों में सभी मिलकर मांगलिक गीत गायें। चाहे कन्या कितनी ही सद्वृत्त हो किन्तु कुलकलङ्क, राष्ट्र और समाज के कुल कलङ्क पिता की पुत्री और भाइयों की बहिन होने पर निन्दा मिलती है।[40] स्वस्थ वृत्त का

---

31 वही, पृ0 2-5
32 वही, पृ0 6
33 वही, पृ0 8
34 वही, पृ0 10
35 वही, पृ0 10
36 वही, पृ0 10
37 वही, पृ0 131
38 वही, पृ0 133-137
39 रयीश पृ0 13
40 वही, पृ0 31

अनुसरण करते हुए सतत साम्यावस्था वाले कभी धातुवैषम्य से युक्त नहीं होते। यहाँ भी परस्पराश्रित स्वतन्त्रता और समता का आदर्श उपस्थित किया है।[41] समाज में सभी व्यवसाय जागरूक हों, न श्री की उपेक्षा हो न सरस्वती की, न व्यवसाय की न स्वास्थ्य की, न समाज की न नियति के सहज वैविध्य की।[42] आदर्श सामाजिक व्यवस्था में विदेशियों के भाषाविभाजन या कुलविभाजन शास्त्रीय-सभी प्रयोग असफल हो जाते हैं।[43] वायुमण्डल दुर्धूम से रहित हो, आधुनिक यान भी धुएँ के विकार से रहित, नाक कान को सुख देने वाले, दूर जाने वाले हों, इनके साथ ही पशुओं से चालित सुविकसित सुगम यान हों। बकरे बकरियां आदि भी बच्चों के सहचर हों। युवक युवतियाँ उपाधि के इच्छुक न हों, बच्चे खेलकूद में ही पढ़ें और सीखें। सब आधि, व्याधि, अभावों का उत्तर केवल क्रिया है। आधुनिक और प्राचीन चिकित्सा विज्ञान का समन्वय हो, किसी विद्वान् का परिवार भूखा, वस्त्रहीन, आवास हीन न हो।[44] किसी का ज्ञान अभाव में कागजो में ही नष्ट न हो जाए। समाज में यन्त्रों का प्रयोग हो किन्तु जीवन ही यान्त्रिक न हो जाए। समाज आत्महीन या आत्मसंगीतहीन न हो।[45]

वैज्ञानिक आदर्श

दोनों ही उपन्यासों में वैज्ञानिक आदर्श को भी प्रस्तुत किया है। सीमा में सौरविज्ञानाचार्य के द्वारा और रयीशः में चर्मेश्वर मन्दिर के वैज्ञानिकों द्वारा। सीमा में ऐन्द्र देश की भौतिक सम्पन्नता में सौरविज्ञान का आदर्श उपस्थित किया है, जहाँ सौरशक्ति के प्रभाव से न धूलि, न मच्छर, सभी काल की ऋतुएँ उपलब्ध, शरीरों में कोई रोग नहीं, कोई मल सरिता या मार्ग को मलिन नहीं करते, कोई धूम विकार नहीं।[46] सौर-विज्ञान की महिमा से कुछ भी अचल चल करना संभव, अगले दिन याद किए या करे जाने वाला यथाकाल हो जाता है। किन्तु सौर शक्ति संकलन विज्ञान के महर्षि का एक ही आग्रह कि **'आततायिवधवर्जं न कदापि भवेत् कदापि हिंसार्थं युद्धार्थं वाऽस्य शास्त्रस्य प्रयोग इति।'**[47]

इसी प्रकार रयीशः में सुमनःपुर के वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित चमेश्वर मन्दिर चर्मविज्ञान के नये-नये चमत्कार प्रकट करता है। पशुओं के चर्म उनकी आयु के अवसान पर ही परमाधुनिक शैली से संगृहीत किये जाते हैं, चर्मव्यवसाय केन्द्रों में भी कोई दुर्गन्ध नहीं है। बकरे भी किसी उपाय से सुगन्धित कर दिए जाते हैं। वैज्ञानिक कल्पनाऐं भी सात्त्विक हों, फैक्ट्रियाँ भी सौरशक्ति से संचालित हों। वायुमण्डल प्रदूषक दुर्धूम न फैंके, आधुनिक यान भी धूम रहित

---

41 वही, पृ0 63, 65
42 वही, पृ0 73, 74
43 वही, पृ0 45
44 वही, पृ0 90-93
45 वही, पृ0 97
46 सीमा, पृ0 77, 78
47 वही, पृ0 78

हों।[48] सुमनःपुर के कुछ वैज्ञानिक भूमि की उर्वरता नव नव निसर्गज आविष्कारों से बढ़ाते हैं। सब क्षेत्र यथासमय गङ्गा का जल पीयें, इसलिए कुछ धूमरहित निष्कलुष यन्त्रों का निर्माण करते हैं तो कुछ वस्त्रों के मल, कुछ शरीरों के, कुछ वचनों के, कुछ मन के और कुछ गलियों के मल धोते हैं।[49] वैज्ञानिक आविष्कारों में यहाँ भी अमेद्यतालिका और गोपनीयता है क्योंकि, **अनधिकारिहस्तगत अविष्कारो भवति स्वघातक उन्मत्तहस्तगतः कृपाण इवेति.................।**[50] सभी सत्य सदा प्रकाश्य नहीं होता। वैज्ञानिक दूरनियन्त्रक सुरक्षाविधि सबके सामने प्रयोग करते हैं किन्तु उनके निर्माण का कुलपरम्परागत गोपनीय पाण्डुलिपियों से प्राप्त किया गया रहस्य किसी को नहीं पता क्योंकि दुरभिनिवेश निरङ्कुश शासक इस सुरक्षाविधि का दुरुपयोग कर सकते हैं। तब तो प्रकृति का करुणाभिनिवेश ही नष्ट हो जायेगा और यह विज्ञान का प्रसार प्रकृति का महान् विश्वासघातक होगा, इसलिए पाण्डुलिपियों का प्रकाशन उचित नहीं।[51] वैज्ञानिक प्रयोगविधि दूसरों के ध्वंस, परिसर के प्रदूषण के लिए न हो। **'शक्तिः सौरी, शक्तिर्मलानां मानुषाणां पाशवादीनामन्यदीनां च संस्कृतानां तथा प्रयुज्यतां यथा सम्यगाराध्येत (न तु प्रकोप्येत) निसर्गः न वा प्रदूष्येरन् क्षितिजलपावकगगनसमीराः।'**[52]

आर्थिक आदर्श

डॉ0 रामकरण शर्मा ने अपने उपन्यासों में आर्थिक आदर्श को भी लिया है। कवि का मानना है कि **'हरणं यथाऽपराधस्तथैवाऽऽहरणमपीति'**[53] पूर्व चोर को कोई ऐसी जीविका वृत्ति दी जाए जिससे वह अपना और अपने परिवार का भरणपोषण कर सके और सुखपूर्वक रह सके।[54] आर्थिक आदर्श ऐन्द्र राज्य में जहाँ मणिकाञ्चननिर्मित अभ्रंलिह प्रासाद हैं, पशु भी दूध पीते हैं, भौतिक अभाव का भी अभाव है तो तस्करी, दाम्भिकता या असत्य आचारता का आश्रय क्यों लिया जायेगा।[55] सीमा की अपेक्षा रयीशः में लेखक ने आर्थिक आदर्श को अधिक विशद रूप में लिया है। सम्पत्ति ही परमापदाओं का स्थान है।[56] देश के नेता वैदेशिकों को बुलाते हैं और मिलकर राष्ट्रिय सम्पत्ति लूटते हैं। आततायियों से छीनकर सभी धन सीलकर राजकोष में रखा जाए। आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि जनपदवासी अपने उत्पन्न फलों का भोग

---

48 रयीश, पृ0 74-76
49 वही, पृ0 56
50 वही, पृ0 56
51 वही, पृ0 65, 78
52 वही, पृ0 56
53 सीमा, पृ0 5
54 सी0 पृ0 5-6
55 वही, पृ0 77-79
56 रयीश, पृ0 2

करें, शेष अवशिष्ट ही बचे।[57] भूमि पर सबका समान अधिकार हो। सुवर्ण बैंक के रूप में आर्थिक आदर्श प्रस्तुत किया है। सुवर्ण बैंक की स्थापना हो, जिसमें सुवर्ण निचय बढ़ाया जाता है, करेंसी नोटों की व्यक्त या अव्यक्त स्फीति नहीं होती। आवश्यकतानुसार वैसी मुद्राएँ सञ्चित भी की जाती हैं। जो भी बैंक में सुवर्ण राशि सञ्चित होती है, उसमें सभी समान रूप से अधिकार रखते हैं, विशिष्ट अवसरों पर आभूषण लेकर पहिने जाते हैं, किन्तु लौटाने होते हैं। विशिष्ट अतिथियों के लिए सबकी सम्मति से जो उपहार दिया जाता है वह अनिवर्त्तनीय होता है।[58] प्रति व्यक्ति प्रतिमास दश सहस्रात्मक मुद्राराशि उपार्जनीय, उससे अधिक सुवर्ण रूप में होकर सुवर्ण बैंक में जमा हो, शिशु भी जन्म से ही वेतन प्राप्त करे। जनपदाध्यक्ष की सञ्चित सम्पत्ति जनपद की ही हो।[59]

शिक्षा का आदर्श

दोनों ही उपन्यासों में शिक्षा का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है। सीमा में कवि के अनुसार प्रकृति स्वयं सब कुछ सिखा देती है-'अहर्निशं प्रवर्त्तमाना व्यापका हि भवन्त्युपदेशाः प्रकृतेः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रतायाः सीम्नि सम्मानितायामौचित्यबोधोऽपि निसर्गजः स्वयमेव वर्धते।'[60] गुरुओं की सूत्रशैली शिष्यों में सन्देहपूर्वक अनेक जिज्ञासा उत्पन्न करती है और जिज्ञासु की उर्वर चित्तभूमि में ज्ञान बीज प्ररोहित होते हैं।[61] विद्या अविद्या का भी क्षेत्र विशाल है, कौन विद्वान् है कौन अविद्वान्, निर्णय करना सम्भव नहीं है। प्रज्ञापराध सब वैषम्यों का मूल है।[62] विद्या का आदर्श इन शब्दों में उपस्थित किया है-'विद्योत्तमः साशेषगुरुकुलः सञ्वस्कार शुद्धीस्त्रिविधाः प्रतिव्यक्तिः, प्रतिगेहम्, मानसीर्वाचिकीः शारीरीश्च। न कश्चिदकृतविद्यः न कोऽपि निरक्षरोऽवर्त्तत निसमन्वयदर्शनो निःसमधातुमलक्रियश्च तस्मिन् मनोहरराष्ट्रे। भद्रश्रवसो भद्रवाचो भद्रदर्शनो भद्रङ्कराः सर्वे भद्रमानसाः सर्वतो भद्रं किमपि रचयामासुः सर्वे समस्तेऽपि मनोहरे सद्विद्यासंस्कृते।'[63]

सीमा की अपेक्षा रयीशः में शिक्षा का आदर्श अधिक स्पष्ट और विस्तार से प्रकट किया है। सुमनःपुर के माध्यम से शिक्षा का आदर्श प्रस्तुत किया है तथा 5 वर्ष से अधिक आयु का कोई भी निरक्षर न हो, प्रायः 50 वर्ष से ऊपर की प्रबुद्ध गृहस्वामिनियों का समूह शिशुओं का शिक्षण करे और रात दिन शिशुओं के वाणी, मन और शरीर के संस्कार के लिए श्रमशीला हों। प्रारम्भ में शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो और माताएँ ही शिक्षिका हों, उसके बाद 5वीं या

---

57 वही, पृ0 20
58 वही, पृ0 24
59 वही, पृ0 85
60 सीमा पृ0 15
61 वही, पृ0 18
62 वही, पृ0 99
63 वही, पृ0 137

छठी में एक विदेशी भाषा भी कम्प्यूटर खिलौने के माध्यम से सिखायी जाए, जिससे कोई बोझ अनुभव नहीं होता। शिशु गधों की तरह पुस्तकों का भार न ढोयें। खेल में ही वे भाषाविज्ञान, साहित्य, गणितादि जानें और निसर्गज शैली में जिज्ञासा भी करें। माताएँ बचपन से ही ललित शैली में ज्ञान की पिपासा तथा सत्यासत्य विवेचना सामर्थ्य सुपरिचित भाषा के माध्यम से उत्पन्न करें।

सुपरिचित भाषा सबकी मातृभाषा होती है अतः उसके शिक्षण में बहुत काल या श्रम नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार अवकाश प्राप्त उद्भट वैज्ञानिक, भारतीय और अभारतीय, शिष्यों में वैज्ञानिक जिज्ञासा उत्पन्न करें तथा प्रयोगों और प्रयोगों के निश्चित ज्ञान के लिये प्रेरित करें। कोई भी निर्गल व्याख्यान व्याख्यानशाला में प्रस्तुत न हो। आचार्य प्रश्नोत्तर प्रक्रिया से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करते हुए पलभर के लिए भी विश्राम न लें।[64] इस प्रकार नैसर्गिक व्याख्या स्वतः चालित रहे कि बचपन से लेकर वार्धक्य तक उत्तरोत्तर जिज्ञासाएँ बढ़ें। बच्चों में अभ्यास के साथ ही बोध की प्रस्तुति की प्रश्नोत्थापन की भी अप्रतिम शक्ति विकसित हो। युवा भी सुव्यवस्थापित पुस्तकालय और सुसंस्कृत प्रयोगशाला में समय बितायें। विदेशी विश्वविद्यालयों से भी विद्वान् आकर पुस्तकालंय और प्रयोगशाला का प्रयोग करें। युवक-युवतियों की शिक्षा केवल उपाधिमात्र के लिए न हों, वे जिज्ञासा करें और तज्ज्ञों से विज्ञान प्राप्त करें, पुनः पुनः जिज्ञासा करें और पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला से समाधान प्राप्त करें और इस प्रकार नूतनातिनूतन ज्ञान विज्ञान के आविष्कार से आलोकित अन्तःकरण वाले उन-उन अभिनव चमत्कारों का प्रयोग करें और करवायें। वृद्धावस्था में यद्यपि शिक्षकता सुगम है, शिष्यता नहीं तो भी शिष्यता का अभिनन्दन हो, प्राचीन के साथ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का भी आदर हो। विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त होने वाली शिक्षा शैली कृत्रिम हैं, अभ्यास की शैली कृत्रिम है, बच्चे जो पढ़ते हैं, भूल जाते हैं, कुछ विरले ही शिशु अनुशासनहीन हो जाते हैं। संस्कार प्रयोग रहित इस शिक्षा से कोई लाभ नहीं। इसका एक ही समाधान और आदर्श है- **'निरुपाधिकसहजज्ञानविज्ञान-प्रसार'**। हजारों महिलायें हैं जो शिशुओं को सहज शैली से पढ़ा सकती हैं, इसी प्रकार प्रत्येक ग्राम में पुस्तकालय और प्रयोगशालाएँ इस प्रकार की स्थापित हों, जिससे युवाओं की स्वाध्याय में, स्वाधीत प्रयोगों में रुचि बढ़े और सर्जनात्मक प्रतिभा बढ़े।[65] साथ ही किसी भी विद्वान् का ज्ञान अभाव में नष्ट न हो। गुणी की अवमानना न हो।

आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श

कवि ने अपने उपन्यासों में आध्यात्मिक, नैतिक आदर्श को भी लिया है और वैयक्तिक को भी। यह आदर्श सीमा में महर्षि गालव, लोकबन्धु, लोकपाल, सौरविज्ञानाचार्य तथा रयीशः में सुधाकरमिश्र, परशुराम मिश्र, राम और लक्ष्मण मिश्र तथा मुनीन्द्र के रूप में प्रकट हुआ है।

---

64 र0 पृ0 48
65 वही, पृ0 96, 97

आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण महर्षि गालव चोर के हृदय को, लोकबन्धु षडयन्त्रकारियों के, लोकपाल मंदनिका के, सुधाकर मिश्र वृकोदर, उसके पुत्रों और आततायिों के हृदय परिवर्तन करने में सक्षम हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष में ईश्वर की सत्ता में विश्वास होता है-**'विश्वम्भरो हि बिभर्ति सर्वान्, त्वामपि मामपि, सर्वानपि।'**[66] आध्यात्मिक व्यक्ति किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता-'**नास्ति स मित्रममित्रं वा। कृपालुरेव स केवलं पुरुषविशेषः कश्चन।**'[67] उसमें सब कुछ '**सर्वं निश्छलं सत्यं शिवं सुन्दरम्**' होता है।[68] आध्यात्मिक उत्कर्ष इन शब्दों में प्रकट हुआ है-'**नूनं मामतिशेषे त्वं निरभिमानः क्रान्तप्रज्ञः समुज्झितस्वः सिद्धलोकसेवः।**'[69] सर्वात्मा विश्वविश्वात्मक ब्रह्म को अर्पित, स्व, अस्व के भेद से रहित, सम्पूर्ण वेदितव्य का ज्ञाता परन्तु स्वार्थ से अपरिचित, त्रिविध दुःख के आत्यन्तिक तापनिवृत्तिमूलक सकल ज्ञान विज्ञान का जानकार, सार्वभौमसाम्राज्य महाशक्तिशाली भी कुलक्रमागत विनय की परम सीमा को प्राप्त, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव होते हुए भी मानव के सहज स्वभाव का समादर करने वाला, सहजानुराग का समादर करते हुए भी चारित्रिकी, पारमार्थिकी, मौलिकी, राजनीतिकी धार्मिकी नीति को धारण करते हुए, शान्तिमयी, लोहे-सोने के बन्धन से मुक्त, युद्ध हिंसा को लुप्त करने वाली कथा युक्त, सामरस्य पर आश्रित, समस्त कुल संजीवनी स्वतन्त्रता को दिखाते हुए, कुमार ने स्वेच्छाचरितात्मक, उचितानुचितसंगमन के विवेक को भूलने वाली विधि को ही मानो धो डाला।[70] अपने अहंकार का नाश करना ही वैयक्तिक आदर्श है।[71] कर्तृत्व का अभिमान न हो, किसी से कोई अपेक्षा न करते हुए अपने कर्तव्य का ही ध्यान हो। द्वेषबुद्धि से अपरिचित, जन्म, कर्म और निसर्गतः शत्रुभावना से अपरिचित, सर्वदा प्रसन्न, निर्विकार, निर्दम्भ, निसर्गनन्दन, सहजानुराग सरल, सर्वात्मना सर्वहितसाधनभावना युक्त होना परम आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श है, जो लोकबन्धु में लक्षित होता है। **सर्वेषु यस्य आत्मा विलसति यस्मिंश्च विलसन्ति सर्वेषामात्मनः स महात्मा महाशक्तिः महाविनयविजयजयमालः कथं केन कुत्र जेतुं शक्यते।**'[72]

रयीशः में भी इसी आदर्श को उपस्थित किया है यथा-'**निर्वेदनिःसङ्गनिस्पृहनिर्मम-करुणोद्रेकापास्तसमस्तस्वार्थधिषणः परमहंसायतेऽधुना जनपदाध्यक्षः।**'[73] निसर्ग सरल, महामनस होना आध्यात्मिक आदर्श। सुधाकर मिश्र के द्वारा वैयक्तिक और आध्यात्मिक दोनों ही आदर्श उपस्थित किये हैं-'**मनसा वपुषा चायमहरहः सम्पदुपास्ते दैवींस्तथैव चोपासते वचसा**

---

66 सी० पृ० 5
67 वही, पृ० 5
68 वही, पृ० 7
69 वही, पृ० 14
70 वही, पृ० 30
71 वही, पृ० 36
72 वही, पृ० 39
73 र० पृ० 5

देववाणीम्। अकुतोभय एष विहरति जनपदाज्जनपदे सर्वभूतहिते रतः।"[74] **नूनं बिभर्त्ति गरिमाणं सत्यस्य सुधाकर मिश्र! किन्तु विनयलघिमाऽपि तदीयः सर्वान् विस्मापयति। सेवते पशून्, सेवते शिशून्, प्रेरयति तरुणान्, शृणोति वृद्धान्, बोधयति वैज्ञानिकान्, सुरक्षति जनपदं स्वयमेव। तस्य नास्ति कश्चिदायः। अत एषोऽस्ति रयीशः। ऋते रसालास्वादनस्पर्धावसरात् स मितं पिबति, मितं भुङ्क्ते, मितं ब्रूते, मितं स्वपिति च।**"[75] इस प्रकार यह वैयक्तिक और आध्यात्मिक आदर्श की चरम सीमा है। सुधाकर मिश्र में आध्यात्मिक और वैयक्तिक आदर्श प्रतिफलित हैं-'**अप्ययं देव ! कोऽपि मनुष्यवर्ष्मा? अथवाऽतिशेते देवमप्येषः?....... न दधते स्वाम्यं कपर्दिकाया अप्येष रयीश आर्यः। सर्वमस्य सार्वजनीनम्। नास्ति कोऽपि स्वार्थस्तदीयः।**' अलौकिक प्रायश्चित सभी अपराधों, पापों की कीचड़ को धो देता है।[76] कुलपति का कथन-'**मनोवाग्वपुर्मलानि प्रक्षालितानि सम्यगस्माभिः। किन्तु प्रक्षालकमपि भवति प्रक्षाल्यमन्ते**"[77] भी आध्यात्मिक आदर्श को उपस्थित करता है। विद्या विनय और विनय पात्रता को उत्पन्न करती है। सुधाकर मिश्र के इन शब्दों में-'**सत्यमहं ब्रवीमि न केवलमहं न भजे कर्तत्वाभिमानं, वस्तुतो नैवाहमस्मि कर्ता विधाता वा कस्यचित् संविधानस्य वा तत्तज्जनपदसमृद्धीनां वा। द्रष्टाऽहमुदासीनो नूनं वर्ते, प्रसीदामि तां चावलोक्य कृत्स्नमिमं विकासक्रमं सात्त्विकं सर्वेषाम्**"[78] भी कवि का आध्यात्मिक आदर्श स्पष्ट है कि पुरुष द्रष्टा, उदासीन हो। सर्वभूतहितरता उदासीनता ही परमशक्ति है। गुणवत्ता भी प्रयोजन के लिए हो। इस प्रकार कवि ने आध्यात्मिक और वैयक्तिक भारतीय संस्कृति के आदर्श को प्रस्तुत किया है।

डॉ0 रामकिरण शर्मा ने सीमा में कुलमाता के रूप में और रयीशः में सुशीला के रूप में जननी के आदर्श को भी उपस्थित किया है यथा-'**यः कश्चिद् या काचिद् वा स्निह्यति तनुजे भवत्यसौ प्रकृत्या स्नेहभाजनं जनन्याः।**"[79] **कुलमाता तु यथा लोकसमुदाचारं सिन्दूरैः पुष्पैः फलैः प्रसादैः सौगन्धिकैर्वनदेव्युपानीतैः प्रसादयन्ती समभिनन्दन्ती सर्वान् निखिलस्य स्वामिनी विश्वस्नेहस्य विश्वममताया विश्वकल्याणस्य च रराज दिव्यमातृतेजोमूर्त्तिर्जयन्तीव सर्वान् परमवात्सल्येन।**"[80] माता का आदर्श-'**शिशुरेव पालनीयः सर्वभावेन। अयमेव महाव्रतभूतस्तवेदानीम्। अलं व्रतान्तरैः।........ किन्तु यावच्छक्यं मातरः स्वयं पुष्णन्तु शिशूनिति महानयमभिलाषः प्रकृतेस्त्वयापि पूरणीय एव।**"[81] रयीशः में माता का आदर्श

---

74 वही, पृ0 9
75 वही, पृ0 74
76 वही, पृ0 44
77 वही, पृ0 53
78 वही, पृ0 105
79 सी0 पृ0 17
80 वही, पृ0 101
81 वही, पृ0 108

सुशीला के शब्दों में-'**कथङ्कारं जानीयास्त्वं मातृहृदयम्। प्रकृत्यैव ममतान्धं भवति तत्।**'[82] तथा जनपदाध्यक्षा के शब्दों से-'**न सुलभा जनन्यो लोके भवादृशः। धन्यास्ति भवती यथा समस्तमपि कुलं मानवजननीनां वर्त्तमानानामतीतानां भविष्यन्तीनां च कृतार्थतां नीतम्। अहमहमिकयेव विश्वस्यापित विश्वस्य जनन्य इमं पुत्रीयन्तितमाम्।**'[83] प्रकट होता है।

इस प्रकार डॉ0 रामकरण शर्मा ने अपने दोनों ही उपन्यासों में भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रेरित, विविध आदर्श उपस्थित किये हैं। इनके दोनों उपन्यासों में एक से ही आदर्श उपस्थित किये गए हैं, किन्तु सभी आदर्शों के मूल में लोक कल्याण, परस्पराश्रित स्वतन्त्रता, समरसता का आदर्श ही अनुस्यूत है। लोकमङ्गल सूत्र है, जिसमें सभी आदर्श गुँथे हुए हैं।

---

82 रयीश, पृ0 17
83 वही, पृ0 18

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0157-164)

राजशेखर और साहित्यिक आदान-प्रदान

डॉ0 किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत-विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय,
नैनीताल (उत्तरांचल)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए वह लेन-देन के सिद्धान्त से बच नहीं सकता। वह अपने पूर्वजों एवं समकालीन व्यक्तियों से, परम्पराओं, आदर्शों, शिक्षाओं एवं बहुत-सी भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करता है तथा अपने समकालीन व्यक्तियों एवं वंशजों को बहुत कुछ दे भी जाता है। समाज का सदस्य होने के कारण कवि भी इस लेन-देन के व्यवहार से अछूता नहीं रह सकता। हम देखते हैं कि महाकवि भास, महाकवि कालिदास, महाकवि भारवि, महाकवि माघ, महाकवि कुमारदास, महाकवि बाणभट्ट आदि ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन रचनाकारों से कथानक, भाषाशैली आदि को बड़ी सुन्दरता से ग्रहण किया है तथा समकालीन रचनाकारों एवं परवर्ती रचनाकारों को अपनी भाषाशैली से प्रभावित भी किया है। यद्यपि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि अपने पूर्ववर्ती अथवा समवर्ती कवियों से भाषाशैली, शब्द, अर्थ आदि का आहरण करना चोरी है --

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति।।[1]

तथा पण्डितराज जगन्नाथ तो इस साहित्यिक आदान-प्रदान की अपेक्षा सर्वथा मौलिकता के ही पक्षपाती हैं --

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।[2]

किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो महत्ता मौलिक कृति की है, वही महत्ता उस पुरातन कृति की है, जिसे महाकवि, अपने सामर्थ्य से, सुवर्ण को नित नये सुन्दर डिजाइन में ढालने वाले स्वर्णकार की भाँति, सर्वथा नवीन एवं मनोहारी रूप प्रदान कर देता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब कोई कवि किसी अन्य कवि की कृति से प्रभावित होकर लिखे तो ऐसा लिखे कि पढ़ने-सुनने वाला वाह-वाह कर उठे। हाँ, किसी और कवि की रचना को अथ से इति तक पूरी की पूरी अविकल रूप से अपनी कहना तो निस्सन्देह चोरी है और जघन्य कृत्य

---

1 विक्रमांकदेवचरित,
2 पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्र0 आ0

की भी श्रेणी में आता है। किन्तु रामायण की कथा पर आधारित प्रतिमानाटकम्, रघुवंश, जानकीहरण, महावीरचरितम्, उत्तररामचरितम् आदि तथा महाभारत के कथानक पर आधारित मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, नलचम्पू, नैषधीयचरितम् आदि सुन्दर कृतियों को कौन सहृदय विज्ञ व्यक्ति साहित्यिक चोरी के अन्तर्गत रखने का दुस्साहस कर सकता है।

कवि एवं काव्यशास्त्रीय आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यमीमांसा[3] में इस प्रकार के आदान प्रदान को 'हरण' संज्ञा से सम्बोधित किया है और बड़े विस्तार से इस ग्रन्थ के एकादश, द्वादश एवं त्रयोदश अध्याय में शब्दहरण एवं अर्थ हरण को भेद-प्रभेद एवं उदाहरणों से समझाया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि कवि अपने समय में उपलब्ध रचनाओं से इस प्रकार 'हरण' करे कि अनुचित न लगे, एतदर्थ उन्होंने हरण के दो प्रकार बताए हैं-त्याज्य एवं अनुग्राह्य। अर्थात् समाज में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की ग्रहण करने योग्य बातों को ही ग्रहण करता है, ताकि उसके व्यक्तित्व में निखार आये, न कि उसका व्यक्तित्व दूसरे की प्रतिछाया लगे। इसी प्रकार कवि के लिए भी दूसरे कवि की रचनाओं की सभी बातें लेने लायक नहीं होतीं तथा ग्रहण की गई बातों में उसे नवीनता लानी ही होती है। यद्यपि कोई कवि कितने प्रकार का आदान करता है, इसकी कोई सीमा नहीं है, तथापि कुछ समालोचकों ने अपनी समीक्षाशील लेखनी द्वारा बताया है कि कवि कथानक, शब्द, विषय, शैली, छन्द, दृश्य, वस्तु (पदार्थ) का आहरण मुख्य रूप से करता है।[4]

जहाँ तक प्रस्तुत शोधलेख के सन्दर्भ में राजशेखर का मत देखें तो उन्होंने आदान अर्थात् हरण के मुख्य रूप से दो भेद माने हैं-शब्द का आदान तथा अर्थ का आदान अब संक्षेप में इनका समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत है -

शब्द का आदान

जब कवि दूसरे कवि की रचनाओं से शब्दों अथवा शब्दों के समूहरूप सम्पूर्ण वाक्य का आदान करते हैं तो इसको शब्दहरण या शब्दादान कहते हैं। राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में इसके पाँच प्रकार माने हैं-पद, पाद, अर्थ, वृत्त एवं प्रबन्ध।[5] शब्दादान के ये भेद सोदाहरण प्रस्तुत हैं -

(क) पदहरण-जहाँ पर कवि पूर्वरचना से एक या दो पद आहृत करता है, उसे पदहरण कहते हैं। यथा -

हलमपारपयोनिधिविस्तृतं प्रहरता हलिना समरांगणे।

---

3 शोधलेख में डॉ0 गंगासागर राय द्वारा व्याख्यात, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित काव्यमीमांसा (पृ0 सं0) का अवलम्ब लिया गया है।

4 गद्यकाव्यसमीक्षा, डा0 हरिनारायण दीक्षित, पृ0 सं0 156।

5 शब्दहरणमेव तावत्पंचधा-पदतः, पादतः अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च। काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

निजयशश्च शशांक कलामलं निरवधीरितमाकुलमासुरम्॥[6]

दलयता विशिखैर्बलमुन्मदं निरवधीरितमाकुलमासुरम्।

दशसु दिक्षु च तेन यशः सितं निरवधी रितमाकुलमासुरम्॥[7]

यहाँ पर यमक के माध्यम से प्रथम श्लोक के श्लिष्ट पद का दूसरे श्लोक में आदान बड़ी सुन्दरता से हुआ है। आकुल के दो अर्थ हैं-व्याकुल तथा कुलाचलपर्यन्त। इसी प्रकार आसुरम् का एक अर्थ है-राक्षस, दूसरा है देवलोक पर्यन्त।

(ख) पादहरण

जहाँ पर कवि की रचना में पूर्ववर्ती कवि के श्लोक का पूरा-पूरा चरण आहृत हो जाता है, उसे पादहरण कहते हैं। यथा -

(१) इत्युक्तवानुक्ति विशेषरम्यं, मनः समाधाय जयोपपत्तौ।

उदारेचता गिरिमित्युदारां, द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥[8]

एवं

(१) इत्युक्तवानुक्ति विशेषरम्यं, रामानुजन्मा विरराममानी।

संक्षिप्तमाप्तावसरं च वाक्यं सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणाम्॥

पादहरण के विषय में राजशेखर की यह भी मान्यता है कि ऐसे पाद का हरण तो ठीक है जो प्रसिद्ध हो किन्तु ऐसे पाद का हरण ठीक नहीं जिससे अपनी प्रतिभा कलंकित हो।

(ग) अर्धहरण -

आधे श्लोक का आदान 'अर्धहरण' कहलाता है। यथा -

(१) पादस्ते नरवर! दक्षिणे समुद्रे पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।

आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः॥

(२) पादस्ते नरवर। दक्षिणे समुद्रे पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।

इत्थं ते विधृतपदद्वयस्य राजन् आश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना॥

यहाँ पर प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का द्वितीय श्लोक में उसी तरह हरण कर लिया गया है।

---

6 काव्यमीमांसा, एकादश अध्याय।

7 वही, एकादश अध्याय।

8 भारवि, किरातार्जुनीय, 3/10

(घ) वृत्तहरण

शब्दहरण के भेदों को गिनाते समय तो राजशेखर ने वृत्तहरण को चतुर्थ स्थान पर रखा है, किन्तु उसका विश्लेषण उन्होंने क्यों नहीं किया, यह बात समझ में नहीं आती।

(ङ्) प्रबन्धहरण

प्रबन्धहरण का तात्पर्य है किसी दूसरे कवि की रचना को अपना बता देना। किन्तु राजशेखर का मानना है कि किसी के प्रबन्धकाव्य या मुक्तक काव्य का पूर्णरूपेण हरण करके अपना बताना तो दोषपूर्ण है, चोरी है और किसी भी तरह मान्य साहित्यिक आदान की कोटि में नहीं रखा जा सकता तथा इस प्रकार की हरकत करने वाला व्यक्ति कवि कदापि नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं, काव्यमीमांसाकार के मत में किसी कवि की कृति को धन देकर खरीदना भी दोषपूर्ण है।[9]

अर्थ का आदान

महाकवि अपने अतिरिक्त अन्य कवियों से 'अर्थ' का भी आदान किया करते हैं। अर्थ का यह आदान अर्थ के तीन प्रकारों के अनुरूप ही तीन प्रकार का है-1. अन्ययोनि (दूसरे के द्वारा उत्पादित), 2. निह्नुतयोनि (जिसकी उत्पत्ति छिपी हो), 3. अयोनि (जो कवि द्वारा स्वयं उद्भावित किया गया हो)। इनमें से अन्ययोनि के दो भेद हैं-प्रतिबिम्बकल्प और आलोकप्रख्य; निह्नुतयोनि के भी दो प्रकार हैं-तुल्यदेहितुल्य एवं परपुरप्रवेशसदृश। अयोनि नामक अर्थ एक ही प्रकार का है।[10]

अन्ययोनि अर्थ के भेदोपभेदों का परिचय एवं उनका आदान

(क) अन्ययोनि का प्रथम भेद है प्रतिबिम्बकल्प। राजशेखर मतानुसार जब कवि पूर्व कवि के काव्य का सम्पूर्ण अर्थ ले ले और वाक्यसंरचना में अन्तर कर दे और इस प्रकार दोनों वाक्यों में तात्त्विक भेद की प्रतीति न हो तो ऐसे अर्थहरण को प्रतिबिम्बकल्प कहते हैं -

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥[11]

उदाहरणार्थ-

(क) ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
(१) जयन्ति चन्द्रामृताम्बुकणसेक सुखयप्ररूढै-

---

9 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 156-157

10 वही, पृ0 सं0 161

11 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 (16)

यैरंकुरैरिव विराजति कालकूट:॥

(ख) जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहय:।

गलद्गंगाम्बुसंसिक्तकालकूटांकुरा इव॥

यहाँ पर प्रथम पद्य का सम्पूर्ण अर्थ दूसरे पद्य में ग्रहण कर लिया गया है।

प्रतिबिम्बकल्प के आठ उपभेद भी राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार से एकादश अध्याय में प्रस्तुत किये हैं और इन उपभेदों के नाम हैं-**व्यस्तक, खण्ड, तैलबिन्दु, नटनेपथ्य, छन्दोविनिमय, हेतुव्यत्यय, संक्रान्त, सम्पुट**। राजशेखर ने काव्य की ओर प्रवृत्त होने वाले मनीषियों को सचेत भी कर दिया है कि अन्ययोनि नामक अर्थ का प्रतिबिम्बकल्प नामक आहरण कवि के कवित्व को तिरस्कृत करने वाला है। अत एव इससे सर्वथा बचना चाहिए-

सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्प: परिहरणीय:[१२]

(ख) अन्ययोनि का दूसरा भेद है-**आलेख्यप्रख्य**। राजशेखर के मतानुसार पूर्व कवि की रचना में नये कवि द्वारा कुछ संस्कार कर दिए जाने पर जब वही रचना प्राचीन रचना से भिन्न प्रतीत होती है तो अर्थ को जानने वाले लोग उसे आलेख्यप्रख्य काव्य कहते हैं-

कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति।

तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥[१३]

उपर्युक्त (प्रतिबिम्बकल्प से सम्बद्ध) उदाहरणों में बदलाव करके आलेख्यप्रख्य नामक आहरण का भेद बन सकता है यथा-

जयन्ति धवलव्याला: शम्भोर्जूटावलम्बिन:।

गलद्गंगाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दांकुरा इव॥

आलेख्यप्रख्य के भी आठ उपभेद हैं-**१. समक्रम, २. विभूषण-मोष, ३. व्युत्क्रम, ४.विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नट-नेपथ्य, ७. एक-परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति**। आचार्य राजशेखर ने अन्ययोनि के इस आलेख्यप्रख्य नामक आहरण के प्रकार को कवियों के लिए ग्राह्य माना है।[14]

निह्नुतयोनि के भेदोपभेदों का परिचय एवं उनका आदान

(क) निह्नुतयोनि का प्रथम भेद है-**तत्तुल्यदेहिवत्** अर्थात् जिस काव्य में विषय का भेद होने पर अत्यन्त सादृश्य के कारण दूसरे काव्य से अभेद की प्रतीति हो, उसे तत्तुल्यदेहिवत् नामक आदान कहा जाता है-

---

12 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 172

13 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 161

14 काव्यमीमांसा, त्रयोदशोऽध्याय)

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यवत्।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि॥

उदाहरणार्थ–

(क) अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।
अमीषां निर्माणं किमपि तदभूद्दसुधकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम्॥[१५]

(ख) प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
महुरूपकरणत्वावर्धिताः पूजिताश्च।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः॥[१६]

इन दोनों उदाहरणों में विषय वैभिन्न्य के बावजूद उनके प्रस्तुतीकरण की प्रणाली के कारण साम्य की प्रतीति हो रही है।

आचार्य राजशेखर ने तत्तुल्यदेहिवत् नामक आदान के जिन आठ प्रकारों की चर्चा की है, वे इस प्रकार हैं-**विषयपरिवर्त**, **द्वन्द्वविच्छित्ति**, **रत्नमाला**, **संख्योल्लेख**, **चूलिका**, **विधानापहार**, **मणिक्यपुंज**, **कन्द**। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत से सहमत होते हुए इस मार्ग को भी कवि के लिए अनुकरणीय बताया है।[17]

(ख) निह्नुतयोनि का दूसरा भेद है–परपुरप्रवेशसदृश। जहाँ काव्यों के मूल में तो साम्य हो, किन्तु प्रबन्धरचना सर्वथा भिन्न हो, उसे परपुरप्रवेशसदृश कहा जाता है और इस प्रकार का आहरण सत्कवियों के लिए ग्रहण करने योग्य है-

मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत्पुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्॥[१८]

उदाहरणार्थ -

(क) यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्बरं प्रावृषि
स्फूर्जद्दू र्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम्।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणनभयस्पष्टप्रयौदाश्रुभिः

---

15 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय
16 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।
17 काव्यमीमांसा, त्रयोदश अ0)
18 काव्यमीमांसा, पृ0 सं0 163

किंचित्कुंचितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः॥[१९]

(ख) आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं

यात्राभंगविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत्।

हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं

सीमन्ते निहितं कथंचन ततः कर्णावसन्तीकृतम॥[२०]

इन दोनों उदाहरणों में युद्ध रोक देने वाले वर्षाकाल के आने के कारण राजा की शत्रुवनिताओं ने अपना सौभाग्य समझा, क्योंकि अब उनके पति उनके समीप ही रहेंगे- यह मूल एक ही है, किन्तु प्रस्तुतीकरण का ढंग भिन्न-भिन्न है।

आचार्य राजशेखर ने इस भेद के भी आठ उपभेदों की चर्चा अपनी काव्यमीमांसा में की है। ये उपभेद हैं-**हुड्डयुद्ध, प्रतिकंचुक, वस्तुसंचार, धातुवाद, सत्कार, जीवजीवक, भावमुद्रा, तद्विरोधी।**

अयोनि अर्थ एवं उसके भेद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अयोनि अर्थ कविप्रतिभाजन्सय अर्थ है। राजशेखर ने उसके तीन प्रकार बतायें-**लौकिक, अलौकिक, लौकिकलौकिक।** इनमें से अलौकिक अर्थ वाला उदाहरण प्रस्तुत है-

देवी पुत्रमसूत नृत्यतो गजाः किं तिष्ठेत्युद्भुजे

हर्षाद् भृंगिरिटावुदाहुतगिरा चामुण्डयालिंगिते।

पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिर्घनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-

रन्योन्यांकनिपातर्जजरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः॥[२१]

राजशेखर सम्मत शब्दहरण एवं अर्थहरण से सम्बद्ध उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना में अर्थ के भी अनेक प्रकार हमने देखे।

राजशेखरसम्मत के प्रमुख भेद

राजशेखर ने तो पाँच प्रकार के अर्थों के आधार पर भ्रामक, चुम्बक, कर्णक और द्रावक नामक चार सौकिक कवि तथा अयोनि अर्थ का प्रकट करने वाले कवि को चिन्तामणि की संज्ञा दे दी है। उनका मानना है कि जिस कवि ने विचार करते ही, एकमात्र रसाप्लावित,

---

19 काव्यमीमांसा, द्वादशोऽध्याय।

20 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

21 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

विचत्र अर्थ वाली, विद्वानों एवं पुरातन कवियों द्वारा पहले कभी न देखी गई कृति अभिव्यक्ति हो जाती है, वही चिन्तामणि कवि है।[22]

आचार्य राजशेखर ने माना है कि कवियों और व्यापारियों का काम विना लिए नहीं चल सकता, किन्तु जो अपनी इस चोरी, इस हरण को छिपा सकता है, वही आनन्द का अनुभव कर सकता है और प्रशंसा का पात्र बन सकता है। कुछ कवि मौलिक अर्थ के उत्पादक होते हैं, कुछ पुराने अर्थ में परिवर्तन कर देते हैं, कुछ पुराने अर्थ को अपने अर्थ से आच्छादन करने वाले होते हैं तथा कुछ अनेक प्रकार से काव्यार्थों को दूसरों से ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु जो प्राचीन शब्दार्थोक्तियों में कुछ नवीनता देखते हैं और स्वयं (अपनी प्रतिभा से) भी कुछ नया लिखते हैं, वे ही महाकवि होते हैं–

(क) नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरः वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥
(ख) उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तकः।
अच्छादकस्तथा धान्यस्तथा संवर्गको परः।
(ग) शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम्।
उल्लिखेत्किंचन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥[२३]

इस प्रकार अपने ग्रन्थ के इन तीन अध्यायों में राजशेखर ने शब्दहरण एवं अर्थहरण के विषय में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, किस प्रकार शब्द एवं अर्थ का आदान करना चाहिए, इसका भी सदुपदेश काव्यमार्गोन्मुख व्यक्ति को दे दिया है। प्रस्तुत लेख को संक्षिप्त करने की दृष्टि से शब्दहरण के अन्य भी उपभेदों और अर्थहरण के बत्तीस मार्गों के लक्षण, उदाहरण प्रस्तुत नहीं हो पाये हैं। अस्तु, राजशेखर का काव्य का आदान प्रकार ही काव्य का प्रदान बन सकता है, इसमें संशय नहीं है। हाँ, लेन-देन की प्रतिभा होनी चाहिए। आनन्दवर्धन ने कहा भी है–

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्ति प्रतिभाविशेषम्॥[२४]

---

22 काव्यमीमांसा, द्वादश अध्याय।

23 काव्यमीमांसा, एक एकादश अध्याय

24 ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0165-173)

शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ

डॉ0 वीना बिश्नोई शर्मा
प्रवक्ता-संस्कृत-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

संस्कृत वाङ्मय का मूल वेद अपौरुषेय व ब्रह्मा द्वारा उद्भूत वाणी है। जिनमें ज्ञान-विज्ञान व समस्त मानव कल्याणोपयोगी तत्त्वों के साथ ही कामसूत्र की चौंसठ कलाओं का वर्णन मिलता है। भरतमुनि के अनुसार लोकानुरंजन के लिए इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने पंचम नाट्यवेद की रचना की। जिस प्रकार वेद समस्त विद्याओं के भण्डार हैं और स्वयं ईश्वर के निःश्वास से प्रसूत हैं, ठीक उसी प्रकार नाट्यवेद भी ब्रह्मा ने समस्त वेदों के सार रूपा में अवतरित किया है।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥[1]

यह लोक के लिए समस्त शिक्षाओं की निधि है-**प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः**, व्यास की उद्घोषणा का यही स्वारस्य है। चारों वेदों में संगीत, गायन, वादन, नृत्य आदि कलाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित पाठ्य के अन्तर्गत उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। जैमिनि के अनुसार गीति का ही अपर नाम साम है-**गीतिषु सामाख्या**। छान्दोग्य उपनिषद् में स्वर नाम का स्वरूप बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में साम शब्द की व्याख्या-**'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्'** की गई है अर्थात् सा=ऋचा, अम=स्वर, अर्थात् ऋचाओं का सस्वर गायन। सामवेद के स्वरों की व्याप्ति स्वरत्रय तक सीमित न रहकर गान्धार, धैवत आदि तक बढ़ जाती है, जिसका संगीत से सम्बन्ध है। नाट्य में यही संगीत तत्त्व सामवेद से लिया गया है। उपवेदों में संगीत के समुचित प्रयोग के लिए गन्धर्ववेद का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिए इसका सम्बन्ध भी नाट्यवेद से है।

नाट्यशास्त्र में वर्णन मिलता है कि जब भरतमुनि अपने सौ पुत्रों सहित सात्वती, आरभटी व भारती वृत्ति का अभ्यास कर अभिनय हेतु ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हुए तो ब्रह्मा ने उनसे कहा कि कैशिकी वृत्ति को भी सम्मिलित कर लो, क्योंकि कैशिकी वृत्ति में सुन्दर नेपथ्य की विचित्रता, स्त्रियों की एवं नाच-गान की प्रधानता के साथ-साथ काम के उपभोगों से जनित

---

1 भरतमुनि, नाट्यशास्त्र।

उपचारों की उपस्थिति रहती है। नाट्य प्रयोग में इन वृत्तियों के असाधारण प्रयोग की कल्पना कर भरतमुनि ने उन्हें नाट्यमाता की संज्ञा दी है-नाट्य मातरः।

शृंगार प्रधान नाट्यों में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है। ब्रह्मा ने भगवान् नीलकण्ठ के नृत्य के समय कैशिकी वृत्ति देखने की बात की है-

नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका।
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः॥[2]

इसमें नृत्य, नेपथ्य, संगीत व रस आदि का समावेश है। श्रीहर्ष द्वारा रचित रत्नावली समस्त नाट्य लक्षणों से परिपूर्ण एकशृंगार प्रधान नाटिका है। यहाँ तक कि दशरूपककार धनंजय ने अपने ग्रन्थ में नाट्य लक्षणों के उदाहरण के रूप में रत्नावली नाटिका के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं।

कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में से गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकारी, चित्रयोग, नेपथ्य प्रयोग, कर्णपत्रभंग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, ऐन्द्रजालयोग, वीणाडमरुकवाद्य, शुकसारिका प्रलाप, मानसी काव्यक्रिया, छलितयोग आदि का सम्यक् वर्णन मिलता है।

रत्नावली नाटिका में कामशास्त्र की अंगभूत चौंसठ कलाओं में से अनेक कलाओं का वर्णन मिलता है। तत्कालीन समाज में मदनमहोत्सव का प्रचलन मिलता है। इसमें वेश्याओं को भी नृत्य हेतु बुलाया जाता था। उस समय स्त्रियाँ गायन, वादन और नृत्य कला के प्रति पर्याप्त अभिरुचि रखती थीं।

उत्सवों में समाज के समक्ष अनेक कलाओं का प्रदर्शन किया करतीं थीं, उस समय की स्त्रियों को चित्रकला में भी अभिरुचि थी। शृंगार सज्जा और केशपाश में अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करके उन्हे विविध प्रकार से सजाया जाता था। बालों में चमेली पुष्प लगाने की प्रथा थी, पैरों में लाक्षारस, हाथों में कंगन और कानों में कर्णफूल तथा गले में रत्नमाला आदि हारों को स्त्रियाँ धारण करती थीं। उस समय दासियाँ भी नृत्य गायन एवं वादन कला में निपुण हुआ करतीं थीं।

गीत, वाद्य व नृत्य

श्रीहर्ष कृत रत्नावली नाटिका में प्रारम्भ में ही गीत-नृत्य-वाद्य का वर्णन मिलता है। वसन्त उत्सव पर उपस्थित समस्त राजाओं द्वारा रत्नावली नाटिका देखने की इच्छा प्रकट करने पर सूत्रधार रत्नावली के मंच पर अभिनय हेतु प्रथम अंक में संगीत के प्रबन्ध के लिए पत्नी को बुलाता है।[3]

---

2 भरतमुनि, नाट्यशास्त्र।

3 रत्नावली नाटिका पृ0 8 अंक 1 तद् यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय संगीतकमनुतिष्ठामि।

इसी प्रकार यौगन्धरायण मदनमहोत्सव पर बजने वाले मृदंग व नगाड़ों से ही नगरवासियों के आनन्द का अनुमान लगा लेते है-

अये यथायमभिहन्यमानमृदुमृदंगानुगतसंगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरी ध्वनिस्तथा तर्कयामि यदेनं मदनमहमहीयांसं पुरजनप्रमोदवलोकयितुं प्रासादाभिमुख प्रस्थितो देव इति।[4]

राजा उदयन और उनका परम मित्र वसन्तक महल की छत से मदनमहोत्सव देख रहे हैं। तब वसन्तक मस्त होकर नाचते गाते नगरवासियों और चर्चरीगीतों की ध्वनियों की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करता है-**प्रेक्षस्व! तावदेतस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीतशृंगकजल-प्रहारनृत्यनागरजनजनितकौतुहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरी शब्दमुखरख्यामुख-शोभिनः प्रकीर्णपटवासपुंजपिंजरीकृतदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य।**[5]

आगे वह मदनमहोत्सव में मदनलीला का अभिनय करती हुई चेटियों द्वारा गाये जाने वाले द्विपदीखण्ड व नृत्य करती हुई मदनिका को दिखाता है-

भो वयस्य! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व। एषा खलु आम्रलतिका सहेत एवागच्छति, ततः प्रविशतो मदनलीलां नाट्यन्त्यौ द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ।[6]

राजा द्वारा मदनमहोत्सव में मस्त होकर नृत्य करती हुई स्त्रियों के खुले केशपाश बिखरे पुष्प प्रसाधनों तीव्र स्वर करते नूपुरों व कम्पित हारों के माध्यम से नगरवासियों के उल्लास का चित्रण कराया गया है।[7]

सांध्यकालीन गीतों का वर्णन भी मिलता है। राजा सूर्यास्त वर्णन प्रसंग में गणिकाओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों को सुनकर रानी वासवदत्ता से कहते **हैं-श्रुत्वा ते परिवारवनितागीतानि भृंगांगना लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः संजातलज्जा इव।**[8]

गन्धयुक्ति, भूषणयोजन

रत्नावली नाटिका मे मदनमहोत्सव पर मस्त होकर उत्सव मनाते हुए नगरवासियों के माध्यम से गन्धयुक्ति व भूषणयोजन दोनों कलाओं का वर्णन मिलता है। नृत्य करती स्त्रियों की अस्त-व्यस्त अवस्था के चित्रण में उनकी शृंगार सज्जा, गन्ध, पुष्प व आभूषण धारण करने का वर्णन मिलता है।

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः,

---

4 रत्नावली नाटिका पृ0 12 अंक 1
5 रत्नावली नाटिका पृ0 14 अंक 1
6 रत्नावली नाटिका पृ0 18 अंक 1
7 रत्नावली नाटिका श्लोक 16 अंक 1
8 रत्नावली नाटिका पृ0 25 अंक 1

क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभंगानपेक्षम्॥[9]

इसी प्रकार उत्सव का वर्णन करते हुए राजा कहते हैं कि केसर के चूर्ण से पीले दिन को उषा काल में परिणत कर देने वाले, फेंके गये सुगन्धित चूर्ण की राशियों से, स्वर्ण के आभूषणों की कान्तियों से और भार से शिरों को झुका देने वाले अशोक पुष्पों के शिरोभूषणों से यह कौशम्बी नगरी, जिसने नागरिकों के वेष के बहाने मानो कुबेर को जीत लिया है और जिसके निवासी जन मानो स्वर्ण के रस से लिप्त हैं। सारी नगरी पीली ही पीली दीखती है और उठती हुई आभूषणों की प्रभा से पाताल लोक का स्मरण करा रही है-

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥
अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे दृष्टो मनागमणिविभूषणरश्मिजालैः।
पातालमुद्यतफणाकृति शृंगकोऽयं मामद्य संस्मरतीह भुजंगलोकः॥[10]

इस नाटिका का नामकरण ही रत्नावली नामक रत्नाभूषण धारण से हुआ है। सागरिका रत्नावली धारण करने से ही रत्नावली नाम से वर्णित है। अन्त में जब उसका प्रेम रानी वासवदत्ता पर प्रकट हो जाता है तो वह जीवन से निराश होकर रत्नावली उतारकर किसी ब्राह्मण को दान में देने के लिए सुसंगता के हाथ में सौंपती है।[11] विदूषक भी रानी से प्राप्त कर्णाभूषण व कंगन राजा को दिखाता है।[12]

नेपथ्य-प्रयोग

इस नाटिका में रत्नावली के वसन्त उत्सव पर मंचन के समय नेपथ्य प्रयोग मिलता है। सूत्रधार अभिनय हेतु स्वयं वेषविन्यास धारण करने की बात करता है-

तद् यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि॥[13]

इसके पश्चात् अपने घर जाकर नटी को भी कहता है कि समस्त राजागण रत्नावली नाटिका देखने को उत्सुक हैं, इसलिए वेषविन्यास कर लीजिए-

---

9 रत्नावली नाटिका पृ0 10 अंक 1
10 रत्नावली नाटिका श्लोक11,12 अंक 1
11 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ06अंक 1
12 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 8अंक 1
13 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक11 अंक1

शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ

सूत्रधारः-रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयम् राजलोकः, तद् गृह्यतां नेपथ्यम्।[14]

इसी प्रकार सूत्रधार अपने छोटे भाई को यौगन्धरायण का वेष धारण कर आते हुए देखकर कहता है कि हम भी वेष विन्यास कर लें-**आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जीभवावः।**[15]

तीसरे अंक में सागरिका द्वारा वासवदत्ता व सुसंगता द्वारा कांचनमाला का वेष धारण करने का वर्णन है।[16]

तण्डुल-कुसुम-बलिविकार

रत्नावली में इस कला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें मंगलावरण के अनन्तर पार्वती द्वारा शिव की पूजा हेतु कुसुमांजलि समर्पित करने का वर्णन मिलता है। शिव के आराधन में पैरों के अग्रभाग पर खड़ी पार्वती शिव के लालसा पूर्ण नेत्रों द्वारा देखे जाने पर लज्जावश शिव के सिर पर डालने के लिए चाही गई पुष्पांजलि शिव व पार्वती के बीच में बिखरी हुई सभासदों की रक्षा करे। प्रथम अंक में कामदेव की पूजा हेतु पुष्प चुनने का वर्णन मिलता है। सागरिका कहती है कि भगवान् कामदेव की पूजा का समय हो गया तब तक पूजा के लिए फूल चुनती हूँ-**तद्यावदिह पूजा समयो भवति तावदहम् भगवन्तमनंगमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि।**

इसके पश्चात् राजा को ही कामदेव समझकर पुष्पों से पूजा करने का उपक्रम करती है-**तदहमप्येभिः कुसुमैरिह स्थितैव भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये।**[17]

महारानी वासवदत्ता भी राजा व कामदेव की पूजा के लिए पूजा सामग्री में पुष्प व अंगराग माँगती हैं-**तेन ह्युपनय मे कुसुमानि विलेपनं च।**[18]

चित्रकारी

इस नाटिका में चित्रकला का भी सुन्दर उदाहरण मिलता है। उस समय राजकन्याएँ ही नहीं, अपितु दास-दासियाँ भी चित्रकला में निपुण दिखाई गई हैं। कामदेव की पूजा में राजा को देखकर सागरिका मोहित हो जाती है तथा राजा का स्मरण करते हुए दर्शनार्थ उनका चित्र बनाती है। सुसंगता द्वारा उसे रंग व कूची लिए कदलीगृह में जाते व चित्र बनाते हुए देखने का वर्णन मिलता है-**सखि, दृष्टा मया ते प्रियसखी सागरिका गृहीतसमुद्गकचित्रफलकवर्तिका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती।**[19]

---

14 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 90अंक3
15 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक1अंक1
16 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ0 32 अंक1
17 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 36 अंक1
18 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 34 अंक 1
19 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 42 अंक 2

कदलीगृह में सागरिका सबसे छिपाकर अपने प्रिय राजा को देखने का अन्य कोई उपाय न जानकर चित्र बनाकर ही उनके दर्शन करना चाहती है। वह कहती है-

तद्यावदिह कोऽपि नागच्छति तावदालेख्य समर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथा समीहितं करिष्यामि। यद्यपि मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपायो नास्तीति यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्ये।[20]

सुसंगता कदली गृह में सागरिका को मग्न होकर चित्र बनाते हुए देखकर सोचती है कि यह इतने अनुराग से किसका चित्र बना रही है जो कि मुझे भी नहीं देखती।[21] वह जब पास में जाकर राजा का सुन्दर चित्र बना देखती है तो उसकी चित्रकारी की प्रशंसा करती है तथा कूची उठाकर साथ में सागरिका का चित्र भी बना देती है-

अहो ते निपुणत्वम्! किं पुनः शून्यकमेवैतच्चित्रं प्रतिभाति। तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्ये।[२०] वर्तिका गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकामालिखति।

इस प्रकार सुसंगता व सागरिका दोनों की चित्रकला की निपुणता दृष्टिगोचर होती है।

सारिकाप्रलाप व मानसी काव्यक्रिया

इस नाटिका में सारिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, उसी के कथन से कथावस्तु आगे बढ़ती है, क्योंकि यही राजा व सागरिका का प्रणय कराने का माध्यम है। रानी वासवदत्ता द्वारा सागरिका को सौंपी गई सारिका का वर्णन है, जो बुद्धिमती व बातचीत को सुनकर उसी प्रकार कथन करने वाली है। सागरिका अपनी सखी सुसंगता पर राजा से किए गए अपने प्रेम को प्रकट कर देती है, लेकिन लज्जावश यह बात गुप्त रखने को कहती है। कदलीगृह में उन दोनों के अतिरिक्त सारिका भी है। इसलिए सुसंगता डरती है कि कहीं सारिका यह रहस्य न प्रकट कर दे-

एतया पुनर्मेधाविनी सारिकामात्रकारणेन भवितव्यम्।
कदाप्येषास्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्य पुरतो मन्त्रयिष्यते।[22]

इतने में ही वानर सारिका का पिंजरा खोल देता है और सारिका उड़ जाती है व मौलसरी के पेड़ पर बैठकर बोलने लगती है। उद्यान में राजा और विदूषक घूम रहे हैं। विदूषक सारिका के स्वर के सुनकर डर जाता है, लेकिन राजा उसके स्वर का अनुमान लगाते हुए कहते है कि यह वचन स्पष्ट अक्षरों वाला व स्त्रियों जैसा तथा धीमा होने से मैं समझता हूँ कि सारिका बोल रही है-

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः।

20 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 44 अंक 2
21 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 46 अंक 2
22 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक 48 अंक 2

अल्पांगत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका॥[23]

इसी प्रकार राजा सारिका के कथन का मन में अर्थ समझकर विदूषक को बताते हैं कि मित्र किसी ने प्रेमवश हृदय में प्रियजन का चित्र बनाकर सखी के सामने कामदेव के बहाने से छिपाया, तब उसने भी रहस्य ताड़कर चतुरता से वहाँ रति के बहाने उसका भी चित्र बना दिया।[२४]

राजा और विदूषक दोनों दसकी बातें सुनते हैं विदूषक सारिका को चतुर्वेदी ब्राह्मण के समान ऋचाएँ पढ़ने वाली विदुषी बताता है-**भो वयस्य, एषा खलु सारिका दास्या दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।**[25]

आगे सारिका कहती है-

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं तु वरमेकम्॥[26]

राजा सारिका के कहे अस्पष्ट कथन को मानसी काव्यक्रिया कला से अनुमान लगाकर कहते हैं कि दुष्परिहार काम पीड़ा को धारण करने वाली सुन्दरी द्वारा सखियों के सामने जो वचन कहा जाता है, बालक तोते तथा मैना द्वारा पुनः दोहराया जाता है-

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।
तद्भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति॥[27]

इस प्रकार रत्नावली में सारिका प्रलाप व स्पष्ट अक्षरों को मिलाकर श्लोक बनाने की मानसी काव्यकला का वर्णन मिलता है।

छलितयोग

रत्नावली नाटिका में हमें छल करने व रूप बदलने का भी वर्णन मिलता है। राजा के सागरिका के प्रेम में काम संताप से संतप्त होने पर उनका मित्र विदूषक सागरिका से उनके मिलनरूपी उपाय की योजना सेविका के साथ बनाता है, यही रहस्य कांचनमाला मदनिका को बताती है कि सुसंगता ने आज विदूषक से कहा है कि चित्रपट की घटना से शंकित हुई महारानी ने सागरिका की रखवाली के लिए सौंपते हुए जो वस्त्र प्रसाद के रूप में मुझे दिये थे, उन्हीं से स्वामिनी का वेष धारण करने वाली सागरिका को लेकर और स्वयं मैं महारानी की

23 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक6 अंक 2

24 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ060 अंक2 वयस्य एवं तर्कयामि! कथापि हृदयवल्लभोऽनुरागादालिख्य कामव्यपदेशेन सखीपुरतोऽपह्नुतः। तत्सख्यापि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि रतिव्यपदेशेन तत्रैवाऽऽलिखितेति।

25 रत्नावली नाटिका पृ0 अंक पृ062 अंक2

26 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक 7 अंक2

27 रत्नावली नाटिका पृ0 श्लोक 8 अंक2

दासी रानी कांचनमाला का वेष धारणकर रात्रि के प्रथम प्रहर में यहाँ आऊँगी। तुम भी यहीं चित्रशाला के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करोगे और तब माधवी लता मण्डप में सागरिका के साथ राजा का मिलन होगा।[28] आगे सागरिका महारानी वासवदत्ता का छल से वेष बनाकर राजा से मिलने जाते हुए छल से बनाये गये देवी के वेष में किसी ने मुझे देख तो नहीं लिया-**"दिष्ट्या नाहमनेन विरचितेन देवीवेषेणाप्यस्याः चित्रशालायाः निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि।"**[२९]

चित्रयोग

रत्नावली नाटिका में तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग भी दिखाया गया है। श्रीपर्वत से आये खण्डदास नाम के महात्मा द्वारा मन्त्रयोग बल से बिना ऋतु के ही नवमालिका के पुष्पों से घिरा हुआ दिखायेंगे। यह जानकर निपुणिका आश्चर्यचकित हो जाती है तथा यह वृत्तान्त महारानी को बताने जाते हुए मार्ग में अपने विस्मय का कारण सुसंगता को सुनाती है।[28] तत्पश्चात् नवमालिका को पुष्पगुच्छों से भरा हुआ पाकर आश्चर्यचकित विदूषक यह वृत्तान्त राजा को सुनाकर बधाई देना चाहता है-

'ही ही भो आश्चर्यम्! साधु, रे श्री खण्डदास धार्मिक साधु येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपोहसन्तीव लक्ष्यते देवी परिगृहीता माधवीलताम्।'[30]

राजा भी योगबल के प्रभाव से पुष्पों से पल्लवित नवमालिका को देखकर आश्चर्य में पड़े विदूषक को प्राचीन प्रसंगों के माध्यम से मन्त्र, मणि व औषधियों के अविचिन्त्य प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि युद्ध में भगवान् विष्णु के कण्ठ में पड़ी कौस्तुभ मणि को देखकर उनके शत्रु भाग गए, मन्त्र के प्रभाव से शक्तिहीन हुए सर्प पाताल में रहते हैं, राम-रावण युद्ध में मेघनाद की शक्ति से आहत हुए लक्ष्मण व वीर वानर योद्धागण गुणों की निधान महौषधि की गन्ध का पान करके पुनः जीवित हो गये थे। अतः मन्त्र व योग का प्रभाव अवश्य है।[३१]

ऐन्द्रजालिक

रत्नावली के चतुर्थ अंक में इन्द्रजाल प्रयोग दिखाया गया है। उज्जयिनी से आये सर्वसिद्धि नाम के ऐन्द्रजालिक को वासवदत्ता कांचनमाला के साथ भेजती है।

एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धिर्नामैन्द्रजालिकः आगतः। तत्प्रेक्षतामेव आर्यपुत्रः इति।[३२]

28 रत्नावली नाटिका पृ0 पृ0 90 अंक3

29 रत्नावली नाटिका पृ0118अंक3

30 रत्नावली नाटिका पृ042 अंक अंक2

31 रत्नावली नाटिका पृ054 अंक अंक2 कण्ठे श्री पुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणिं शत्रुभिः। नष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजंगा हताः।। पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादहताः। पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेगन्धं पुनर्जीविताः।।

32 रत्नावली नाटिका श्लोक ५अंक2

शृंगार प्रधान नाटिका रत्नावली में विविध कलाएँ

वह इन्द्रजालिक राजा से निवेदन करता है कि मैं जल में अग्नि, मध्याह्न रात्रि आदि सभी असम्भव वस्तुएँ इन्द्रजाल से दिखा सकता हूँ। आप हृदय में जो भी विचारेंगें उसे मैं मन्त्रों के प्रभाव से दिखा दूँगा।[33] ऐन्द्रजालिक राजा के समक्ष मोरपंखी घुमाकर इन्द्रजाल के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु महेश व नृत्य करती हुई अप्सराएँ दिखाता है। सब आश्चर्यचकित हो जाते हैं।[34]

इसी के साथ ऐन्द्रजालिक राजा को मायाजाल से अन्त:पुर में लगी हुई आग व उसमें जलती हुई सागरिका को दिखाता है। राजा भयभीत होकर आग में कूदकर सागरिका को बचाते हैं और इतने में ही आग लुप्त हो जाती है व सब कुछ यथास्थान नजर आता है। तब राजा आश्चर्य से पूछते हैं कि यह बुद्धिभ्रम है या कोई इन्द्रजाल-**'स्वप्नेर्मतिर्भ्रमति किंन्विदमिन्द्रजालम्।'**[35] इस पर विदूषक कहता है-**भो मा संदेहं कुरु इन्द्रजालमेवेदम्।**[36]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष की रत्नावली नाटिका में कामशास्त्र की अंगभूत चौसठ कलाओं में से उपरोक्त कलाओं का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है।

33 रत्नावली नाटिका श्लोकपृ0 144 अंक4 'किं धरण्यां मृगांकं आकाशे महीधरो जले ज्वलन:, मध्याह्ने प्रदोषो दर्शयतां देह्याज्ञाप्तिम्। मम प्रतिज्ञैषा यद्यद हृदयेनेहसे संद्रष्टुम्, तत्तद्दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण।।'

34 रत्नावली नाटिका श्लोक8,9अंक4

35 रत्नावली नाटिका श्लोक 10 ,11अंक4

36 रत्नावली नाटिका श्लोक19 अंक अंक4

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0174-186)

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य के कवि पन्त

डॉ0 सत्य प्रकाश शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महा0
लोहाघाट, चम्पावत (उत्तरांचल)

आज के काव्य के मूल्यांकन की समाजशास्त्रीय, व्यावहारिक, रूपवादी, रसशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, संरचनात्मक, तुलनात्मक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय सदृश अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के आधार पर समीक्षा का आग्रह बहुत पुराना नहीं है। धर्मनीति, दर्शन, अध्यात्म एवं लोकमंगल जैसे तत्त्व ही काव्य की समीक्षा में प्रधान रहे हैं। सच पूछा जाए तो सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा शुद्ध कलावादी दृष्टि है। यद्यपि डॉ0 शिवकुमार मिश्र सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा को साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता का बोध देने में असमर्थ मानते हैं।[1] परन्तु सत्य यह है कि साहित्य की सम्पूर्ण सत्ता का बोध कराने में कोई भी समीक्षा पद्धति सहायक नहीं होगी। एकांगिता तो सभी आलोचना-पद्धतियों में मिलेगी। मानव की सहज प्रवृत्ति सौन्दर्य की ओर उन्मुख होना है और यदि सौन्दर्य शास्त्रीय पद्धति काव्य में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करने में समर्थ होती है तो निश्चित रूप से यह पद्धति बौद्धिक पिछड़ेपन का लक्षण नहीं मानी जा सकती है, जैसा कि विघटनशील साहित्यिक मान-मूल्यों के इस युग में माना जा रहा है। आज यह देखने में आ रहा है कि समीक्षक पहले से ही कुछ प्रतिमान निर्धारित कर लेता है और फिर उन्हीं के आधार पर कृति का मूल्यांकन करता है। ऐसे में वह अपनी रुचि एवं संस्कारों को ही कृति पर आरोपित करता है। अतः उसका दृष्टिकोण तटस्थ नहीं होता और वह काव्य में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित नहीं कर सकता है। अत एव समीक्षक की दृष्टि कृति-केन्द्रित होनी चाहिए।

सौन्दर्यशास्त्र क्या है? मानवीय एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण की काव्य में सौन्दर्यशास्त्र व्यवस्था करता है अथवा काव्य में अन्तर्निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाला शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र कहलाता है? वस्तुतः कवि संवेदना और समानुभूति तक पहुँचे विना कविता का मर्म उद्घाटित नहीं किया जा सकता है। अस्तु, जो समीक्षा-पद्धति आलोचक एवं सहृदय को वहाँ तक पहुँचाये, वही श्रेष्ठ एवं युगानुकुल होगी। कहना न होगा क भारतीय सौन्दर्यशास्त्र संवेदना के इस प्रस्थान-बिन्दु तक पहुँचाने में पूर्ण समर्थ है। हाँ आज सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आयातित पाश्चात्त्य 'एस्थेटिक्स' को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। लोग कल्पना, बिम्ब एवं प्रतीक को ही सौन्दर्य का साधन मान रहे हैं। परन्तु हमें ऐसे सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

1 राम की शक्तिपूजा की व्यावहारीक समीक्षा सं0 डॉ0 सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ0-88

है, जो हिन्दी की अपनी भाषिक संस्कृति और हिन्दी कविता के निजी जातीय चरित्र के आधार पर निर्मित हो। डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित ने ऐसे ही व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यभाषा, शैलीविज्ञान, संरचनावाद, अभिव्यञ्जनावाद, रससिद्धान्त प्रभृति समूचे भारोपीय काव्यशास्त्र के सन्निवेश की वकालत की है।[2]

सौन्दर्यशास्त्र कला में निहित आनन्दतत्त्व को विवेचित करता है, उसमें सौन्दर्य का शास्त्रीय विवेचन होता है। कला का प्रमुख उद्देश्य आनन्दोपलब्धि है तथा कलागत इस आनन्द की दो श्रेणियाँ हैं-बाह्य एवं आन्तर। इस आनन्दोपलब्धि के तीन उपादान हैं-मानव-जगत्, प्रकृति-जगत एवं कला। सौन्दर्यशास्त्र द्वारा इन तीनों उपादानों में निहित सौन्दर्यानुभूति बुद्धिगम्य बनती है। निस्सन्देह सौन्दर्यशास्त्र प्रकृति एवं शिल्प के विविध उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है। परन्तु उसकी परिधि में मात्र ललित कलायें ही आती हैं। सौन्दर्यशास्त्र बाह्य जगत् की प्रकृति का अध्ययन सीधे न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का अध्ययन करता है। इसीलिए डॉ0 राजवंश सहाय हीरा ने सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य आनन्द का उद्घाटन बताया है तथा उसे शुद्ध कलात्मक लालित्य की संज्ञा दी है।[3] डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा का विचार है-'आनन्द हमारे एक विशेष अनुभव का नाम है। यह वस्तु के सौन्दर्य-चिन्तन से उत्पन्न होता है।"[4]

वस्तुतः काव्य सौन्दर्य की उत्पत्ति कवि के उस हृदय से हुई है जो सामाजिक आन्दोलन से उत्थित भाववेग और कल्पना को धारण करने वाला है। महाकवि तुलसीदास के निम्नलिखित रूपक से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी-

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जौं बरसइ बर बारि विचारू। होंहि कवित मुकुतामनि चारू।।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरितबर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल डर, सोभाअति अनुराग।।[5]

तात्पर्य यह है कि कविता का रूप विन्यास आन्तरिक सौन्दर्यभावना का परिणाम होता है। आचार्य शुक्ल की सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यता भी ऐसी ही है-'**कई रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति ही सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक**

2 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश पृ0 977
3 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ0-977
4 साहित्यिक निबन्ध-सं0-डॉ0 त्रिभुवन सिंह पृ0-749
5 रामचरितमानस-1/10/4-5/11

होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी।"[6] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी समष्टि चित्त में अनुकुल भावान्दोलन पैदा करने वाले तत्त्व को सौन्दर्य की संज्ञा देते हैं।[7] महाकवि जयशंकर प्रसाद भी सौन्दर्य के साथ हृदय के योग को सामाजिक आदर्श के लिए आवश्यक बताते हैं। उनका विचार है-'**जो कुछ सुन्दर और कल्याणमय है, उसके साथ यदि हृदय की समीपता बढ़ाते रहें तो संसार सत्य और पवित्रता की ओर अग्रसर होगा ही।**"[8] उन्होंने चेतना के उज्ज्वल वरदान को ही सौन्दर्य माना है।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।[9]

सौन्दर्य को नव संस्कार एवं चुनौती के रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ0 रमनरतन भटनागर कहते हैं-'सौन्दर्य वह है जो हमें अभिभूत कर ले, जो हमें एकदम परास्त कर दुस्साहसी बना दे। परन्तु यह पराजय बुरी नहीं लगती क्योंकि वह हमारी आँखे खोल देती है और हमें नई दृष्टि देती है।"[10] सौन्दर्य की ऐसी अनाविल सृष्टि छायावादी काव्य में हुई है, इसीलिए डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ छायावाद को 'एस्थेटिक प्रयोगशाला' की संज्ञा देते हैं। डॉ0 नगेन्द्र का कहना है-'प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है, उसके पृथक्-पृथक् अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते-सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।"[11] उन्होंने छायावादी सौन्दर्य का आत्ममुग्ध समर्थन किया है-'जिस कविता ने नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत्समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, जिसने उसकी वस्तुमात्र को अपनाने वाली दृष्टि पर धार रख उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव-बीचियों को पकड़ सके, जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रुहास और नवीन विनम्र कटाक्ष प्रदान किए, जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया।"[12]

6 चिन्तामणि-भाग-1, पृ0-164-65
7 कालिास की लालित्य योजना, पृ0-98
8 तितली प10-256
9 कामायनी, पृ0
10 मिथक और स्वरूप, आमुख में
11 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ0 102
12 विचार और अनुभूति, पृ0 60

डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित ने पञ्च ज्ञानेन्द्रिय बाधा अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को छायावाद के सौन्दर्यशास्त्र के मुख्य सोपान बताये हैं।[13] पन्तजी का काव्य आद्यन्त सौन्दर्य-स्नात है, इसीलिए पन्तजी सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष के प्रति पर्युत्सुक हैं, जिसका एक आकलन प्रस्तुत है–

रूपविन्यास

रूप मुख्यतः चाक्षुष् है जो एक ऐन्द्रिय अनुभूति है। डॉ0 रामानन्द तिवारी ने उसे वस्तुओं में सन्निहित बताया है जिसका ग्रहण चक्षुओं के माध्यम से होता है।[14] सौन्दर्यशास्त्र में आंगिक रूप-सौन्दर्य को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। पन्तजी ने रूप को तो जीवन के सत्य रूप में ग्रहण किया है–

मुझे रूप ही भाता।
प्राण रूप ही मेरे डर में मधुर भाव भर जाता।
मुझे लुभाता रूप-रंग रेखा का यह संसार।
प्राण रूप का सत्य रूप के भीतर नहीं समाता।[१५]

पन्तजी सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं। उनका विचार है- कलाकार के पास हृदय का यौवन चाहिए जिसे धरती पर उडेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है।[16] तितली शीर्षक कविता में इसी धारणा को उन्होंने प्रकट किया है–

चित्रिणी! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य-सृजन?
वह स्वर्ग दिया उर के भीतर-
क्या कहती यही, सुमन चेतन?[१७]

पन्त जी के काव्य में आंगिक-सौन्दर्य नित-नूतन रुचि-बोध से संवलित रहा है। उसमें परम्पराबद्धता एवं गतानुगतिका नहीं है। उन्होंने रूप-विन्यास एवं अंगों के आकार-प्रकार पर विशेष ध्यान दिया है। मार्क्सवाद से प्रभावित हो जाने के कारण कवि की ग्राम्या का सौन्दर्य-चित्रण भिन्न है। उन्होंने सौकुमार्य की अपेक्षा परिपुष्ट अंगों का रूपांकन किया है। वह नैसर्गिक संस्कारों को चालित है तथा जीवन-रण में आने वाले संघर्षों से शिक्षित है–

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,

13 छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र, पृ0-66
14 विचार और अनुभूति, पृ0-60
15 युगवाणी, पृ0-82
16 गद्यपथ, पृ0 204
17 वही, पृ0-55

नित कर्मनिष्ठ, अंगों की हृदयपुष्ट सुन्दर,

श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,

वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर।[18]

पन्त जी ने नारी का सौन्दर्यांकन अति सहजरूप में किया है। इन्होंने अप्सरा के सौन्दर्य-चित्रण को तो प्रतिष्ठित किया ही है, साथ ही ग्राम की भोली-भाली कर्मठ स्त्री का सहज रूपांकन भी किया है। फलतः सूक्ष्मता एवं स्थूलता-दोनों ही उनके नारी-चित्रण में विद्यमान हैं। सौन्दर्य-गर्वित ग्राम-युवती अपने यौवन पर प्रफुल्लित ही नहीं है, अपितु इठला रही है। वह अपनी दृष्टि नमित कर उरोजों के युग-घट देख शरमाती है, आह्लादित होती है। मानव-शरीर के अन्यान्य अंगों में वक्ष और उरोज को पन्तजी ने तन्मयता के साथ रूपायित किया है। पन्तजी ने कंचुपट्ट में कसमसाते हुए स्तनों को आकार बद्ध कर रीतिकालीन कवियों को भी परास्त-सा कर दिया है-

खींचती उबहनी वह बरबस

चोली से उभर-उभर कसमस

खिंचते संग युग रस भरे कलश।[19]

स्तन-वर्णन की यह मांसलता निराला में भी विद्यमान है-

प्रिय कर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गई चोली।[2]

पन्त जी ने शरीर के विभिन्न अवयवों का रूपांकन करते हुए कुछ विशिष्ट सौन्दर्य-प्रतिमान स्थापित किए हैं। इन्होंने शरीर की वक्रता को रमणीय माना है।

प्रकृतिसौदर्य

क्रोचे ने प्रकृति-सौन्दर्य को सर्जना का मूल स्रोत बताया है।[20] छायावादियों में पन्त का काव्य मुख्यतः प्रकृति-सौन्दर्य का काव्य है। उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा ही प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। 'पर्यालोचनं' में वे लिखते हैं-**'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है मैं घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।'**[21] एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं-मेरा

18 पंत ग्रन्थावली, भाग-2 (ग्राम्या), पृ0-135

19 गीतिका, पृ0-41

20 सौन्दर्यशास्त्र के मूलतत्त्व, पृ0-99

21 पंत ग्रन्थावली, भाग-6, पृ0-263

भाव-प्रवण हृदय बचपन से ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है, वह सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक रहा हो या सामाजिक मानसिक हो या आध्यात्मिक।'[22]

पन्तजी का प्रकृति-दर्शन अनुभूति का विषय है। उनके काव्य में प्रकृति के अनेकानेक रूपों का चित्रण हुआ है, यथा-पार्वत्य प्रकृति चन्द्र-ज्योत्स्ना, उषा काल, सूर्योदय, नक्षत्र, सन्ध्याकाल, सूर्यास्त, नैश प्रकृति (निशीथ), ऋतु सौन्दर्य, वानस्पतिक सौन्दर्य, पशु-पक्षियों का सौन्दर्य आदि। कवि ने हिमालय का बहुविध रूपांकन किया है। 'उच्छवास' में कवि ने हिमालय की प्रकृति के पल-पल परिवर्तित स्वरूप का चित्रण किया है। पर्वत का गौरव-गान गाते निर्झर, तरुवर, भूधर आदि का ऐन्द्रिजालिक चित्रण पन्त के पार्वत्य प्रकृति की विशिष्टता है-

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।[२३]

कवि गुलाब को हृदय-सा बताता है तथा उसमें अपना भोला बचपन देखता है। काँटों में वास होने पर भी उसकी आँखों में हास विद्यमान रहता है। इस प्रकार वह सुन्दरता, सरलता एवं सजगता का सन्देश देता रहता है-

कँटीली जटिल डाल में वास,
अधर आँखों में हास,
झूलना झोंको के अनुकूल,
हृदय में दिव्य विकास,
सजग कवि से गुलाब के फूल,
तुम्हीं सा हो मेरा जीवन।[२४]

पन्तजी ऋतु-सौन्दर्य के प्रति भी बहुत सचेष्ट हैं। वे ऋतु को प्रकृति की भाव-भंगि बताते हैं।[25] कवि ने बासन्ती प्रकृति में कुसुमों के विकास का बड़ा ही मुग्धकारी चित्रण किया है। वसन्त की सुन्दरता को कवि ने **'वसुधा का यौवन भार'** एवं स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह कहा है। पावस, ग्रीष्म, शिशिर आदि ऋतुऐं भी कवि के काव्य में रमणीयता के साथ चित्रित हैं। छायावादी कविता में प्रायः प्रकृति पर नारी के रूप एवं क्रिया-व्यापारों का आरोप किया गया है। यही कारण है कि उनमें मानवीकरण के अवलम्ब से प्राकृतिक सौन्दर्य का ऐसा मूर्त

22 वही, पृ0-311
23 वही-भाग, पृ0-180
24 पन्तग्रन्थावली भाग-6, पृ0-277
25 किरणवीणा, पृ0-194

चित्रण मिलता है जिसके साथ सौन्दर्य में विस्मय एवं जिज्ञासा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। कहना न होगा, यह भाव सर्वाधिक पन्तजी में ही है–

कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप
सुनहला फैला केश-कलाप
मधुर मन्थर मृदु मौन।[२६]

कवि ने प्रकृति को वासक सज्जा नायिका की तरह सुसज्जित कर उपस्थित करने का प्रयास अधिक किया है। कहीं-कहीं प्रकृति-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त सभी उपमानों को नारी की कोमलता से सम्पृक्त कर दिया है। जिस प्रकार मुग्धा नायिका अपने अर्द्ध अवगुण्ठित मुख को दिखा अपने प्रिय को आकृष्ट करती है, वैसे ही कवि ने गंगा को चित्रित किया है–

लहरों के घूंघट से झुक-झुक दशमी का मुख शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता मुग्धा-सा रुक-रुक।[२७]

कवि पन्त ने नारी रूप को प्राकृतिक सौन्दर्य का मूल आधार स्वीकार किया है। **'भावी पत्नी के प्रति'**[5] मधुस्मिति[16] मधुवन' शीर्षक कविताओं में वे यही लिखते हैं कि नारी का रूप-लावण्य ही विच्छुरित होकर प्रकृति-सौन्दर्य के रूप में चारों ओर फैल गया है। इस नारी रूप एवं प्रकृति-सौन्दर्य के मिश्रण का एक कल्याणकारी पक्ष यह है कि इस सौन्दर्यांकन में रीतिकालीन मांसलता का सहज परिहार तो हो ही गया है, साथ ही उसकी अनुभवगम्य रसनीयता बढ़ गई है, क्योंकि नारी के रूप-व्यापारों के साथ मनुष्य का साहचर्य बहुत ही घना होता है।

रस सौन्दर्य

भारतीय काव्यशास्त्र में रस की परिकल्पना मूलतः सौन्दर्यपरक है। सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी रसानुभूति को स्वयं में सौन्दर्यमूलक सिद्ध किया है। डॉ0 सूर्य प्रसाद दीक्षित का मानना है-**'वस्तुतः छायावादी रस सौन्दर्य को अनुभूति, कल्पना, बिम्ब आदि के माध्यम से व्याख्यायित किया जा सकता है और उसे काव्यसौन्दर्य अथवा भावसौष्ठव के रूप में स्थापित किया जा सकता है।'**[28] इस मान्यता को दृष्टिपथ में रखकर यदि पन्त-काव्य का अध्ययन किया जाए तो वह बड़ा विलक्षण प्रतीत होता है। वे कोमलकान्त कल्पनाओं के कवि हैं। उनकी रसचेतना प्रायः नारीरूपा प्रकृति में अधिक केन्द्रित रही है। यही कारण है कि उन्होंने

26 युगान्त, पृ0-51
27 पन्तग्रन्थावली-भाग-1 (गुंजन), पृ0-275
28 छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र, पृ0-187

प्रकृति का मनाविकरण करते हुए सांगरूपकों की सृष्टि की है, उनकी कल्पना में अनुभूति का समावेश है, जिससे उसमें संवेदनशीलता है। इसीलिए पाठक को उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में असुविधा नहीं होती है। पन्तजी के काव्य में प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य कल्पना का पारस-स्पर्श पाकर परोक्ष सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

कहीं-कहीं कवि की कल्पनायें बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पडी हैं, क्योंकि वे बौद्धिकता प्रसूत ऊहात्मक कल्पनायें नहीं हैं। इसमें रागात्मकता विद्यमान है। 'सोनजुही' कविता में, कवि सोनजुही को देखकर अनेकानेक सौन्दर्यानुभूतियों से आप्लावित हो उठता है। वह कभी आँगन के बाड़े पर चढ़कर कुहनी टेक मुस्कराती है, तो कभी चौकड़ी भरती हुई हिरनी लगती है। कभी कृश पिण्डली पर धरे, कुहनों को मोड़े मुग्धा नायिका लगती है। कवि उसके फूलों के गुच्छों में गोल उभरे अंगों की कल्पना करता है, पल्लव-पुष्पों को झालदार गरारा कहता है। कुल मिलाकर सोनजुही का पर्यवेक्षण मन में सौन्दर्यानुभूति तथा रससिक्त करता है। पन्तजी के काव्य में ऐसी कल्पनायें अनेकानेक हैं।

गन्ध सौन्दर्य

गन्ध एक सूक्ष्म ऐन्द्रिय बोध है। पन्तजी के काव्य में यह गन्धजनित सौन्दर्य यथेष्ट परिणाम में उपलब्ध है। कवि के काव्य में अनंग गन्ध के माध्यम से ही अपना प्रभाव व्यक्त कर रहा है-

फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गन्ध मुग्ध हो अन्ध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार।[29]

कवि मधुप-कुमारि से कुसुम के चुने कटोरों द्वारा मधुपान कराने का आग्रह करता है।[30] कहीं अनिल समोद सौरभ का मृदु कच-जाल सूंघने का कार्य करता है-

खोल·सौरभ का मृदु कच जाल
सूंघता होगा अनिल समोद।[31]

तो कहीं नायिका की सारी सित छोर हृदय को गन्ध से विभोर कर रहा है-

उड़ता है जब प्राण।
तुम्हारी सारी का सित छोर,

29 पन्तग्रन्थावली भाग-भाग-(पल्लव), पृ0-192
30 वही (मधुकरी), पृ0-191
31 वही (गुंजन), पृ0-251

सौ बसन्त, सौ मलय

हृदय को करते गन्ध-विभोर।[32]

पन्तजी का काव्य वास्तव में सौन्दर्य-सौरभ स्नान है।

स्पर्श सौन्दर्य

कवि का ऐन्द्रिय-बोध अति सघन है। इन्होंने स्पर्श-बोध द्वारा सौन्दर्य-सुकुमारता को प्रश्रय दिया है। विना स्पर्श के तो शृंगार पूर्ण नहीं होता है और यह स्पर्श पन्तजी के काव्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। बसन्त वसुधा को स्पर्श से ही पुलकित करता है–

नव बसन्त के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार
सिहर उठी स्मित शस्यावलि में
विकसित चिर यौवन के भार।[33]

कवि स्पर्श-सुख के क्षणों को मधुर बताता है। वह सुख उसे आनन्दातिरेक के भाव से भर रहा है। वह कल्पना करता है–

सुमुखि, वह मधु क्षण। वह मधु बार।
धरोगी कर में कर सुकुमार।
निखिल जब नर-नारी संसार
मिलेगा नव सुख से नव बार,
अधर-उर-से उर-अधर समान
पुलक से पुलक प्राण से प्राण
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान।
प्रिये प्राणों की प्राण।[34]

पन्तजी यौवन की कविता करें और स्पर्श-चित्रण से पीछे हो जायें, ऐसा सम्भव नहीं है। कारण, स्पर्श की उद्दाम लालसा अनियन्त्रित हो उठती है–

न रोके रुकते चपल नयन,
मीन तिरते, उड़ते खंजन,
अधर से मिलते मधुर अधर

32 पल्लाविनी, पृ0 246
33 पन्तग्रन्थावली, भाग-पृ0-248
34 वही, पृ0-234

मुग्ध कलि अलि करते चुम्बन
बाँध यदि भरती आलिंगन
लताओं से लिपटे तरुगन।[35]

कविपन्त के स्पर्श-सौन्दर्य में सुकुमारता एवं माधुर्य है। यही कारण है कि उन्होंने सौकुमार सूचक अंगों एवं पदार्थों का ही वरण किया है। जहाँ निराला जी के स्पर्श-बोध में उत्साह, आलिंगन में कठोरता है, वहीं पन्तजी में सुकुमारता है। निस्सन्देह स्पर्श-सौन्दर्य की दृष्टि से पन्तजी का काव्य अपनी अलग पहचान रखता है।

ध्वनिसौन्दर्य

पन्तजी अपने काव्य में ध्वनिसौन्दर्य के प्रति सचेष्ट रहे हैं। पल्लव की भूमिका में वे लिखते हैं-'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर नं समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो।'[36]

पन्तजी के काव्य में कोमल एवं कठोर दोनों प्रकार की ध्वनियाँ अंकित हैं, परन्तु इनकी प्रकृति कोमल ध्वनियों के निरूपण की ही रही है। कवि स्वरों को पहचानने में अत्यन्त पटु हैं। पावस की रात्रि में निर्झर, बादल, बूँदे, दादुर, झींगुर तथा पपीहों की भिन्न-भिन्न स्वरों की अनुकृति प्रस्तुत है-

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भीनी झर-झर
झींगुरों की झीनी झनकार
बिन्दुओं की छनती छनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर
दादुरों के वे दुहरे स्वर।[37]

बादलों की जल-तरंग-ध्वनि को कवि ने अत्यन्त रमणीयता से प्रतिध्वनित किया है। इस प्रकार के चित्रण में अद्भुत संगीतात्मकता आ गई है। सावन की वर्षा का एक चित्र प्रस्तुत है-

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,

35 वही, पृ0-234
36 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-160
37 वही, पृ0-186

छम छम छम गिरती बूंदें तरुओं से छन के।
चम चम बिजली चमक रही रे उर में घन के,
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।[38]

कवि का रचना-संसार अनेक ध्वनियों से आपूर्ण है। खग-कूजन, भ्रमर-गुंजार, कोकिल की काकली, पत्तों का मर्मर, नूपुर-ध्वनि आदि अनेकानेक ध्वनियों के आयोजन से कवि ने काव्य को सौन्दर्य से पूर्ण किया है। ढोल एवं मंजीर की चित्ताकर्षक ध्वनियाँ इस प्रकार हैं–

बज रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ हुडुक घुटुकता ढिम ढिम ढिम,
मंजीर खनकते खिन खिन खिन
मद मस्त रजक, होली का दिन।[39]

निष्कर्षतः पन्त जी का ध्वनिसौन्दर्य विलक्षण है। इनके काव्य के लालित्य का आधार नाद-व्यञ्जना भी है।

भाषा-सौन्दर्य

पन्त ज़ी कविता के लिए चित्रभाषा की वकालत करते हैं। वे लिखते हैं-'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, इसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े। जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युतधारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।' कवि के उपर्युक्त विचार स्वतः ही कविता पर पूर्णतः फलीभूत होते हैं। भाषा की उक्त विशेषता पन्तजी द्वारा शब्द-चयन से आई है। शब्द और अर्थ में ऐक्य, चित्रोपमता, एवं व्यञ्जकता लाने के लिए कवि ने सर्वत्र ही सफल प्रयत्न किया है। इन्होंने शब्दों की सामग्री को नानारूपों में सजाकर कविता में रूप-सम्बन्धी भंगिमा लाई है। पन्तजी के काव्य में मार्मिक सौन्दर्य का आधार शब्दों के नवीन एवं उचित विन्यास में है। संस्कृत के गुंजायमान शब्दों का प्रयोग करने पर भी जो सौन्दर्य द्विवेदीयुगीन कवि नहीं उत्पन्न कर सके, वह मोहकता पन्त के काव्य में सहज रूप से आ गई है। उदाहरणार्थ–

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि, डोले मधुबाल
स्पन्दन, कम्पन औ नवजीवन

38 पन्तग्रन्थावली, भाग-2, पृ0-317
39 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-160

सीखा जग ने अपनाना।[40]

जो कवि शब्दों की भाव-व्यञ्जकता को जितना अधिक समझ पाता है, भाषा-सौन्दर्य उसकी कविता में उतना ही अधिक आकर्षक रूप में विद्यमान होता है।

पन्तजी की कविताओं में भर्ती के शब्द नहीं हैं। कम से कम शब्दों द्वारा अधिक से अधिक भावाभिव्यञ्जना उनकी विशेषता रही है। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने कहा भी है-'**खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (एक्सप्रेशन) शिथिल पड़ जाता है और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। 'है' को तो जहाँ तक हो सके, निकाल ही देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है।**'[41] नौकाविहार' कविता की प्रथम पंक्ति में कवि ने किसी क्रिया-पद का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी सनातन प्रिय आकाश द्वारा अपनी प्रेयसी धरा को एकटक अनवरत निहारने के व्यापार को अति कुशलता से प्रकट कर दिया है-

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल

अपलक अनन्त नीरव भूतल।[42]

बिम्बों एवं प्रतीकों के अवलम्ब से कवि ने भाषा को समृद्ध बना कर उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति को प्रौढ़ बनाया है। कवि की भाषा का प्रसंगगर्भत्व भी उसकी प्रौढता का परिचायक है। पाठकों को सहज ढंग से आकर्षित करने की सामर्थ्य उसकी भाषा में है-

पर्वत-से लघु धूलि, धूलि से

पर्वत-वन पल में, साकार-

काल चक्र-से-चढ़ते-गिरते

पल में जलधर फिर जलधार।[43]

पन्तजी की भाषा भावानुरूपिणी है। इस सम्बन्ध में डॉ0 नगेन्द्र का विचार उपयुक्त है-'हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसकी कलात्मक संकेत पर नाचती है। करुण, शृंगार में यदि उसका उन्मन गुंजन सुनाई पड़ता है, तो वीर और भयानक में वह अग्नि कण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है-हाँ, कभी कोई नहीं रहा।'[44]

40 पन्तग्रन्थावली, भाग-1 पृ0 175

41 वही, पृ0-274

42 पन्तग्रन्थावली, भाग-1, पृ0-215

43 वही

44 सुमित्रानन्दनपंत, पृ0-65

निष्कर्ष रूप में यहाँ कहा जा सकता है कि पन्तजी का काव्यसौन्दर्य की दृष्टि समृद्ध है। मानव एवं प्रकृति दोनों का सौन्दर्यांकन आकर्षक एवं आह्लादक है। भाव-मार्दवता, कोमल-कान्त-कल्पना, आदि से अन्त तक काव्योपम भाषा की संरचना एवं विषय-विविधता की दृष्टि से पन्तजी का काव्य निस्सन्देह अति श्रेष्ठ है।

गुरूकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0187-191)

मानसिक स्वास्थ्य का सुधार एवं उन्नति

डॉ0 विजयलक्ष्मी
प्रवक्ता संस्कृत-विभाग
सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर।

संसार में प्राणिमात्र की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि वह स्वस्थ रहे, सुखी रहे, सम्पन्न रहे, विश्व के समस्त ऐश्वर्य उसे प्राप्त हों। इन समस्त वैभवों की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है हमारा मन सुमन हो। आज विश्व में धन-धान्य सम्पादन संवर्धन की होड़ लगी है। इसकी प्राप्ति के लिए नाना उपाय ढूंढे जा रहे हैं। नित नई योजनाओं की सृष्टि हो रही है, लेकिन मानवों के विकृत मनों के शोध की कोई व्यवस्था हमारे पास नहीं है। यह तो निर्विवादित सत्य है कि सब बिगाड़ों का मूल भी मन है। तथा तमाम सुधारों का भी यही हेतु है, यही कारण है अखिल जगत् की सर्वविध उन्नतियों का। सिद्ध हुआ कि यह मन स्वस्थ होना चाहिए। मानसिक स्वास्थ्य ही शरीर स्वास्थ्य का आधार है, जहाँ अस्वस्थ शरीर व्यक्ति विशेष को प्रभावित करता है, वहीं अस्वस्थ या विकृत मन समाज के व्यापक वर्ग की विकृति का कारण है। वैदिक साधना का तो लक्ष्य ही मनुष्य को विविध तापों से छुडाना है।[1] **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** के अनुसार मनस्तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अत एव बारम्बार गायत्रीजप का विधान है, तत्पश्चात् सन्ध्या के मार्जन मन्त्रों में सर्वत्र सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है जैसे-**भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः, स्वः पुनातु कण्ठे** आदि-आदि। अर्थात् शिर नेत्र आदि में कोई वस्तु है जिसके पवित्र होने के लिए सप्तमी विभक्ति है, वह वस्तु मन ही है।[2] यही नहीं रात्रिकालीन मन्त्रों में **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** का प्रयोग छः बार हुआ है।[3] मनीषियों ने मनस्तत्त्व को आधार बनाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया है, इस सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्द जी विदेह लिखते हैं-मानव जीवन की तीन प्रमुख शाखाऐं हैं-**मस्तिष्क, हृदय और शरीर**। पाश्चात्त्यों ने मस्तिष्क और शरीर का भेद तो कुछ पा लिया है, लेकिन हृदय का कुछ नहीं। सुविधा यह है कि मस्तिष्क और शरीर की खोज कुछ सीमा तक प्रयोगशाला में की जा सकती है और कठिनाई यह है कि हृदय की खोज में प्रयोगशाला लेशमात्र भी सहायक नहीं हो सकती है, क्योंकि हृदय की खोज केवल हृदय में प्रविष्ट या प्रतिष्ठित होकर की जा सकती है। मन भी हृत्प्रतिष्ठित ही है।[4] इसीलिए हम कोई भी संकल्प करते समय हृदय पर हाथ रखकर

1 सांख्यदर्शन प्रथम अध्याय प्रथमपाद सूत्र। त्रिविधदुःखात्यन्तं निवृत्तिरत्यन्तपुरः।
2 सन्ध्यापद्धति मीमांसा पृ0 98। आचार्य विश्वश्रवा।
3 यजुर्वेद 34.1 से 34.6 तक।
4 शिवसंकल्प पृ0 1 से 2

संकल्प करते हैं। समस्त वैदिक वाङ्मय में मनस्तत्त्व की मान्यता अनेकरूपों में है, ऋग्वेद में विविध विभक्तियों द्वारा मनस् शब्द का प्रयोग 238 बार, यजुर्वेद में 82, सामवेद में 21 तथा अथर्ववेद में 164 बार हुआ है।[5] यही स्वस्थ मन असाध्य को भी साधने की शक्ति रखता है तथा वही अस्वस्थ हो जाने पर कृतप्रयास को भस्मसात् कर डालता है। मन जितना शुद्ध होगा, संकल्प भी इतने ही परिष्कृत होंगे, अगर मन मलिन हुआ तो कार्य भी कल्याणकर न होंगे। वास्तविकता यही है कि हमारे जीवन की प्रत्येक गति और चेष्टा मन के द्वारा ही होती है **'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** मन के निर्देश के विना न कोई कार्य किया जाता है, न किया जा सकता है, आत्मा के जीवन व्यापार का कर्ता धर्ता यह मन ही है। अथर्ववेद में कहा गया है-पापी मन होने से सब प्रकार के शारीरिक, इन्द्रिय सम्बन्धी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं, इसलिए मन से पापी संकल्प सर्वप्रथम दूर करने चाहिए, मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर होते हैं। पापी विचार मन में उत्पन्न होते हैं, मनुष्य के मन को वश में करते हैं, सुख देने के लोभ में फंसाते हैं, अतः इनसे बचना चाहिए ऐसा करने से ही प्रगति मार्ग की अनुकूलता हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मन को स्वस्थ करके ही उन्नति का सच्चा मार्ग खुल सकता है।[6] सुखी रहने के उपाय बताते हुए कहा गया है-'मनुष्य का मन शुद्ध हो और शुद्धता से अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखों को दूर करे। मानव की उन्नति उसमें स्वस्थ मन की वृद्धि होने से ही हो सकती है। बस आवश्यकता है शुभ संकल्पों की। अशुभ संकल्प तो राक्षस बनकर मनुष्य के पीछे पड़ जाते हैं और उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।'[7]

जिस प्रकार धूमरहित, शुष्क, स्वच्छ, स्वस्थ और सुगन्धित लकडियाँ ही अग्निहोत्र की समिधाऐं होती हैं, वैसे ही निर्विकार, निर्दोष, शुद्ध और प्रशस्त मन ही मानसिक स्वास्थ्य की समिधा है, मलिन, सदोष, अपावन, अप्रशस्त मन उन्नति का हेतु नहीं है। इसीलिए यजुर्वेद का वह विचार यहाँ प्रासंगिक है, जिसमें कहा गया है कि जब मैं अपनी मनःशक्ति को समृद्ध कर लूँगा तभी मेरा जीवन जीवन बनेगा, तभी मैं पूर्ण पुरुष कहलाऊँगा[8]। आज के इस तथाकथित प्रगतिशील युग में मन की स्वस्थता अस्वस्थता का विशेष महत्त्व है। क्योंकि यहाँ है ही साम्राज्य बुद्धि का, बुद्धि तभी शुद्ध होगी जब मन शुद्ध होगा। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं-काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं।[9] मन को चन्द्रमा माना गया है।[10] शान्त, सुन्दर, आह्लादक । यही रूप है स्वस्थ मन का ऐसा मन निश्चय ही उन्नत होगा। यह 'मन' शब्द जितना छोटा है उससे कई गुना व्यापक और शक्तिशाली है। जब

5 वेदों में योग विद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती पृ0 121॥

6 अथर्ववेद सूक्त 26, काण्ड 6, मन्त्र 1,2,3। सातवलेकर भाष्य।

7 अथर्ववेद सूक्त 25, काण्ड 6, मन्त्र 1,2,3। सातवलेकर भाष्य।

8 यजुर्वेद 36/1, वैदिक पृ0 पृ0 31, आहार-विहार॥

9 वेदों में योगविद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती पृ0 125।

10 ऋग्वेद 10/90/131

यह अशुद्ध होता है तब दृष्टि, श्रुति, घ्राण, रसना तथा स्पर्श रूपी पञ्चहवियाँ भी अपावन और अशुद्ध रहती हैं। इनकी अपवित्रता से बुद्धि और चित्तवृत्तियाँ भी मलिन और अस्वस्थ हो जाती हैं। इस प्रकार विश्व में दुःख और अवनति की अभिवृद्धि होती है। यदि हमारी वृत्तियाँ सकारात्मक सोच की धनी हों, कलुषित न हों, इनका चिन्तन विशाल हो तो उन्नति के सारे मार्ग स्वतः ही अनावृत हो जाएंगे, लेकिन हम इतनी सीधी सरल बात को नहीं अपना रहे हैं अतः अस्वस्थ हैं। पाश्चात्य विद्वान् कार्टर लिखते हैं-अगर माता पिता आदेश देने की बजाय बच्चों को उनके विचारों और मन को नियन्त्रण करने का तरीका सिखा सकें तो वे अपने बच्चों को सन्मार्ग पर चलाने, उन्हें सफल और आदर्श मानव बनाने में बड़ी आसानी से सफल हो सकते हैं, अगर उन्हें यह सिखा दिया जाए कि किस तरह अपने में श्रेष्ठ विचारों को स्थान दें और बुरे विचारों का परित्याग करें तो उन्हें आदेश देने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।[11]

विचारकों का मानना है कि मानव मन के विकास की कोई सीमा नहीं है। प्रोफेसर जेम्स विलियम्स के अनुसार-प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ऐसी शक्तियाँ छिपी रहती हैं जिन्हें न तो कोई देख सकता है और न उसकी कल्पना कर सकता है। अगर कोई ऐसे साधन का आविष्कार हो जाए, जिसके माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों का फोटो खींचा जा सके तो मनुष्य अपनी ही शक्तियों को देखकर आश्चर्यचकित रह जाएगा।[12] विदेह जी भी कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकाशलोकों का प्रकाश एक सेकिण्ड में एक लाख छायासी हजार मील की गति से निरन्तर गति करता है, उसी प्रकार मानव के मनोलोक के संकल्प की रश्मियाँ एक सैकिण्ड में इक्यासी लाख मील रफ्तार से जागृति तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में निरन्तर भावतरंगों के रूप में की गति करती हैं।[13] यह विशाल वेगवान् मन शुद्ध और स्वस्थ रहे कैसे? जब अर्जुन जैसा महारथी कह रहा है कि भगवन् यह तो वायु के सामन प्रबल है, आप कहते हैं कि इसे वश में करो, क्या करूँ उपाय बताइए।[14] **'यत्रापायस्तत्रोपायोऽपि सम्भवति**, श्रीकृष्ण ने कहा-सच है कि यह बहुत वेगवान् है, लेकिन कौन्तेय अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे साधा जा सकता है।[15] योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि अभ्यास और वौराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध सम्भव है।[16] अभ्यास का अभिप्राय यहाँ योगाभ्यास से है। यह योग जब से 'योगा' हुआ है, तबसे इसका महत्त्व पर्याप्त बढ़ा है, चाहे एक्टर हो या क्रिकेटर, उद्योगी हो या सामान्यजन कोई इससे अपरिचित नहीं है, लेकिन यह 'योगा' पातञ्जल योग की प्रथम सीढ़ी का भी स्पर्श नहीं कर पाया है, आवश्यकता इसके सही प्रस्तुतिकरण की। जिस प्रकार पक्षी

11 स्वेट मार्डन-आगे बढ़ो पृ0 127।
12 स्वेट मार्डन-आगे बढ़ो पृ0 47।
13 शिवसंकल्प पृ0 6।
14 गीता 6/34।
15 गीता 6/35।
16 योगदर्शन 11/12।

पंखों के सहारे आकाश में उन्नत होता जाता है तथैव अभ्यास और वैराग्य रूपी पंखों से मानव भी मनोविकारों को दूर कर उन्नति को प्राप्त करता है। मन के स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक तत्त्व आहारशुद्धि भी है। क्योंकि **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।**[17] भोजन ही हमारे मन और बुद्धि का निर्माण करता है। राम-भरत के पावन भातृप्रेम की जगह औरंगजेबी कृति का बढ़ना अनुचित आहार का फल है। भोजन मनुष्य में बल-वीर्य की शुद्धि के लिए है, लेकिन वही हमारे नाश का कारण बन रहा है, डॉक्टरों की भारी भीड़ में भी वही ढाक के तीन पात वाली कहावत चरितार्थ है, वह इसलिए कि हम साधन और साध्य की पवित्रता की बात विस्मृत कर बैठे। भीष्म पितामह का कथन हम सबके लिए प्रेरणास्रोत होना चाहिए। शरशैय्या पर पड़े हुए वे कहते हैं-आज मैं धर्मोपदेश कर सकता हूँ, क्योंकि दुर्योधन के अशुद्ध अन्न से निर्मित रक्त कण अर्जुन के तीरों से अब निःशेष हो चुके हैं। धार्मिक मर्यादाएँ हों या दैनिक जीवन, मन के स्वास्थ्य की चर्चा हो शारीरिक स्वास्थ्य की सर्वत्र उचित आहार का परामर्श है। उचित आहार की चर्चा तो सब करते हैं, लेकिन उसके उपार्जन में भी शुचिता का ध्यान रखा जाए, इस तथ्य से सभी अपरिचित नजर आते हैं, दोनों की शुद्धि ही आहारशुद्धि की श्रेणी में आएगी। भगवान् कृष्ण गीता में इस ओर भी संकेत करते हैं।[18] आज का युग प्रगतिशील विकासशील और वैज्ञानिक उन्नतिं से ओत-प्रोत है, प्रत्येक देश, प्रत्येक व्यक्ति विकास की इस दौड़ में निरन्तर दौड़ रहा है, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखना अतीव दुष्कर प्रतीत हो रहा है, मनोवैज्ञानिकों व सलाहकारों की पूरी फौज खड़ी हुई है, लेकिन हमारी अवस्था **'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'** वाली हो रही है। प्रयास प्रसन्नता का है, मिल रहा है अवसाद, घोषणा विश्वशान्ति की, दिखाई दे रही है अशान्ति। स्वेट मार्डन का विचार है-**'लगातार इस तरह के (अवसाद, चिन्ता के) वातावरण में जीवन गुजारने से अधिक हानिकर अन्य कोई बात नहीं, जो विकास को अवरुद्ध कर सके और शक्ति का शोषण कर सके। मानसिक रसायन द्वारा ही इसकी जाड़ काटी जा सकती है, यह मानसिक रसायन एक धार्मिक प्रक्रिया है जो उसी प्रकार वैज्ञानिक है जैसे गणित के सिद्धान्त।**[19]

मानसिक स्वास्थ्य एवं उन्नति के लिए आवश्यक है कि हम अपने मन में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि कुत्सित भावों को जड़ें न जमाने दें, क्योंकि हमारे मानसिक विचारों का प्रभाव भी प्रतिपक्षी पर पड़ता है, व्यक्ति का मन जिस रंग में रंगा होता है मनुष्य के अन्दर में वैसा ही प्रकाश बाहर प्रतिक्षिप्त होता है, वह समस्त संसार को उसी रूप में देखता है। एक अंग्रेजी विचारक का कथन है-Every bit of hatred that goes of the heart of man, comes back to him in full force and nothing can stop it and every impulse of life comes back to him."[20] इसीलिए वेद भगवान् हमें

17 छान्दोग्य उपनिषद 7/26/2।

18 गीता। युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

19 आगे बढ़ो-विचारों की भटकन।

20 श्रुति सौरभ-पं0 शिवकुमार शास्त्री पृ0 171

मधुरता का उपदेश देते हैं-वाणी से मैं मीठा बोलूँ। यही नहीं समस्त सृष्टि में माधुर्य है, अतः हम भी परस्पर मधुरता का व्यवहार करें।[21] मधुरता के साथ यदि आत्मनिरीक्षण और ईश्वरोपासना को भी संयुक्त कर लिया जाए तो उन्नति का मार्ग सुमार्ग बन सकता है। आत्मनिरीक्षण वह साधन है, जो हृदय को शुद्ध और स्वच्छ करता है, यही वह यन्त्र है जिसके द्वारा पञ्चहवियाँ परिमार्जित होंगी। व्यस्त दिनचर्या में यदि कोई त्रुटि रह गई है तो आत्मनिरीक्षण उसे संशोधित करेगा। विकास का नवपथ सुझाएगा, उन्नति का पथ उन्नत करेगा। ईशोपासना के अनेक उद्देश्य में मन की शुद्धि भी एक प्रमुख उद्देश्य है। विचार कीजिए यदि प्रतिदिन के अशुद्ध पात्रों में ही कोई व्यक्ति भोजन करेगा तो रोगी हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार नित्य अनेक योजनाएँ बनाने, विचार करने और कर्म के फलस्वरूप मानव के मनरूपी पात्र में अनेक दुर्गुणों की अशुद्धि जम जाती है, इसे दूर करना अनिवार्य है, अन्यथा इससे मन बुद्धि दोनों अस्वस्थ हो जाएँगे, मनरूपी पात्र की अशुद्धि को दूर करने का एकमात्र उपाय ईश्वरोपासना है। जब हमारा मन शुद्ध हो जाता है, हमारी बुद्धि पवित्र और स्थिर हो जाती है तब हम अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।[22] ईश्वरोपासना का फल महर्षि दयानन्द के शब्दों में-**'जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं, इसका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा, क्या यह छोटी बात है।**[23] ईशोपासना से मन और बुद्धि निर्मल होंगे, बुद्धि निर्मल होने पर हम अनीप्सित कार्यों से बच सकेंगे। मन मानव शरीर का प्रधान अंग है मन के आदेश व इच्छाओं का पालन सारी इन्द्रियाँ करती हैं, इसीलिए आवश्यक है कि इसमें आत्मविश्वास भरा जाए, आत्मविश्वास ही कर्ता और कर्म को जोड़कर सेतु का काम करता है, उन्नति रूपी कर्म को करते समय आत्मविश्वास मनस्तत्त्व को उत्कृष्टता से प्रेरित करता है। अनावश्यक विचारों से अपने को बचाते हुए उत्साह, उल्लास, दृढ़ता व प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्य कर्म को करें, शेष ईश्वर पर छोड़ दें तो देखिए हमें कितनी मानसिक सन्तुष्टि मिलती है, मस्तिष्क का कितना बोझ उतर जाता है, अगर विश्वास न हो तो सोचिए मेरी इस मगजपच्ची से फल भी प्राप्ति में कोई न्यूनता अधिकता आई क्या? यदि नहीं तो इस कोयले की दलाली में हाथ काले करने से क्या लाभ? यह तो मूर्खता है।[24] यह अभ्यास हमें मानसिक स्वस्थता प्रदान करेगा तथा हमारी उन्नति का संवाहक बनेगा, क्योंकि **'असिद्धार्था निवर्तन्ते न हि धीराः कृतोद्यमाः'**। उपनिषद् भी कह रही है-**यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः**।

21 ऋग्वेद 1/90/6। ऋ0 1/90/7-8।।

22 ईश्वरोपासना-क्यों ओर कैसे। डॉ0 वेदप्रकाश। ईश्वरोपासना क्यों-प्रकरण।

23 सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास।

24 विस्तार के लिए देखिए-श्रुतिसौरभ-पृ0 120।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0192-195)

नारी-मानव-निर्माण

डॉ. मृदुल जोशी
प्रवक्ता हिन्दी-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही जगत् का निर्माण हुआ है। प्रकृति शक्ति है और पुरुष शक्तिमान्। **शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्यां विवर्जितः** के अनुसार शक्ति के विना शक्तिमान् का अस्तित्व नहीं है और शक्तिमान् के विना शक्ति के लिए स्थान नहीं है। इसलिये संसार के लिए दोनों की समान उपादेयता है, लेकिन सृजन की शक्ति तो ईश्वर ने प्रकृति स्वरूपा नारी को ही दी है। विश्व की उत्पादिका और पोषिका नारी शक्ति को प्राचीन भारतीय संस्कृति समुचित आदर देती रही है। **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः'** का उद्घोष इस बात का प्रमाण है। सृष्टि प्रपञ्च की मूल-स्रोतस्विनी के रूप को ही सम्मान देने के लिए ही तो दुर्गा सप्तशती में कह दिया गया है--

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः।
विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु।
त्वैयेकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

इस सृष्टि का अर्द्धांश नारी है। नारी माता के रूप में सन्तान उत्पन्न करती है, उसका पालन पोषण करती है तथा उसके प्रति जीवन भर अपार एवं निःस्वार्थ प्रेम धारण करती है। गृहिणी के रूप में नारी सखा है, मन्त्रणी है, घर की व्यवस्थापिका है तथा धर्म की साधिका है। वह पितृकुल और पतिकुल दोनों को आनन्द देने वाली है। वह प्रेम दया धैर्य, परिश्रम एवं स्वार्थ त्याग की प्रतिमा है तथा समस्त पुरुष वर्ग उससे शक्ति, उत्साह एवं प्रत्येक कार्य में सहायता प्राप्त करता है। इसलिए नारी चाहे पत्नी रूप में हो या माता के रूप में वह समाज के समूचे घटक मानव के निर्माण की मूल धुरी है, उसका महत्त्व अनिर्वचनीय है। इसलिये अथर्ववेद में कहा गया है-**मात्रा भवतु संमनाः**।[1] माता की महिमा के विषय में श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं नीति ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा गया है। भगवती श्रुति उपदेश देती है-**मातृदेवो भव**[2] अर्थात् इष्टदेव समझकर माता की सेवा करनी चाहिए। स्मृति का वचन है-**उपाध्यायान्दशाचार्य**

1 अथर्ववेद 3/30/2
2 तैत्ति0 1/11

आचार्याणां शतं पिता, सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।"[3] अभिप्राय है एक आचार्य गौरव में दस उपाध्यायों से बढ़कर है। एक पिता सौ आचार्यों से श्रेष्ठ है एवं एक माता एक सहस्र पिताओं से श्रेष्ठ है। माता के प्रति श्रद्धाप्रपूरित ये उद्गार क्यों? उत्तर- सरल-सीधा सा गर्भधारण। **'पोषाद्धि तत्तो माता गरीयसी'** और **'मात्रा समं नास्ति शरीर पोषणम्'** इसका कारण यही है कि अहैतुक स्नेह करने वाली माता ही एक ऐसी है जिसका प्रेम सन्तान पर जन्म से लेकर शैशव, बाल्य, यौवन एवं प्रौढ़ावस्था तक एकसा बना रहता है। यह तो है बालक के शरीर-रक्षण व पोषण का विषय। एक माँ अपने संस्कार बालक को देकर अपनी समूची विद्या, समस्त गुण, सम्पूर्ण कार्य कौशल बालक के जीवननिर्माण हेतु समर्पित करती है। उसे साधारण मनुष्य से महामानव बनने की विकसनशील प्रक्रिया में माँ का योगदान रहता है। उसका प्रतिपल, प्रतिक्षण मानव के गढ़न में साधनारत रहता है। सृष्टि के प्रारंभ से आज तक मातृमण्डल की महत्ता लोक और वेद में प्रत्यक्ष है। स्नेहमयी माता की सबसे बड़ी अभिलाषा यही रहती है कि मेरी सन्तति चिरायु, नीरोगी, बलवान्, बुद्धिमान्, धनी, धार्मिक और सर्वगुण सम्पन्न बने। भारतीय संस्कृति सदा से ही भौतिक समृद्धि के अतिरिक्त आध्यात्मिक-अनुसन्धान की वृत्ति की पोषिका रही है। अतीत में अनेक ऐसी जननियाँ हुई है, जिन्होंने अपनी सन्तानों को महामानव बनाया है। महारानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को ज्ञान और सदाचार की ऐसी शिक्षा दी थी कि उसके प्रभाव से वे अपने जीवन में सदा यशस्वी और परोपकारी बनकर मोक्ष के अधिकारी हुए। माता देवहूति ने विद्वान् कपिल को जन्म दिया, जिन्होंने सांख्यदर्शन का प्रणयन कर संसार को कैवल्य का मार्ग सुझाया। माता अरुन्धती जगत् की ललनाओं को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देकर अमर हो गयीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के उन्तालीस और चालीस संख्या वाले सूक्तों की द्रष्टी साध्वी घोषा ने स्त्री जगत् के निमित्त अश्वनी कुमारों से दया, दाक्षिण्य, धन-धान्य, विद्या, बुद्धि, आरोग्य आदि गुणों से युक्त पति को प्रदान करने की प्रार्थना की है। उसी मण्डल के पिचासी संख्या वाले सूक्त की ऋषिका सूर्या ने स्त्रियों के सौभाग्यकामना की अभ्यर्थना श्री भगवान् से की है।

तेजस्विनी विदुला ने तेजोहीन और भीरु संजय नामक अपने पुत्र को ओजस्वी भाषण द्वारा उत्साहपूर्ण उपदेश देकर उसके कातर हृदय में साहस कर संचार किया था। इसी के परिणाम स्वरूप वह सिन्धुराज को पराजित कर विजयी बन प्रत्यावर्तित हुआ। माता कुन्ती ने पाण्डवों को धर्म में दृढ़ रहने और क्षात्र-धर्म और प्रजापालन करने का उपदेश और आशीर्वाद प्रदान किया था। माता कौशल्या, जो कि मर्यादा पुरुष राम की जननी थीं, राम को सदैव धर्माचरण की शिक्षा देती दिखायी देती हैं। राम के वनगमन के समय भावी वियोग जनित दुःख से व्याकुल होते हुए भी धर्म का विचार करते हुए वन जाने की आज्ञा और आशीर्वाद दिया।

न शक्यते वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम,

3 मनुस्मृति।

शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च,

स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।[4]

वे तो मात्र यह कह सकीं प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म के पालन में प्रवृत्त हुआ है, वही धर्म तेरी रक्षा करेगा। जहाँ माताएँ इतनी निःस्पृहा, धैर्यधारिणी और युक्तायुक्त की विवेचिकाएँ होंगी, वहीं सच्चे अर्थों में मानव का निर्माण हो पायेगा।

मरीचि, अत्रि अँगिरा, व्यास, वसिष्ठ, भारद्वाज, नारद, पराशर, भीष्म, शंकराचार्य, ध्रुव, प्रह्लाद आदि मानवों को गढ़ने में इनकी माताओं का ही शत प्रतिशत योगदान रहा है। क्या रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महामना मदनमोहन मालवीय, महात्मा गान्धी, सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णनन्, राजेन्द्र प्रसाद, लालबहादुर शास्त्री जी सदृश अनेकानेक महान् हस्तियाँ उस शिखर पर आरूढ़ हो पातीं, यदि उनकी माताओं ने उनेक जीवन में सुसंस्कारों की सुदृढ़ नींव नहीं डाली होती, क्योंकि माँ अपने संरक्षण, अपने सान्निध्य में बच्चे को जिस रूप में चाहे वैसा बना सकने की अद्भुत क्षमता रखती है। माता की स्नेहमयी क्रोड, उसका शासन ही प्रत्येक बच्चे का प्रथम विद्यालय है और इसी विद्यालय में पड़ी आस्था की नींव सबसे गहरी होती है। यहाँ से निकला मनुष्य एक आदर्श समाज का निर्माण करता है। हमारे पुराणों में माता मदालसा का उल्लेख मिलता है। जो इतनी आत्मोन्नत थीं कि उन्होंने अपने समान तीन पुत्रों को मुक्तिमार्ग की दीक्षा दी। ये तीनों सन्तान विरक्त होकर वन चली गयीं, अन्ततः पति की याचना करने पर कि मेरा उत्तराधिकारी कौन बनेगा, उन्होंने चौथे पुत्र को जन्म दिया, उसे लौकिक व पारलौकिक दोनों धर्मों की शिक्षा-दीक्षा दी, जिसके परिणामस्वरूप एक न्यायप्रिय, कर्मठ, निष्ठावान् उत्तराधिकारी का निर्माण हुआ। नारी का महत्त्व असिन्दग्ध है, नारीसृजन और उसका महत्त्व असंदिग्ध है। नारी सृजन और निर्माण दोनों में सहायिका है। एक विचारणीय तथ्य यह है कि जब उसका दायित्व इतना महत्त्वपूर्ण है तो नारी को स्वनिर्माण हेतु भी जागरूक होना होगा। उसे स्वयं शिक्षिका, स्वयं सिद्धा बनना होगा। उसके आन्तरिक भौतिक गुणों का आधान, आत्मनिरीक्षण और संयमन के कठिन परीक्षण से गुजरना होगा। आज नारी की भौतिक उपलब्धि तो असीमित है। वह वैदिक-पौराणिक युग के ही समान समाज के कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही है। वह कुशल वक्ता तार्किक बुद्धिजीवी, शिक्षिका, शासिका, निर्मात्री, विधिविज्ञा, विदुषी तो है ही, साथ ही उन्नत भौतिकी, तकनीकी, यांत्रिकी उपलब्धियों का भी उसे पूर्ण श्रेय जाता है, लेकिन अपने अतीत के समान अन्तः की यात्रा का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। धैर्य, क्षमा, दया, करुणा, भावकुता तो स्त्री के प्रकृतिजन्य गुण हैं ही, ये आज भी विद्यमान हैं, लेकिन सत्य, ईमानदारी, निष्ठा, तपश्चर्या, दृढ़ता सदृश आन्तरिक गुणों का ही यदि उसमें से लोप हो जाए तो समाज की परीणति भी ह्रासोन्मुख ही होगी। यहाँ एक आख्यान देना चाहूँगी।

4 वाल्मीकि रामायण।

बृहदारण्यक की एक आख्यायिका अवधान योग्य है। संन्यास लेने के इच्छुक याज्ञवल्क्य अपनी भौतिक सम्पति का बँटवारा दोनों पत्नियों के मध्य कर देना चाहते थे, लेकिन मैत्रेयी वास्तविक सम्पति की अधिकारिणी बनना चाहती हैं और वह यह आमन्त्रण ठुकरा देती है।

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि॥

यह है एक विदुषी की विरक्ति एवं जिज्ञासा का जीता-जागता उदाहरण। यही जिज्ञासु प्रवृत्ति उसे आत्मस्वरूप के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। यहाँ नारी का ब्रह्मविद् स्वरूप भी दृष्टिगत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही जनक की भरी सभा में गार्गी-याज्ञवल्क्य, संवाद दृष्टिगत होता है। और उसमें ब्रह्मविद् गार्गी याज्ञवल्क्य की परीक्षक बनी है और उससे अनेक प्रश्न करती है। उनके उत्तर से सन्तुष्ट हो उन्हें ब्रह्मवेत्ता स्वीकारती है। यहाँ गार्गी ने अपने को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाया है कि वह सत्य की परीक्षक बन सके। स्त्री यदि वास्तविक सत्य की इन ऊँचाइयों तक पहुँच जाए या इस लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टारत हो तो संसार का कोई भी प्रलोभन उसे सत्य, न्याय, धर्म, निष्ठा के मार्ग से विरत नहीं कर सकता। कोई भी आकर्षण उसे लुभा नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह सदा न्यायप्रिय और कर्तव्यनिष्ठ बनी रहेगी और अपनी सम्पति को भी नैतिक मूल्यों का दृढ़ाधार प्रदान करेगी। परिणामस्वरूप सदाचारी, निष्ठावान् मनुष्यों का सृजन होगा और सत्यनिष्ठ समाज का निर्माण।

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0196-203)

प्राचीन भारत में सती-प्रथा

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आजकल भारत में सती होना अपराध है, किन्तु प्राचीन तथा मध्यकालीन समाज में यह एक धार्मिक कार्य माना जाता था। लेकिन विधवाओं का अपने मृतपति के साथ जीवित जल जाना केवल भारत में ही प्रचलित नहीं था, अपितु विश्व के अनेक प्राचीन देशों में भी इस प्रथा का प्रचलन था। तीसरी सहस्राब्दी ई0पू0 में यूरेशिया में स्त्रियों को पुरुषों के साथ गाड़ने के पुरातात्त्विक साक्ष्य मिले हैं।[1] हेरोडोटस के अनुसार पांचवी शताब्दी ई0पू0 में मध्य एशिया के अन्तर्गत सिथियनों में विधवाओं को जलाने की प्रथा का प्रचलन था।[2] इसी प्रकार मिस्र के समाज में मातृक आधिकारिक परम्पराओं के बावजूद राजाओं के साथ उनकी पत्नियों, दास-दासियों एवं सुख-सुविधा की अन्य वस्तुओं को दफना दिया जाता था ताकि परलोक में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े।[3] इसके अतिरिक्त यह प्रथा प्राचीन यूनान, रोम तथा स्लाव आदि देशों में भी प्रचलित थी,[4] किन्तु वहाँ इसका प्रचलन बहुधा राजघरानों एवं भद्र लोगों तक ही सीमित था।

सती का शाब्दिक अर्थ है 'अमर' या 'सत्य' पर दृढ़ रहने वाली स्त्री। इस प्रकार यह शब्द पति-पत्नी के बीच अटूट एवं अविच्छेद सम्बन्ध को व्यक्त करता है। लेकिन प्राचीन भारतीय साहित्य में इसके लिए 'सहमरण' (साथ मरना), 'सहगमन' (साथ जाना), 'अन्वारोहण' (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना) तथा 'अनुमरण' (यदि पति विदेश में मरा हो तो मृत्यु का समाचार सुनकर उसके पीछे मरना) आदि शब्द मिलते हैं। इन शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि मरने तक पति-पत्नी के सम्बन्ध अविच्छिन्न बने रहते थे और उसके बाद परलोक और जन्म-जन्मान्तर में भी अटूट बने रहे थे। इस प्रकार यह प्रथा मृत पति के प्रति उसकी विधवा स्त्री के अनुपम त्याग और बलिदान को व्यक्त करती है।

1. आर0एस0 शर्मा, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, पृ0 88,
2. एस0सी0 सरकार, सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 82,
3. आर0एस0 शर्मा, पूर्वोक्त, पृ0 88,
4. श्चैडर, प्रिहिस्टारिक एण्टीक्वीटिज ऑफ दि आर्यन पीपल, पृ0 391, वेस्टमार्क, आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ मॉरल आइडियाज, पृ0 472-76,

प्राचीन भारत में सती-प्रथा

भारत में इस प्रथा का प्रारम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में मतभेद है। वैदिक काल में इस प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद[5] के एक अंश के आधार पर वैदिक काल में सती-प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है।[6] जिसके अनुसार विधवा स्त्री अपने मृतपति के शव के साथ कुछ क्षणों के लिए लेटती है। तत्पश्चात् उसे सम्बोधित करते हुए कहा जाता है कि हे नारी! उठो और पुनः जीव लोक में पुनः लौट जाओ। तुम एक मृतपुरुष के साथ लेटी हो। पाणिग्रहण करने वाले पुरुष के साथ तुमने अपना पत्नीत्व सम्यक् रूप से व्यतीत किया है। इसी प्रकार का एक मन्त्र अथर्ववेद में भी मिलता है,[7] जहाँ विधवा स्त्री का अपने पति के शव के साथ चिता पर आरोहण करने का उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् उससे चिता पर से उतर जाने को कहा जाता है और उसके सुखी जीवन के लिए प्रार्थना की जाती है। परन्तु अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये दोनों ही अंश वैदिक काल में सतीप्रथा के नहीं, अपितु सुदूर अतीत में प्रचलित सतीप्रथा के दृष्टान्त मात्र हैं, जब विधवा अपने पति के साथ जला दी जाती थी। लेकिन वेदों के रचनाकाल तक यह प्रथा प्रतीकात्मक क्रियामात्र रह गयी थी। ब्राह्मणसाहित्य में भी सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में विधवा स्त्री का अपने पति के हाथों से धनुष आदि उसकी प्रिय वस्तुओं को लेकर गृह-प्रत्यागमन तथा उसके आगामी जीवन में सुख-समृद्धि की कामना का उल्लेख मिलता है।[8] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्री के सती हो जाने की अपेक्षा उससे पुनर्विवाह या नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती थी या फिर वैधव्य जीवन व्यतीत करने की।

सम्पूर्ण सूत्रसाहित्य में जहाँ मनुष्य की सभी सामाजिक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है वहाँ सती-प्रथा का संकेत मात्र भी नहीं मिलता। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृतपति का शिष्य या उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था।[9] भारद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के समय से ही नियमित तौर पर गृह्याग्नि प्रज्ज्वलित रखनी चाहिए और पति के मृत्यु के बाद भी पत्नी को उस पवित्राग्नि को प्रज्ज्वलित रखना चाहिए।[10] एकमात्र विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र से इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, जहाँ कहा गया है कि **'अपने पति की मृत्यु पर विधवा या तो ब्रह्मचर्य का**

---

5. ऋग्वेद, 10/18/7-8, इमा नारीरविधवाः सपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।। उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।।
6. मैकडॉनल, वैदिक माइथौलॉजी, पृ0 165,
7. अथर्ववेद, 18/3/1 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।।'
8. तैत्तिरीय आरण्यक, 6/1,
9. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 4/2/18,
10. भारद्वाज गृह्यसूत्र, 2/1,

पालन करती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी।"[11] लेकिन यह धर्मसूत्र अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा काफी बाद का माना गया है। बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी सती-प्रथा का कोई उद्धरण नहीं मिलता। मेगस्थनीज, कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों में भी इस प्रथा के अस्तित्व के साक्ष्य नहीं मिलते। मनु तथा याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों से भी इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग 300 ई0पू0 के आस-पास पंजाब एवं सिन्ध में इसका प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। ग्रीक लेखकों ने इस प्रथा का वर्णन किया है। स्ट्रैबो ने आइनेसिक्रिटस की सूचना के आधार पर लिखा है कि सिकन्दर के सहगामी यूनानियों ने कठों के बीच इस प्रथा का प्रचलन देखा था।[12]

महाकाव्यों में इस प्रथा के प्रचलन के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। रामायण में ब्राह्मणी वेदमती की माता का शरीर दहन करने का उल्लेख मिलता है।[13] महाभारत में पाण्डु की रानी माद्री का अपने पति के साथ सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[14] विराटपर्व में कीचक के साथ सैरन्ध्री के जल जाने का उल्लेख मिलता है।[15] मौसलपर्व के अनुसार वासुदेव की चार पत्नियाँ देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा तथा कृष्ण की पत्नियाँ रुक्मिणी, शैब्या, हैमवती और जाम्बवती अपने पति के साथ सती हो गयी थीं।[16] परन्तु फिर भी यह प्रथा लोकमान्य नहीं हुई थी, क्योंकि महाकाव्यों में ही अनेक अभिजात विधवा महिलाओं जैसे कुन्ती, सत्यवती, उत्तरा, कृपा, कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी आदि का पति की मृत्यु के उपरान्त जीवित रहने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार महाभारत के स्त्रीपर्व में युद्ध में मारे गये वीरों की विलाप करती हुई स्त्रियों का वर्णन मिलता है, परन्तु उनमें से किसी के भी सती होने का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः उपर्युक्त उद्धरण नियम के रूप में नहीं अपितु अपवाद के रूप में लिये जाने चाहिये।

लेकिन गुप्तकालीन साहित्य में सती होने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। कालिदास के अनुसार कामदेव के भस्म हो जाने पर उसकी पत्नी अग्नि में प्रवेश करना चाहती थी।[17] वराहमिहिर ने उन विधवाओं के साहस की प्रशंसा की है, जो पति के मरने पर अग्नि में प्रवेश

11. विष्णु धर्मसूत्र, 25/14, याज्ञवल्क्यस्मृति के 1/86 की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्वारोहणं वा।।'
12. स्ट्रैबो, 15/1/30, एवं 62,
13. रामायण, 7/17/33,
14. महाभारत, 1/5/65,
15. वही, 4/23/8,
16. वही, 16/7/18, 73-74,
17. कुमारसंभव, 4/34,

कर जाती थीं।[18] वात्स्यायन ने तो यहाँ तक लिखा है कि वीरांगनाएँ अपने प्रेमी का अधिकार पाने के लिए उन्हें आश्वस्त करती थीं कि वे उनके साथ सती होंगी।[19] व्यासस्मृति के अनुसार पति के शव का आलिंगन करके ब्राह्मणी को अग्नि में प्रवेश करना चाहिए, लेकिन यदि वह पति के उपरान्त जीवित रहती है तो उसे अपना केशश्रृंगार'नहीं करना चाहिए और तप से शरीर को गला देना चाहिए।[20] ब्रह्मपुराण के अनुसार पति के मर जाने पर पतिव्रता स्त्रियों के लिए एकमात्र गति यही है कि वे भी पति के शव के साथ चिता पर आरुढ़ हो जायें। पति के वियोग से उत्पन्न होने वाली जलन के शमन का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि पति की मृत्यु किसी देशान्तर में हो जाये तो पत्नी को चाहिए कि उसकी पादुकाओं को साथ लेकर संशुद्ध रूप से अग्नि में प्रवेश कर लें।[21]

पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों तथा अभिलेखों में इस प्रथा के प्रचलन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की पत्नी यशोमति के अग्नि में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है। लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यशोमति ने प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पूर्व ही अपने को भस्म कर लिया था।[22] हर्ष की बहिन राज्यश्री भी अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने को तैयार थी, परन्तु हर्ष ने उसे समझा कर ऐसा करने से रोक दिया था। राजतरंगिणी में भी सती होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[23] शंकरवर्मन में मर जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक प्रधान रानी तीन अन्य रानियों के साथ सती हो गयी थी।[24] इसी ग्रन्थ के अनुसार कन्दर्प सिंह के मर जाने पर उसकी पत्नी सती हो गयी थी।[25] कथासरित्सागर में भी पति के मरने पर सती होने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।[26] अरब यात्री सुलेमान ने भी भारत में सतीप्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यहाँ यह नियम है कि जब राजा मरता है तो उसकी सब रानियाँ जल जाती हैं, परन्तु यह केवल उनकी इच्छा पर निर्भर है, इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।[27] परन्तु सुलेमान के पश्चात् आने वाली विदेशी यात्री अलबेरुनी का कथन है कि राजाओं की पत्नियों को चाहे या ना चाहे सती होना ही पड़ता है।[28]

---

18. बृहत्संहिता, 74/16,
19. कामसूत्र, 6/2/53,
20. व्यासस्मृति, 2/53,
21. कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड, पृ0 634,
22. हर्षचरित, उच्छ्वास 5,
23. राजतरंगिणी, 6/107, 195, 7/103, 478,
24. वही, 5/226,
25. वही, 7/103,
26. कथासरित्सागर, 10/85,
27. सिलसिलतुत्तवारिख, पृ0 50,
28. जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 164,

इस काल में राजाओं के साथ न केवल उनकी पत्नियों के अपितु दास-दासियों एवं रखैलों के भी सती हो जाने के उल्लेख मिलते हैं। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्धन की मृत्यु पर कितने ही मित्रों, मन्त्रियों, दासों, दासियों एवं स्नेहपात्रों ने अपने को जला दिया था। राजतंरगिणी के अनुसार जब अनन्त की रानी सती हो गयी तो उसका चटाई धोने वाला, कुछ अन्य पुरुष तथा तीन दासियाँ उसकी अनुगामी हो गयीं।[29] एक उदाहरण माता का भी मिलता है, जो अपने पुत्र के साथ सती हो गयी थी।[30]

अभिलेखों में इस प्रथा के प्रचलन का सबसे प्राचीनतम प्रमाण गुप्त राजा भानुगुप्त के 510 ई0 के एरण प्रस्तर स्तम्भ लेख में मिलता है, जिसमें गोपराज की पत्नी का अपने पति के साथ सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[31] 705 ई0 के नेपाल अभिलेख में धर्मदेव की विधवा राज्यवती का अपने पुत्र महादेव को राज्य सौंपकर अनुमरण करने का उल्लेख मिलता है।[32] जोधपुर से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुहिलवंशीय दो रानियाँ चिता में जलकर सती हो गयी थीं।[33] घटियाला (जोधपुर) अभिलेख (810 ई0) राजपूत सामन्त राणुक का उल्लेख करता है, जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी ने सहगमन किया था।[34] सिन्ध महामण्डलेश्वर रावमल्ल ने अपने सरदार बेघिराज की दो विधवाओं के, जो कि सती हो गयी थीं, के कहने पर शक सम्वत् 1103 में एक मन्दिर बनवाया था।[35] इसी प्रकार कई अन्य अभिलेखों में इस प्रथा का उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ तथा अन्य स्थानों पर राजपुत्रियों और रानियों द्वारा किये गये जौहर की कहानियाँ अभी भी ताजी हैं। मुस्लिम आक्रान्ताओं के क्रूर हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा राजपूत रानियाँ, पुत्रियाँ तथा अन्य राजपूत कुमारियाँ अपने को अग्नि में समर्पित कर देना उचित समझती थीं।

वास्तव में प्राचीन भारत में इस प्रथा के प्रचलन में अनेक कारणों ने अपना योगदान दिया। ई0 सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जब भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये तो भारतीय स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा एक गंभीर समस्या बन गयी। अतः विदेशी आक्रान्ताओं के हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा भारतीय स्त्रियों ने अपने को पति की चिता के साथ ही जला देना उचित समझा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईसापूर्व तथा ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में सभी स्त्रियाँ अपने पति के साथ सती हो जाती थीं, अपितु यह प्रथा विशेषकर राजपरिवार और अभिजात वर्ग में ही अधिक प्रचलित थी।

29. राजतरंगिणी, 7/481,
30. वही, 7/1380,
31. जे0 "लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ0 91,
32. इण्डियन एण्टिक्वेरी, 9/164,
33. एपिग्राफिया इण्डिका, 20/58,
34. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1906-7, पृ0 35,
35. एपिग्राफिया इण्डिका, 14/265-67,

इसका दूसरा कारण प्रारम्भ में उच्चतर जातियों में नियोग और विधवा विवाह का प्रचलन था।[36] जिन स्त्रियों के सन्तान नहीं होती थी, वे धर्मशास्त्रों में वर्णित नियोगप्रथा के द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकती थीं। परन्तु ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में द्विजों के लिए यह प्रथा समाप्त हो गयी।[37] इस प्रसंग में मनु ने इसे द्विजों के लिए पाशविक आचरण (पशुधर्म) कहकर इसकी निन्दा की है।[38] इसकी अनुमति मात्र शूद्रों को ही दी गई।[39] यही बात विधवा विवाह के साथ थी, जो केवल शूद्रों तक सीमित रही।[40] इस प्रकार उच्चवर्ण की विधवा महिलाओं के लिए कठिन समय आ गया, क्योंकि एक तो उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और दूसरा उनके लिए अतिनैतिक और त्यागी जीवन का विधान कर दिया गया। अतः ऐसी स्थिति में उन्होनें अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा अपने को सती कर देना उचित समझा। तीसरा धर्मशास्त्रकारों द्वारा इसे धार्मिक महत्त्व दिये जाने के कारण भी इसको बढ़ावा मिला, जिससे धर्मभीरु जनता भी धीरे-धीरे इस प्रथा की अनुगामिनी बन गई।

इस प्रकार जब एक बार यह प्रथा जड़ पकड़ गयी तो निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने सती होने वाली स्त्रियों की भरपूर प्रशंसा शुरू कर दी और सती होने से भविष्य में मिलने वाले लाभों की चर्चा चला दी। शंख एवं अंगिरा के अनुसार जो स्त्री अपने मृत पति का अनुगमन करती है वह स्त्री शरीर पर पाये जाने वाले साढ़े तीन करोड़ रोमों की संख्या के बराबर स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार सपेरा साँप को उसके बिल से बलात् खींच लेता है, उसी प्रकार सती होने वाली स्त्री अपने पति को अधोगति से उबार लेती है और उसके साथ स्वर्गीय सुख भोगती है। इसके अतिरिक्त सती होने वाली स्त्री अरुन्धती के समान ही स्वर्ग में यश पाती है। लेकिन जब तव स्त्री अपने को मृत पति के साथ अग्नि में भस्म नहीं करती है तब तक वह स्त्री जन्म से मुक्त नहीं होती है।[41] हारीत के अनुसार जो स्त्री पति का अनुगमन करती है वह तीनों कुलों अर्थात् माता, पिता और पति के कुलों का पवित्र कर देती है।[42] दक्ष के अनुसार पति के मरने पर जो स्त्री अग्नि में प्रवेश करती है वह स्वर्गलोक को प्राप्त करती है।[43] मिताक्षरा ने सतीप्रथा को ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक की स्त्रियों के लिए समान रूप से

36. एस0सी0 सरकार, पूर्वोक्त, पृ0 78-79, 82-83, 165-85,
37. आर0एस0 शर्मा, पूर्वोक्त, पृ0 91,
38. मनुस्मृति, 9/66,
39. पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, 2, पृ0 604,
40. मनुस्मृति, 9/66,
41. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 1/86, 'तिस्रः कोट्योर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं स वसेत् स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति।।' व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्। तदुद्धृत्य सा नारी सहानेनैव मोदते।। मृते भर्तरि या न समारोहे हुताशनम्। सारुन्धती समाचारा स्वर्गलोके महीयते।।
42. हारीत, 1/68, 'कुलत्रयं पुनात्येषा भर्तारं यानुगच्छति।'
43. जीवानन्द, 2, पृ0 394, 'मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्। सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते।।

श्रेयस्कर माना है। लेकिन वह स्त्री जो गर्भवती या छोटे बच्चों वाली होती थी, उसके लिये सती होना वर्जित था।[44]

लेकिन इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ अनेक शास्त्रकारों एवं टीकाकारों ने इस प्रथा का समर्थन किया है, वहाँ कुछ ने इस प्रथा का विरोध भी किया है। बाण के अनुसार पति के साथ मरना व्यर्थ है और यह बेवकूफों की प्रथा एवं एक भयंकर भूल है। इससे मृत्यु के पश्चात् पति के साथ मिलन नहीं होता, क्योंकि जो व्यक्ति मरा है उसको उसके कर्मों के अनुसार अपना स्थान मिलेगा और पत्नी को चिता में जलकर आत्महत्या करने के कारण नरक मिलेगा। परन्तु यदि वह जीवित रहेगी तो वह अपना और अपने पति का ही हित करेगी।[45] तन्त्र लेखकों ने भी इसका विरोध किया है। महापरिनिर्वाणतन्त्र के अनुसार जो स्त्री मोहवश अपने पति के साथ चिता में जलती है वह नरकगामिनी होती है।[46] देवण्णभट्ट ने इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी न रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[47] मेधातिथि का कथन है कि सतीप्रथा एक प्रकार से आत्महत्या है जिसका वेद विरोध करते हैं और यह स्त्रियों के लिए वर्जित है।[48] अपरार्क के अनुसार यदि विधवा जीवित रहती है तो वह श्राद्ध में अपने पति को उपहार देकर उसका कुछ भला कर सकती है, परन्तु यदि वह चिता में जलती है तो वह आत्महत्या करने का पाप करती है।[49]

शुद्धितत्व[50] नामक ग्रन्थ में सती होने की विधि का वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार विधवा स्त्री स्नान करके दो श्वेत वस्त्र धारण करती है, अपने हाथों में कुश लेती है, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करती है, आचमन करती है, जब ब्राह्मण कहता है **'ओम् तत्सत्'** वह नारायण का स्मरण करती है तथा मास, पक्ष एवं तिथि का संकेत करती हुई संकल्प करती है। इसके उपरान्त वह आठों दिक्पालों तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि आदि का भी आह्वान करती है कि वे लोग चिता पर जल जाने की क्रिया के साक्षी बनें। तब वह अग्नि के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करती है और फिर **'नमो नमः'** कहकर जलती हुई चिता पर चढ़ जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में सती होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता था, लेकिन आगे चलकर इस प्रथा का दुरुपयोग होने लगा। चूँकि सती होना परिवार के लिए सम्मान की बात समझी जाती थी, इसलिए कभी-कभी अनिच्छुक विधवाओं

44. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 1/86, 'अयं च सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचाण्डालम्। साधारणो धर्मभर्तारं यानुगच्छति विशेषोपादानात्।।'
45. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृ0 309,
46. महापरिनिर्वाणतन्त्र, 10/79-80,
47. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ0 598,
48. मेधातिथि, 5/155,
49. अपरार्क, 1/87,
50. शुद्धितत्व, पृ0 235,

को भी बलपूर्वक सती कर दिया जाता था। दूसरा कभी-कभी स्वार्थवश भी विधवाओं को जला दिया जाता था। देश के उन भागों में जहाँ दायभाग का सिद्धान्त प्रचलित था, वहाँ इस प्रथा का अधिक प्रचलन था। दायभाग के सिद्धान्त के अनुसार पुत्रहीन विधवा का अपने मृतपति की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार होता था, जिससे परिवार के अन्य सदस्यों को असुविधा होती थी, अतः पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर कहीं विधवा का अधिकार न हो जाये, लोगों ने जबरदस्ती उसे सती करना शुरू कर दिया। पी0बी0 काणे तथा ए0एस0 अल्तेकर के अनुसार चूंकि बंगाल में दायभाग सिद्धान्त प्रचलित था, इसलिए देश के अन्य भागों की अपेक्षा बंगाल में इस प्रथा का अधिक प्रचलन था।[51] लेकिन फिर भी देश में सती होने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती थी।[52]

51. पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, भाग 1, अध्याय 15, ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, अध्याय 9, प्रशाखा 2,

52. कोलब्रुक, मिसेलेनियस एसेस, 1837, भाग 1, पृ0 122,

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0204-211)

Yajna and air Pollution

D.R. Khanna

Department of Zoology and Environmental Science

Gurukul Kangri University Haridwar

In Modern era for physical improvement there is continuously elaboration of industries .Due to rapid spread ness of industrialism in the world there is the tremendous production of pollution. This tremendous pollution is spreading in different forms and creating hazards. All elements which are essential for life like air, water, earth (soil), space /sound etc. are entangled by pollution, means the whole world is invaded by pollution. Today this is a very complicated problem for the whole world .The great scientists from the different countries of the world are continuously working on billion dollars projects related to pollution control; but till now pollution is out of control and its is continuously increasing.

If environment is safe, then our life would be safe; this statement of ancient literature is completely true. Environment means a protective covering. This environment regulates and controls the life –cycle. But if there is any undesirable change (pollution) or pressure of harmful substances in the environment then the life of all creatures comes in crisis.

Today, due to this increasing environmental pollution the nature is also displeased from us, that's why disasters like flood, draught, earthquakes and constantly new diseases comes in front of us.

In world's prior 'Vedas' the importance of environment is considered by saying that it should be pure and preserved.

To regulate and to control the environmental pollution the Vedas gives us the knowledge of 'Yajna' according to which-'By Yajna perfect purification of oxygen means the purification of environment occurs.[1]

Since ancient times till now no period is there when Yajna is not prevalent in any form. Besides prior Vedas the importance of Yajna is also explained in details in holy books like Ramayana, Mahabharata, and Geeta.etc. Lord Krishna established the importance of Yajna in this manner-"In the beginning of the universe Brahma creates descendants that is the earth (human –beings etc.) together with Yajna and said that by this Yajna you people gain the progress. This Yajna fulfils man's desires. Through this Yajna the divines and by divines, the human –beings are being protected or progressed. The purpose of saying that is the divines and by divines the human beings are being blessed. This Yajna brings welfare for both divines and human beings (earth).[2]

Which means that the balanced environment by means of Yajna gives prosperity and pleasure to human's life? In present time according to Fundanlal Agnihotri – treatment can be done by Yajna. The book 'Physical religion ' written by Maksmuller also said that fire is air –purifier.

1 सं ते प्राणो वातेन गच्छताश्चं समङ्गानि यजत्रै: सं यज्ञपतिराशिषा।। यजु0 06/10

2 सह यज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु न:। परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ।। - गीता-03/10/11

Yajna and air Pollution

The fire is worshipped not only in India. To escape from an epidemic about 150 years ago, there is the custom to burn fire in Scotland, Ireland and South America. Today as well in temples of Japan the incense stick and in Germany lavender's stick lightens up by the people. Parsi people, especially from Iran, like Hindus become pure and spiritual to do the Yajna. In British period, the British person signifies that carbon –dioxide gas evolves in Yajna, which is injurious to health. People of our country, which were impressed by western culture, especially higher, class people, influenced by this doubtful guess of British people and continuously gone away from Yajna. While the amount of CO_2 evolved during Yajna is not high and the amount, which is present, that combines with water molecules present in atmosphere and forms formaldehyde, which helps in destroying microbes. Besides this, the increasing photosynthesis in plants, due to which plants produce food materials in higher amounts.

In modern era, Swami Dayanand Saraswati again mentions the scientific advantage of Yajna by detecting it in the form of health- developer, disease- killer and air purifier (pollution- controller).

A chemist Trills from France tells that on burning wood, formal dehyde gas evolves, which kills the bacteria. Another Scientist Prof. Plibert again from France tells that on burning sugar the poison of diseases like Cholera, tuberculosis and small pox gets destroyed. According to Dr. Tillit on burning dry grapes and resins the bacteria of typhoid dies in half an hour and other microorganisms in two hours.

Yajna and analysis of polluted air

Above mentioned things in favor of Yajna can be seen and read in some books, but their scientific knowledge gives true results by doing experiments or not, to know this fact we have done experiments on polluted air and vapor of Yajna. For these experiments we have chosen a place, which was in the polluted area and physical, chemical and microbiological analysis of polluted air of that room has been done; afterwards in same room by Yajna material (500gm), Cow's ghee (250 gm), and wood (1.5 kg.) given in table 3, Yajna has been done and also the scientific analysis of that Yajna vapors has been done in the same manner by scientific apparatus and experiments.

The physical, chemical and microbiological parameters of air and yang, which were studied, are as follows: -

Physical Parameters: -

1. Temperature
2. Odour
3. Respiratory suspended particulate matter (R.S.P.M.)
4. Suspended particulate matter (S.P.M.)

Chemical Parameters: -

1. Nitrogen oxides (NO)
2. Nitrogen dioxide (NO_2)
3. Oxides of nitrogen (NO_X)
4. Sculpture dioxide (SO_2)
5. Carbon dioxide (CO_2)
6. Ozone (O_3)

Microbiology .

Number of Bacteria: Before Yajna (that is in polluted air) and after Yajna (that is Yajna vapors) the results after analysis of above mentioned all physical, chemical and microbiological parameters have been given in Table No. 1. Besides this the harms appeared from these parameters of polluted air have been given in Table No. 2. The description of all the parameters is as follows: -

Physical parameters:

Temperature: The temperature of the place (room) where experiment is done is measured by thermometer before and after Yajna. As a result it was found that after Yajna the temperature of the room slightly increases; the reason of which was the energy generated during the burning of wood (fuel) and different types of substances (Yajna material).

Odour: - There was no smell in polluted air but after Yajna the smell spreads all over in the room and atmosphere becomes scented. This fragrance was self-willed and mind –pleasing.

Although the analysis of these aromatic substances could not be done because of lack of apparatus, but it might be more possible that these substances were Thionol, Uginol, Terpenol etc. which were evolved by the burning of Sandal, Camphor, Clove and Ghee.

Respiratory Suspended particulate matter (R.S.P.M.): The dust particles capable of breathing present in dusty atmosphere are measured by respiratory dust machine. Actually the suspended dust particles capable of breathing are very minute (smaller than 10 μm) due to which these particles enter in lungs of man while breathing where they badly affect the respiratory organs.

With these is also present cancer- causing substances, which can cause lung cancer. In the experiment the quantity of respiratory suspended dust particles before Yajna was 150 $\mu g/m^3$, while after yang their quantity was found to be 68 $\mu g/m^3$.

So, we can say that by Yajna the possibility of diseases related to respiratory tube and lungs almost finishes.

Suspended particulate matter (S.P.M.): The minute particles present in atmosphere are somewhat bigger than respiratory minute dust particles (larger than 10 μ m) and while breathing these particles entrapped by the hairs of nose, that's why they could not reaches the lungs. Therefore, we can say that these particles are less harmful than respiratory minute dust particles; only they can put little scratches on mucus membrane of nose. Before Yajna quantity was 83 $\mu g/m^3$, while after Yajna it was found only 26 $\mu g/m^3$.

Chemical Parameters:

Oxides of Nitrogen: Generally, in pure atmosphere nitrogen gas is present in the combination with oxygen and carbon dioxide; but if the air is polluted then the oxides of nitrogen are present in the form of various gases like nitric oxide, nitrogen dioxide, and other oxides of nitrogen.

Above mentioned enumerated all gases pollutes air and these produces from continuously arising smoke factories and vehicles. These gases produces diseases of respiratory system, especially these are the main cause of different types of diseases of lungs.

In our experiment before Yajna the amount of these gases Nitric oxide (NO), Nitrogen di-oxide (NO_2) and other oxides of nitrogen (NO_X) were found to be 61.80 $\mu g/m^3$, 85.70 $\mu g/m^3$ and 92.25 $\mu g/m^3$ respectively; but after Yajna we could not found their presence in our analysis.

By this may the importance of Yajna in our life is proved and we can say that the diseases of respiratory tube and lung caused by above mentioned gases do not effect the people those do Yajna.

Yajna and air Pollution

Sculpture dioxide: This gas badly affects the working of lungs. Its presence pollutes the air and by pulling this gas in lungs continuously through breathing increases the danger of respiratory diseases and other diseases of lungs.

Before Yajna the amount of sculpture dioxide in the air of experimental place was found to be 12.7 $\mu g/m^3$ but after Yajna the presence of sculpture dioxide was not found in the room.

Carbon monoxide (CO): This poisonous gas badly affects the heart. This gas reaches the lungs by polluted air while breathing where the hemoglobin present in red blood corpuscles changes into carboxy- hemoglobin, which is a very poisonous substance. By inhaling this gas in body in higher amounts may cause unconsciousness and later it can also cause death.

Its presence was also not found after Yajna while before Yajna its amount was noted 135.33 $\mu g/m^3$ in air.

Ozone (O_3): This gas causes the burning sensation in eyes, nose and threat and also so many diseases of lungs. Together with this due to ozone sensitiveness towards the infectious diseases increases.

Before Yajna the amount of this gas was found to be 15.60 $\mu g/m^3$ while like other harmful gases this gas was not found on the experimental place (The author's opinion is that ozone moves towards sky with the raising air of Yajna, where it strengthens the ozone layer that is protects the earth from ultraviolet rays.

Above mentioned all the pollutants parameters which made the air polluted were almost finished in the experimental room through Yajna –only respiratory suspended particulate matter (R.S.P.M.) and suspended particulate matter (S.P.M.) were not completely finished but remains in small amounts. By these particles after Yajna no difficulty was born in breathing, the reason of which was minute Yajna particles, which were remaining harmless.

By these experiments we can say that Yajna smoke spreads in the atmosphere and makes it pure. In Atharavaveda also the pure air is said to be the leader of Space.[3]

The medicinal herbs mixed with Yajna material finishes the contaminated elements. The substances put in the Yajna basin floats away along with them the pain giving and disease –causing pollutants present in atmosphere, like foam floats away with river.[4]

In this investigation during Yajna and after Yajna the presence of sweet –smelling and fragrant substances was found in the atmosphere. Although the analysis of these substances could not be done due to lack of instruments but because of the presence of fragrant substances, favorable effect on mind and brain have seen and found and it was seen up to here that Yajna –smell gives relief from tensions.

Yajurveda also gives its proof, in which it has been said that when in fire there is hawan of sweet –smelling substances, only then this Yajna pures substances like air, protects substances like human body and medicines and produces various types of juices (hormones etc.) because of which knowledge (that is intelligence) and strength increases in living beings.[5] The reason of finishing air

3 वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः। अथर्व0 05/24/08

4 इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः।। अथर्व0 01/08/01

5 इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणः। - यजु0 01/01

pollution by Yajna is the spreading of useful and effective gases evolves from Yajna in all directions and to turn off air pollution by rising up in salvation.

In Yajurveda it has been said that with the word 'Swaha' the activity of oblation occurs then the air rises up in the sky in salvation that is emancipation of Yajna air removes pollutants.[6]

Rig-Veda has also said that 'drug-united air blows in all directions'[7]. Means by blowing medicine united air in all directions purification occurs. Besides this, by our investigation this mantra of Rig-Veda also confirms that medicinal matter burns with cow's ghee and by becoming chiefly powerful kills simply 99 types of defects (pollutants) of polluted atmosphere[8].

Microbiology: In atmosphere disease –spreading and other many types of micro-organisms are present but after Yajna it was found that the microbes of experimental place are almost killed while before Yajna the number of micro-organisms were 860, later this number was only 70; which was the number of harmless microorganisms. The measures to kill microorganisms have also been shown in Vedas.

According to a mantra of Atharavaveda "the great Indra's (Yajna) huge rock stone is insect (microbes) Killing[9]. By that grinds all insects according to rules". An another mantra of Atharavaveda it has been said like this that ' those insects which has been diffused in mountains, forests in addition to other medicines and water means in every type of atmosphere, we kills the entire origin of these micro-organisms[10].

This mantra is of Atharavaveda insect cohabitation text; whose God is Indra. Here the mode is to kill micro-organisms (microbes) through Yajna and to finish its place of origin (polluted atmosphere).

Conclusion

On the basis of results of above mentioned study finally in the form of findings we can say that to remove atmospheric pollution (here study of only Yajna and air pollution has been done) if we do Yajna everyday by following the ways suggested by Vedas then following advantages may appear: -

Control on physical pollutants: Physical pollutants like respiratory suspended particulate matter (R.S.P.M.) and suspended particulate matter (S.P.M) etc can be controlled through Yajna.

Regulation of chemical pollutants: Chemical pollutants (NO, NO_X, NO_2, SO_2, O_3) also are removed from Yajna spot by salvation of medicine containing air of Yajna.

Elimination of microorganisms: Everyday by Yajna microorganisms eliminates from Yajna spot and can't revive again.

6 स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्। यजु0 06/16

7 वात आवातु भेषजम्। ऋ0 10/186/01

8 जघान नवतीर्नव। ऋ0 01/84/13

9 इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी। तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँइव।। अथर्व0 02/31/01

10 ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः। ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्।। अथर्व0 02/31/05

Yajna and air Pollution

Removal of foul smell: The atmosphere becomes fragrant through Yajna. Because of this mind-pleasing smell the possibility of mental stress, heart diseases and lung diseases decreases enough.

Others: Besides this insects, flies and mosquitoes etc. also removes by yang, because of this diseases like Cholera, tuberculosis, malaria etc. do not effect the people resides near Yajna.

If we all becomes wakeful and firm determined towards not to destroy environment and the interest towards purity of Yajna would develop not only in Indian people but in the whole world, then the massive expenses of money on different projects of environmental pollution can be reduced.

The Vedas on account of removing air pollution also gives an awakening massage in a mantra that "In space the different types of layers of air elements are there, do not spoil them, do not destroy them. These elements are very much useful for our life.[11] And ultimately we can say, "Yajna is the most excellent act"[12]

NOTE: Here the scientific study of Yajna vapors has been done and presently on this several investigations can be done. Along with this the study of mantra sound is left also.

Table: 1 Study of different parameters of air

S. No.	Parameters	Before Yajna	After Yajna
Physical Parameters			
1.	Temperature	29°C	32°C
2.	Odour*		
3.	R.S.P.M.	150 μg/m³	60 μg/m³
4.	Normal microbes	83 μg/m³	60 μg/m³
Chemical Parameters			
1.	Nitrogen Oxide	60.80 μg/m³	Not found
2.	NO_2	85.70 μg/m³	Not found
3.	Other Oxides of Nitrogen	92.75 μg/m³	Not found
4.	SO_2	12.70 μg/m³	Not found
5.	CO	135.33 μg/m³	Not found

11 द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंस्सीः पृथिव्या संभव। यजु0 05/43

12 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत0 ब्रा0 01/07/15

6	Ozone	45 60 μg/m^3	Not found
Microbiological Parameters			
1.	Proved microbiological calculation	860	70

*Analysis of aromatic substances has not been done

Table: 2 Study of different parameters of air

S.No.	Air Pollutants	Effect on Health
1.	Nitrogen Oxide	Respiratory system, Specially lung diseases
2.	Sculpture Oxide	Effect on working of lungs, Respiratory diseases
3.	Carbon monoxide	Bad effect on heart, Changes hemoglobin presenting red blood corpuscles in to carboxy-hemoglobin
4.	Ozone	Increases sensitiveness towards infection, lung diseases, burning sensation in eyes, nose and ears
5.	Respiratory suspended Particulate matter	Bad effect on respiratory tube, carrier of different secondary pollutants and cancer causing substances

Table: 3 Parameters of Hawan material (about 1Kg.)

S. No.	Parameters	Quantity
1.	Sandal	60 gm.
2.	Aloe	40 gm
3.	Gum	80 gm
4.	Nutmeg	1
4.	Mace	1
5.	Coconut	80 gm
6.	Cardamom	20 gm
7.	Cyperus	80 gm
8.	Xanthocymus epictorius (leaf of tree)	40 gm
9.	Pan	40 gm
10.	Cinnamon	20 gm
11.	Tabernasmontana coronasia	40 gm
12.	Date palm	8

13.	Barley	40 gm
14.	Resins	80 gm
15.	Messua ferrea	30 gm
16.	Betel nut	1
17.	Cloves	20 gm
18.	Chironji Sapida nuts	10 gm
19.	Seeds of Sesamum plants	20 gm
20.	Sugar	200 gm
21.	Almonds	20 gm

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0212-220)

Yajna Samagri for different season

Navneet and Prabhat

Department of Botany & Microbiology

Gurukul Kangri University, Hardwar

The important part of Vedic Yajna is the Samagri used in performing the Yajna. The ingredients used in the Yajna Samagri have medicinal properties at the core of them. These properties get spread in the atmosphere after the performance of Yajna and exactly synchronize the circadian rhythm corresponding to sunrise and sunset. This results in beneficial effects on the body, mind and wisdom of the persons performing the Yajna. An atmosphere of tranquility, genial understanding and discipline develops. The atmosphere is filled with healthy nutrients and its fragrance pleases the mind. Moreover, the ingredients present inside the Samagri plays an important role in controlling microbial population in the atmosphere. Thus the effect of Yajna Samagri on survival of saprophytic and pathogenic microbes in the atmosphere helps in treating air borne infections.

Methods of preparation of Yajna Samagri

The following points are taken into consideration at the time of preparation of Yajna Samagri:

1. The ingredients should be collected separately and kept to different labeled polythene bags. The ingredients must be authentic and pure. The old and rotten ingredients should not be used.

2. The fresh and green medicinal plants (e.g. Tinospora cordifolia etc.) are to be used in Yajna Samagri after cutting them into pieces and drying in the sunlight for one or two days.

3. The ingredients should be cut into small pieces and are to be mixed properly.

4. Cinnamomum camphora (kapur), Crocus sativas (kesar), Myristica fragrans (javatri), sugar and ghee will be kept separately and are to be used as follows :

(a) Cinnamomum camphora is to be used for the lightening of fire.

(b) Crocus sativas and Myristica fragrans are too mixed in ghee.

(c) As per the requirements of the Yajna Samagri, sugar, kapur, honey etc. should be mixed.

(d) Pure ghee is to be added in sufficient quantity so that the Yajna Samagri does not give a dry appearance.

5. Cow's ghee is the most important and essential ingredient prescribed in the performance of Yajna as ordained by the Vedas. In case it is not available then buffalo's ghee can be used but refined vanaspati ghee for performing Yajna is highly improper and harmful.

The Yajna Samagri for different seasons is given in Tables 1 to 6 and Yajna Samagri to cure malaria, diabetes, skin diseases, syphilis and asthma is given in Tables 7 to 11 (Agnihotri, 1995 and Chunekar, 1969).

Yajna Samagri for Sishir (winter) Season, January-February

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Akhroot	Juglans regia	Juglandaceae	Fruit	5gm

Yajna Samagri for different season

2	Kachur	Curcuma zedoaria	Zingiberaceae	Root	5gm
3	Viabidang	Embelia ribes	Myrsinaceae	Fuit	2gm
4	Guchmundi	Gerwia hirsuta	Tiliaceae	Bark	5gm
5	Mocharas	Salmaría malabárica	Bombacáceas	Whole Plant	2gm
6	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	Whole Plant	2gm
7	Munakka	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	5gm
8	Renuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	Whole Plant	1gm
9	Kala Til	Sesamum indicum	Pedaliaceae	Seeds	5gm
10	Tajpatra	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Leaves	2gm
11	Keshar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	2gm
12	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	5gm
13	Chirayita	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	5gm
14	Kharjur	Phoenix sylvestris	Palmae	Fruit	5gm
15	Tulsi	Ocimum sanctum	Labiatae	Seed	2gm
16	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	10gm
17	Chirounji	Bachanania lanzan	Anacardiaceae	Seeds	2gm
18	Khand (Sugar)	Saccharum album	Gramineae	Stem	16gm
19	Kakdasingi	Pistacia integerrima	Anacardiaceae	Stem	2gm
20	Satawar	Asparagus racemosus	Liliaceae	Root	2gm
21	Daruhaldi	Berberis aristata	Berberidaceae	Root	2gm
22	Sankhpuspi	Convolvulus pluricaulis	Convilvulaceae	Whole Plant	1gm
23	Padmakh	Prunus cerasoides	Rosaceae	Stem	2gm
24	Kaunch	Mucuna prurita	Leguminosae	Seeds	2gm
25	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	5gm
26	Bhojpatra	Betula utilis	Betulaceae	Stem	1gm
27	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
28	Halwa				
29	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Basalt (spring) Season, March-April

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Chhadila Permelia	Perlata Parmeliaceae	Perlata Parmeliaceae	Whole Plant	4gm
2	Talispatra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
3	Dakh	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	2gm
4	Lajjavanti	Mimosa pudica	Leguminosae	WholePlant	2gm
5	Seetalchini	Piper cubeba	Piperaceae	Fruit	4gm
6	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
7	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	2gm
8	Devdar	Cedrus deodora	Pinaceae	Wood	2gm
9	Giloua	Tinospora cordifolia	Menispermacea e	Whole Plant	4gm
10	Agar	Aquilaria agaallocha	Thymelaeaceae	Stem	2gm
11	Tagar	Veleriana vellichii	Valerianceae	Root	2gm
12	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flowers	-----
13	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flowers	
14	Indrajaw	Hordeum vulgare	Gramineae	Seeds	2gm
15	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	10gm
16	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	2gm
17	Javitri	Myristica fragrans	Myristiaceae	Flower	2gm
18	Jaiphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Furit	2gm
19	Dhoob	Cynodon dactylon	Gramineae	Whole Plant	4gm
20	Sarson	Brassica campestris	Cruciferae	Seeds	4gm
21	Puskarmule	Inula recemosa	Compositae	Root	4gm
22	Kamal	Nelumbo nucifera	Nymphaeaceae	Seeds	2gm
23	Mangistha	Rubia cordifolia	Rubiaceae	Root	2gm

Yajna Samagri for different season

24	Dalchini	Cinnamomum zeylanicu	Lauraceae	Stem	4gm
25	Gular (bark)	Ficus glomerata	Moraceae	Stem	2gm
26	Tajbal	Zanthoxylum armatum	Rutaceae	Fruit	4gm
27	Sankhpushpi	Convolvuluspluricaulis	Convolvulaceae	WholePlant	2gm
28	Chirayita	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	4gm
29	Khas	Vetiveria zizanioidis	Gramineae	Root	4gm
30	Gokhru	Tribulus terrestris	Zygophyllaceae	Fruit	4gm
31	Khand	Saccharum ablum	Gramineae	Stem	12gm
32	Seasonal fruit				
33	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Grisma (summer) Season, May-June

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Mura (murva)	Marsdenia tenacissima	Asclepiadaceae	Root	4gm
2	Viabidang	Embelia ribes	Myrsinaceae	Fruit	4gm
3	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	4gm
4	Nagarmotha	Cyperus rotundus	Cyperaceae	Root	4gm
5	pila (pilu)	Salvadora persica	Salvadoraceae	WholePlant	2gm
6	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	4gm
7	Chhadila	Parmelia perlata	Parmeliaceae	WholePlant	4gm
8	Nirmali	Strychnos potatorum	Loganiaceae	Seed	4gm
9	Shatawar	Asparagus racemosus	Liliaceae	Root	4gm
10	Khas	Vitiveria zizanioides	Gramineae	Root	2gm
11	Giloya	Tinospora cordifolia	Manispermaceae	WholePlant	4gm
12	Dhoop (Dub)	Cynodon dactylon	Gramineae	WholePlant	4gm
13	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Leaves/stem	4gm

14	Loung	Engenia caryophllata	Myrtaceae	Fruit	2gm
15	Tagar	Valerianaceae wallichii	Valerianaceae	Root	4gm
16	Bhojpatra	Betula utilis	Betulaceae	Leaves	2gm
17	Rice	Oryza sativa	Granineae	Fruit	16gm
18	Kush (root)	Desmostachya bipinnata	Gramineae	Root	4gm
19	Talishpatra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
20	Padmakh	Prunus cerasoides	Rosaceae	Stem	4gm
21	Daruhaldi	Berberis aristata	Berberidaceae	Root	4gm
22	Mangistha	Rubia cordifolia	Rubiaceae	Root	4gm
23	Shilaras	Liquidamber orientalis	Hamamelidaceae	Gum	4gm
24	Kesar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	------
25	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	4gm
26	Ilaychi	Elettaria cardamomum	Zingiberaceae	Fruit	2gm
27	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Varsha (Rainy) Season, July-August

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Kala agar	Aquilaria agallocha	Thumelaeaceae	Stem	2gm
2	Jaun	Hordeum vulgare	Gramineae	Fruit	2gm
3	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	2gm
4	Doob	Cynodon dactylon	Gramineae	WholePlant	2gm
5	Sarson	Brassica compestris	Cruciferae	Seed	2gm
6	Tagar	Valeriana wallichii	Valerianaceae	Root	2gm
7	Devdaru	Cedrus deodora	Pinaceae	Wood	2gm
8	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	20gm
9	Nakchikni	Centipeda minima	Compositae	Seed	4gm
10	Gal(Shal)	Shorea robusta	Depterocarpaceae	Gum	4gm

Yajna Samagri for different season

11	Jayaphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Fruit	4gm
12	Nirmali	Strychonos potatorum	Loganiaceae	Seed	4gm
13	Makhane	Euryalc ferox	Nymphaeaceae	Fruit	4gm
14	Tajpatra	Cinnamomum tamala	Lauraceae	Leaves	2gm
15	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	2gm
16	Bail	Aegle marmelos	Rutaceae	Bark	4gm
17	Jatamansi	Nordostachys jatamansi	Valerianaceae	Root	2gm
18	Ilaychi (chhoti)	Elettaria cardamomum	Zingiberaceae	Fruit	4gm
19	Bach	Acorus calamus	Araceae	Root	2gm
20	Giloya	Tinospora cordifolia	Manispermaceae	WholePlant	4gm
21	Tulsi (Seeds)	Ocimum sanctum	Labiatae	Seeds	2gm
22	Viabidang	Embelia ribes	Myrinaceae	Fruit	2gm
23	Kamal	Nelumbo nucifera	Nymphaceae	Seeds	2gm
24	Chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	4gm
25	Nagkesar	Mesua ferrea	Guttiferae	Flower	2gm
26	Brahami	Centella asiatica	Umbelliferae	WholePlant	4gm
27	Chirayta	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	2gm
28	Chuhare	Phoenix sylvestris	Plamae	Fruit	2gm
29	Sugar	Saccharum album	Gramineae	2gm	2gm
30	Rice	Oryza sativa	Gramineae	Fruit	2gm
31	Ghee (Cow)				

Yajna Samagri for Sharad (Winter) Season, Sep-Oct.

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	White chandan	Santalum ablum	Santalaceae	Wood	4gm
2	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	12gm

3	Nagkesar	Mesua ferrea	Guttiferae	Flower	4gm
4	Ilaychi (bari)	Amomum aromaticum	Cannaceae	Fruit	2gm
5	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae	WholePlant	2gm
6	Chirounji	Buchanania lanzan	Anacardiaceae	Seed	4gm
7	Vidarikand	Pueraria tuberosa	Leguminosae	Root	4gm
8	Gular (bark)	Ficus glomerata	Moraceae	Bark	4gm
9	Brahami	Centella asiatica	Umbelliferae	WholePlant	6gm
10	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Stem	2gm
11	Kapur	Cinnamomum camphora	Lauraceae	Stem	4gm
12	Mochras	Salmalia malabarica	Bombacaceae	WholePlant	2gm
13	Pittpapra	Fumaria vaillantii	Fumariaceae	WholePlant	2gm
14	Agar	Aquilaria agallocha	Thymeloaeaceae	Stem	2gm
15	Indrajaw	Hordeum vulgare	Gramineae	Seed	2gm
16	Ranuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	WholePlant	2gm
17	Munakka	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	4gm
18	Asvagandha	Withania somnifera	Solanaceae	Root	2gm
19	Sheetal chini	Piper cubeba	Piperaceae	Fruit	2gm
20	Jaiphal	Myristica fragrans	Myristicaceae	Fruit	4gm
21	Chirayata	Swertia chirayita	Gentianaceae	Stem	2gm
22	Keshar	crocus sativus	Iridaceae	Flower	
23	Kesmish	Vitis vinifera	Vitaceae	Fruit	4gm
24	Khand	Saccharum album	Gramineae	Stem	2gm
25	Jatamansi	Nordostchys jatamansi	Valerianaceae	Root	4gm
26	Makhana	Asteracantha longifolia	Acanthaceae	WholePlant	2gm
27	Sehdevi	Vernonia cineria	Compositae	WholePlant	2gm

Yajna Samagri for different season

28	Dhak	Butea monosperma	Leguminosae	Bark	2gm
29	Kapur (Kachri)	Hedychium spicatium	Zingiberaceae	Root	4gm
30	Kheer	___	___	___	4gm
31	Vishnukanta	___	___	___	2gm
32	Ghee (cow)				

Yajna Samagri for Hemant (Cold Winter) Season, Nov-Dec.

S.No.	Common Name	Botanical Name	Family	Part	Qty./ 100gm
1	Kuth	Saussurea lappa	Compositae	Root	2gm
2	Safed musli	Asparagus adscendens	Liliaceae	Root	2gm
3	Kokila	Asteracantha longifolia	Acanthaceae	WholePlant	4gm
4	Kapur (kachri)	Hedychium spicatium	Zingiberaceae	Root	4gm
5	Nakchikni	Centipeda minima	Compositae	Seed	2gm
6	Giloya	Tinospora cordifolia	Minispermaceae	WholePlant	2gm
7	Dalchini	Cinnamomum zeylanicum	Lauraceae	Stem	2gm
8	Bharngi (Jhangi)	Lerodendrum serratum	Verbenaceae	Root	4gm
9	Soumph	Foeniculum vulgare	Umbelliferae	Fruit	4gm
10	Munnaka	Vitis vinifera	Vitaceae	4gm	2gm
11	Cheer	Pinus roxburghii	Pinaceae	Wood	4gm
12	Guggal	Commiphora mukul	Burseraceae	Gum	18gm
13	Akhroot	Juglans regia	Juglandaceae	Fruit	4gm
14	Rasna	Pluchea lanceolata	Compositae	Leaves	2gm
15	Pushkarmul	Inula racemosa	Compositae	Root	4gm
16	Keshar	Crocus sativus	Iridaceae	Flower	
17	Chuhara	Phoenix sylvestris	Iridaceae	Fruit	4gm
18	Gokhru	Tribulus terrestris	Zygophyllaceae	Fruit	4gm

19	Kounch (Seed)	Mucuna prurita	Leguminosae	Seed	4gm
20	Giloya	Tinospora cordifolia	Menispermaceae		
21	Pittpapra	Fumaria vaillantii	Fumariaceae	WholePlant	2gm
22	Mulhati	Glycyrrhiza glabra	Liguminosae	Root	2gm
23	Kaletil	Linum usitatissimum	Linaceae	Seed	4gm
24	Javitri	Myristica fragrans	Myristicaeeae	Flower	2gm
25	Red chandan	Santalum album	Santalaceae	Wood	2gm
26	Tagar	Valeriana wallichi	Valerianaceae	Root	4gm
27	Talish patra	Abies webbiana	Pinaceae	Leaves	2gm
28	Ranuka (Nirgundi)	Vitex negundo	Verbenaceae	Seed	4gm
29	Honey	____	____	____	4gm
30	Badam	____	____	____	2gm

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0221-226)

GLOBALIATION OF AYURVEDA AND ITS IMPAT ON SOUTH EAST ASIA

Dr S.K. Joshi,
Reader and Head
Department of Shalya Tantra
State Ayuredic College
Gurukul Knagri, Haridwar (U.A.)

Globalization is a continuous process. The universal knowledge and good things are made for the betterment of all human being. According to Indian mythological concept, the whole universe is one family (Vasudhaivv Kutumbhakama), so the acquaintance, developed in India was spread all over the globe indistintcly from time immortal.

India the birthplace of Buddhism, from where, a numerous Buddhist scholars traveled, thousands of miles across the continent. The culture, religion, Ayurvedic Medical science and other traditional knowledge also went to south East Asia through the spread of Buddhism.

India's contact with the countries of south East Asia, were mainly through the Brahmanism and Buddhism. Before the Buddhism, Brahmanism extended through out the Indian subcontinent. After that, Buddhism flourished in many divergent societies, ranging from the unsettled to well developed, and today it is a major religion of the world. The impact of India left its ineffaceable stamp in culture, art, language, science and religion on south East Asia. The Indian iiliation was at its zenith gripped the subcontinent, especially south East Asia, before the birth of Christ. Waves of Indian traders, scholars, soldiers, Brahmins and Buddhist missionaries beat upon one south East Asian heave after another. Between the second and fifth centuries A.D. Indian kingdoms governed by Indian emperors were present in Malaya, Cambodia, Vietnam, Sumatra, Java, Bali and Borneo.

In first century A.D., the Kambuja, syama, champa and Malaya was under the influence of Hinduism. During that period, the Chinese named this region Funana. All emperors of this region, named as the name of the south Indian kings. Their surname was Verma, I.e. - Chandra Verma, Jaya Verma, and Rudra Verma. * In the accounts of historians, travelers and pilgrims from foreign countries may be found notices of medical science, as they saw it practiced during their visit to this country. Thus we learn from the accounts of Houen Tsang and Fa Hian that charitable hospitals, dispensaries and Puncyasalas (House of charity) were rather common in Indian subcontinent.**

About 2500 years ago, Buddhism was born in India as a philosophy, since then it has been transformed in to a religion and has traveled to distant lands.

Ayurveda, the science of life has affected the whole south East Asia. The Ayurveda is also enriched by traditional knowledge of south East Asia. A number of medicinal plants are incorporated in the Ayurvedic pharmacopoeia, from other parts of the subcontinent and south East Asia.

Some specialized treatment techniques being practiced and popularized in south East Asia. marma Vigyana (Tsubo Therapy), Sira vedha, Pancha karma and herbal remedies are the most accepted therapy for numerous body ailments with out the adverse effect.

The Ayurveda have played a key role in alternative/ traditional/ oriental medical science through its long history spanning many thousand years. Ayurveda have had deep influence in even south East Asia and other parts of the globe. It is one of the oldest methods of treatment in the world.

Oriental/traditional medicine as known today in south East Asia was developed in India and china and came through Buddhism in this region. As it is well known, Buddhism and Ayurveda had close relations. A number of Buddhist scholars were indulged in the study of Ayurveda was on its zenith, in Indian Before the period of lord Buddha, Ayurveda was on its zenith, in Indian subcontinent, and the teaching and training of Ayurveda was widely popularized.

The surgery (Shalya - tantra) was practiced for the elimination of a number of diseases. From Mohavagga, we learn that Jivaka, the personal physician of lord Buddha, practiced cranial surgery with success.

One of the persuasive causes of progressive profligacy in the knowledge and practice of surgery is the rapid spread of Buddhism in India. Though Buddha sanctioned the use of lancet in selected cases, in doubtful cases he prohibited the use of instruments in the treatment of even surgical diseases. He allowed the surgical treatment of boils by the knife, but he prohibited even the use of clysters for the treatment of fistula in ano. To understand the reasons of this prohibition, one story from Mohavagga is quotable.

The story is as follows:- Now when the blessed one had remained at Savatthi as long as he thought healthy, he went ahead on his journey to Ragagaha, and reached wandering straight at Ragagaha. At Ragagaha he stayed at the Veluvana in the Kaladaka-nivapa. at that time the physician Akasa-gotta operated a Bhikku suffering with fistula in ano. The blessed one visited the place where that Bhikku dwelt. The physician Akasa-gotta, demonstrated the diseased part (anus) to the blessed one, and said look at this Bhikku's orifice; it is like the mouth of iguana. Venerable Gautama called a meeting of the Bhikku-samgha and expressed his dissatisfaction to the surgical procedure performed for fistula in ano. And having admonished him, Buddha delivered a religious discourse and said to the Bikkhus: 'you are not, O Bhikkus, to allow a surgical operation to be performed upon you in that part of your bodies, Whosever allows that, is guilty of inullakkaya offence'. After banning the surgical procedures, at that time Khabbaggiya Bhikkhus, used a clyster. When this episode came in the knowledge of lord Buddha, he rebuked them and delivered a religious dissertation, said to the Bhikkhus: No surgical operation is to be performed within the distance of two inches round the anus, and a clyster is not to be used. person responsible for that is guilty of a thullakkaya offence.

No science can flourish with out the support of governing body of the day. At the time of lord Buddha, the government was highly influenced with the religion, so at that time, surgical practice was declared illegal. As the Buddhism flourished, the development of Rasa-sastra (alchemy) took place rapidly. Efficacy of these herb mineral preparations was excellent in different diseases. But there was a breach in the medical practice, due to the ban on surgery. The scholars of surgery have changed their talent in other direction and they developed different kind of healing techniques like Marma-Vigyana, Sira-vedha and Karna-vedhana, by which instant relief was possible.

The history of surgery in India dates back to Vedas in which transplantation of head, amputation of legs and its replacement by iron legs have been mentioned, performed by divine twin Asvini Kumaras. Susruta Samhita is the oldest available text of surgery, in the world. In fact we would know almost nothing about the ancient Indian surgery if Susruta Samhita had not been preserved. This book not only represented the embodiment of surgical preserved. This book not only represented the embodiment of surgical knowledge of the past millenniums, but also was much ahead of his times in expounding and practing the surgical principle, the validity of which are realized today.

It is very interesting to know that, the study of Vedas, Indian philosophy, epics and Ayurveda was common in Kambuj. In yasoverma's Lole inscription, it is said that, the king cures the diseases of his subject, and his speech is called Susrodita (originated from Susruta). It is important that, apart from

other Ayurvedic texts, Susruta-Samhita was also popular in this region.

Most significant achievement of ancient Indian surgery lies in the fact that surgery was elevated from a manual art to an academic discipline and a superior area of expertise amongst eight disciplines of Ayurveda Susruta was the first person to provide conceptual framework to the practice of surgery. The Susruta Samhita deals among other subjects with medical diseases, but it is basically surgical text. It also deals with anatomy, pathology, toxicology, and diseases of eyes, obstetrics and even medical ethics. Maharsi Susruta has mentioned the method of dissection. According to Susruta there are 107 vital points in the body, 700 blood vessels, 300 bones, 400 ligaments and 500 muscles. Susruta's concept of plastic surgery is the basis of modern plastic surgery.

MAERMA - VIGYANA {KNOWLEDGE OF VITAL POINTS}

Marmas are the vital points, present in the body. The juncture of mansa, sira, snayu, asthi and sandhi is known as marma It is also known as Jeevasthana and Pranayatana. The Marmas are 107 in number. They are of five types, I.e.

1-Mamsa marmas are eleven in number.

2-Sira marmas are forty-one in numbers.

3-Snayu marmas are twenty-seven in numbers.

4-Asthi marmas are eight in number.

5-Sandhi marmas are twenty in number.

Any injury to these vital parts may lead to death, loss of function, intense pain and loss of sensation (anesthesia). This concept of Marmas, is the basis of all martial arts and acupuncture / acupressure anesthesia. According to Susruta Samhita, due to injury of Mamsa Marma, there may be loss of touch sensation. By using this information, local anesthesia can be produced by irritating the Mamsa Marma. All marmas are of three types, Agneya, Saumya, Vayavya.

* Sadyapranahara marmas are Agneya.
* Kalantarapranahara marmas are the combination of Saumya and Agneya Property.
* Visalyghnara marmas are Vayavya.
* Vaiklyakaraka marmas are Saumya.
* Rujakara marmas are the combination of Agneya and Vayavya properties.

TSUBO/SHIASTU/KAMPO/MOXIBUSTION/ACCUNCTURE/ANMA

Traditional medical science of south East Asia Japan and china combines the therapies of Acupuncture, Shiastu, Moxa, Tsubo, Kampo and Anma. Tsubo are places of special importance on the body. Tsubo are the vital points; have to be located by exercising special sensitivity. The meaning of word Tsubo represents an earthenware vessel or jar. These are invisible points on the body surface, where exerting the pressure can alleviate the various clinical symptoms.

The Tsubo has great importance in traditional/oriental medicine of China, Japan and south East Asia. At present time giving the astounding results has popularized Tsubo. Acupuncture anesthesia has received worldwide attention. In different parts of the world, the Oriental medicine developed through the long experience of thousands years. The oriental medicine is also called Kampoo having mainly two branches; one has developed in the Yellow river basin and another from the Yangtze river basin of China. The former branch is acupuncture and moxibustion that includes anima or traditional massage. Today anima has developed into a specialized massage technique, by

which they cure a number of bodily ailments. The locations of most effectives points for treatment on the body are called tsubos. In herbal medicine the roots of plants and bark of the trees were used to treat diseases, because herbal remedies were often not very effective in surgical disorders and in preventing the infectious or contagious Diseases, so it went out the main stream of the conventional methods of treatment. The oriental medicine has a fundamental framework supported by long tradition of empirical knowledge from successful cure of diseases. The fundamental principle of oriental Medicine is based on the concept of six zang and six fu. The principles of Oriental Medicine follow the nature. All manifestations in nature are widely divided in to either Ying or Yang. It represents the phenomena of day and night, light and dark, hot and cold. For example, male is yang and female is yin.

In additions, the nature is made up of five basic elements i.e., plants, heat, earth, minerals and liquids. All creatures of the nature are classified as wood, fire, earth, metal or water. So the Oriental medicine is based upon the yin-yang and five elements theory. The human body also follows the yin-yang and five-element theory, and these principles are applied to all aspects of human life. All body organs are either yin (zang) or Yang (fu) and are made up of five elements.

These five elements are associated with a yin organ or a yang organ. The five essential organs are liver, heart, spleen, lung and kidney. The liver is associated with wood, the heart is associated with fire and the spleen, lung and kidney are associated by earth, metal and water respectively. In oriental medicine these organs do not represents the same meaning as stated in modern medicine.

The human life is not sustained fully by five essential organs (zang/yin). There are also (fu/yang) organs which form collateral or paired relationship with the (zang/yin) organs to maintain the normal body functions. For example, the gallbladder is the yang organ (fu) that supports the liver yin organ (zang). the heart is combined by small intestine and the spleen/pancreas is paired with stomach. The large intestine gives support to the lungs and the urinary bladder aids the function of kidneys, there combinations of above mentioned ten organs are called five zang and five fu. There is one more zang-fu combination mentioned in oriental medicine. The heart constrictor (pericardium) is the yin organ is paired with the triple heater yang/fu organ. The triple heater is the point, which keeps the body warm through out the life. It is the source for the production of body heat. This combination is not an anatomical entity, it seems a physiological thing.

In oriental medicine, the six zang are the liver, heart, spleen, lungs, kidneys and heart constrictor, and six fu are the gallbladder, small intestine, stomach, large intestine, urinary bladder and triple heater. The zang are the yin organs and the fu are the yang organs.

The physiology of the body is under the control of the six zang and six fu. Derangement of the function of any of the organ may affect whole of the body, by this process the microcosm is deprived of mental and bodily energy.

CONCEPT OF MERIDIANS THROUGH THE BODY:-

In oriental medicine, there is concept of circulatory system of energy that passes through the six zang and six fu to supply them with the vital energy.

These channels are called meridians, run in the vertical direction while collaterals run in horizontal direction. The circulation of vital energy flows through the six zang and six fu, vertically and horizontally, through out the body.

There are twelve meridians.

1. Lung meridian

2. Large intestine meridian.

3. Stomach meridian.
4. Spleen meridian.
5. Heart meridian.
6. Small intestine meridian.
7. Urinary bladder meridian.
8. Kidney meridian.
9. Heart constrictor meridian.
10. Triple heater meridian.
11. Gallbladder meridian.
12. Liver meridian.

The Indian system of medicine (Ayurveda), even now give medical relief to a very large section of the Indian population. In present time, the saturation point came in the field of western medicine. The side effects of many Allopathic medicines are obvious. The scientists and researchers are very keen to offer an alternative medical system to suffering humanity of the world. In this scenario only the Ayurveda fulfils the criteria. Incorporation of oriental medicine will enrich the Ayurveda fulfils the criteria. Incorporation of oriental medicine will enrich the Ayurveda as whole. interaction between the experts of both the discipline will fulfill the endeavor of globalization of Ayurveda.

DATES OF SPECIAL REMEMBERENCE AND REFFERENCE:-

*Birth of Lord Buddha:-- 567 B.C.

*Demise of Lord Buddha:-- 487 B.C.

*Enthronement of King Ashoka:-- 272 B.C.

*Entry of Sanghamitra And mahendra In Ceylon:-- 241 B.C.

*Entry of Buddhism In China:-- 65 B.C.

*Entry of Buddhism In Khotan:-- 53 B.C.

*Entry of Buddhism In Korea:-- 369 A.D.

*Entry of Buddhism In Japan:-- 522 A.D.

*Entry of Buddhism In Tibet:-- 641 A.D.

References:-

1- Vrihatter Bharat Ka Itihas - By - Chandra Gupta Vedalankar.

2- Beal's Buddhist Records of the Western World, Vol. I., P. 165, 198 and 214;

3- The Surgical Instruments of the Hindus By - Girindra nath Mukhopadhyay, Pub lished By Calcutta University. -- 1913.

4- Dakshin-purvi Aur Dakshin Asia Main Bhartiya sanskriti By; -- Satyaketu Vidyalankar, Published by:-- Shri Saraswati Sadan, mussori; --1974

5- Mohavagga, VIII, 1.18.

6- Mohavagga, VI 14.4 & 5.

7- Mohavagga, VI 22.3.

8- Mohavagga, VI. 22.

9- Kasyapa Samhita, Sutrasthana, Chapter-21

10- Susruta Samhita, Sharirasthana, Chapter-6

11- Effective Tsubo Therapy By--Katsuke Serizawa, M. D. October 1984.
Published by Japan Publication, Inc., Tokyo and New York

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0227-231)

Water in Vedas

R. Bhutiani and D.R. Khanna

Department of Zoology and Environmental Sciences

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar

The importance of water had been described in our Vedas. According to yajurveda water is the elixir of life, it is source of energy and governs the evolution and functions of the universe on the earth.

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। यजु०११:५०

In Yajurveda water has been described as " The gods drew waters with their store of sweetness, succulent and observant, king creating where with they sprinkled Varuna and Mitra, where with they guided Indra to past his foemen."

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥ यजु० १०:१

Our Vedas also describes various types of water, according to which water has many synonyms; it has 101 names, which are described along with their importance. Pure water is pollutant remover and disease curer.

Paniya paryaya - Synonyms of Water

पानीयं सलिलं नीरं कीलालं जलमम्बु च।
आपो वारि कं तोयं पयः पाथस्तथोदकम्॥
जीवनं वनमम्भोऽर्णोऽमृतं घनरसोऽपि च ॥१॥
पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं,
तन्द्राच्छर्दिविबन्धाहृद्यालकरं निद्राहरं तर्पणम्॥
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं,
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्॥२॥

Bhavaprakasa 6:1:2

Paniya, Salila, nira, kilala, jala, ambu, apa, var, vari, kam, toya, payas, pathas, udaka, jivana, vana, ambha, arna, amrta and ghanarasa - are synonyms

Paniya (Water) relieves fatigue, exhaustion, fainting, thirst, stupor, vomiting and constipation, bestows strength, words - off sleep, is nourishing, good for the heart, of concealed taste, mitigates indigestion, always good for health, is cold in potency, easily digestible clean, helpful for taste perception and is enlivening like nectar.

Classification of Water

Ayurveda classified water into two i.e. Atmospheric water (Divya) and Terrestrial water (Bhauma), atmospheric water i.e. Divya water is further of four types i.e. Rain water in torrents (Dharaja), snow melt water from hailstones (Karakabhava), vapor water/Dew (Tausaral and water from

snow fall (haima). The rain water in torrents i.e. Dharaja is purest form of water and is of two types Akashganga which is sweet, good and potable and samudra which is salty and impotable.

Another type of water i.e. Terrestrial water (Bhama) has been classified into three i.e. water from desert (Jangala), water from marshy land (Anoopa) and water from temperate/moderate (Sadharana).

Properties of water

Properties of different water has been described in details in Ayurveda, According to Bhavprakash torrential water/water on earth (Bhaumajala) is of three types as already mentioned i.e. Jangala, the water from deserts, Anupa, the water from marshy land and Sadharana the water from temperate/moderate lands. Out of these three Anupa, the water from marshy land is rich in water and Jangala, the water from deserts has scarcity of water, while the third one i.e. Sadharana, the water from temperate/ moderate lands has mixture of these two features i.e. with moderate amount of water.

All these types of water have their own properties and cures many types of diseases and is good for health.

Types of water

Our vedas gives us the knowledge of water, The types of water is also described by Atharvaveda. According to Atharvaveda water is of following types:

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः॥
शं ता आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः॥ अथर्व १९/२/१-२

The above ved mantras mention the following types of pure water:

1. हैमवती आपः (Water from Himalayas)
2. उत्स्याः आपः (Spring water)
3. सनिष्यदाः आपः (Perennial Water)
4. वर्ष्याः आपः (Rain Water)
5. धन्वन्याः आपः (Desert Water)
6. अनुप्याः आपः (Hygroscopic water)
7. खनित्रिमाः आपः (Underground water)
8. कुम्भेभिः अमृताः आपः (Pitcher water)

According to Ayurveda Water is of following types with different Qualities:

1. Dharajala (Torrential rain water)
2. Anartavajala (Unseasonable rain water)
3. Karakajala (Water from hailstones)
4. Tusarajal (Dew)
5. Himajala (Water from snow fall)
6. Bhaumajal (Terrestrial water/ Water on earth)

7. Nadeyajala (River Water)
8. Audbhida jala (Water from springs)
9. Nairjhara jala (Water from streams/ water falls)
10. Sarasa jala (Water from natural lakes)
11. Tadaya jala (Water from ponds)
12. Vapya jala (Artificial tank with steps)
13. Kaupa jala (Deep well water)
14. Caunjya jala (Rain water from pits in rocks)
15. Palvala jala (Water of small pool)
16. Vikira jala (Water of burrows in moist sand)
17. Kaidara jala (Water of cultivable fields)
18. Prasasta vrstijala (Good and bad rain water)
19. Amsudaka (Water exposed to rays of sun and moon)
20. Anya jal (other water)

Importance of water

As we already mentioned that water is the elixir of life and without water life is not possible of earth. Therefore it is an important resource, and plays an important part in survival of living organism on this vary planet i.e. earth.

Vedas also described the importance of water, some of the Richas with English translation are given below which highlights the importance of water: -

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। ऋ०१/२३/१९

Pure water is like nectar and has medicinal properties.

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। ऋ०१/२३/२२

Bathing in pure water and drinking it drains the impurities of the body

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। ऋ०१/२३/२३

Using pure water a man becomes healthy.

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्रवन्तु नः ॥

ऋ० १०/०९/०४

We can get healthy body by drinking pure water and taking bath in it.

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥

ऋ०१०/१७/१०

Pure water cleans our body like mothers. It makes us sacred with particles of energy present in it. And it drains all the pollutes and makes the man pious and energetic.

उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। यजु०२/३४

Pure water contains energy, Nectar, Vigor and digestive power.

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः॥

यजु०४/१२

Pure water enhances the digestive power when it reaches the stomach. It is divine, nectarous, tasty, disease prevention and curer, body purifier and life promoter.

The Ganga water

"Rivers are like mothers for the country and mountains like the father. This father is a magnanimous thought full resolute archaic man and the rivers are conscious liberators, swift and source of knowledge, when clouds which roam free in the open sky spend themselves at the bedstead of the horizon after creating a commotion, then Mother Earth conceives that life giving man with the halo through its river in arteries. These water filled streams fill the earth with the power of procreation and energy. It is these streams flowing on the land mass which as the blood pumping arteries in the body."

-Kalidas in Raghuvansham

In the Garhwal Himalaya the two main streams, the Bhagirathi and the Alaknanda, form Ganga river system. At Deoprayag the confluence of these two rivers is called the Ganga, which flows down and emerges on the river of plains at Rishikesh, Hardwar.

According to the Hindu mythology, the king Bhagirath brought down this river to the earth for the salvation of his ancestors.

शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि ।
तृष्णामोहध्वंसन दीपनं च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम् ॥

The Ganga water is colorless, tasty pure, very delicious, cold, disease curer, fit for cooking, digestive, quench the thirst, satisfy hunger and enhancing the memory.

हिमवत्प्रभवाः पथ्या।

"Ganga jal cures the diseases" (Maharishi Charak)

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥ अथर्व० ०६/२४/०१

Water from Himalayas cures the heart diseases. Vridh Susruta tells about the water suitable for Health, it includes the time of collection of water (Jala grahanakala), according to it the best time for collection of water is morning hours. Time for drinking of water (Jala grahana Samaya), Drinking small quantities of water but frequently is best for human health. Drinking cold water (Sital jal pana) is helpful in several diseases. Drinking of water in very little quantity (Alpa jal pana) cures skin diseases, ulcers etc. Necessity of water (Jal pana avasyakata) is essence of life; hence avoiding water completely is not possible (According to Harita).

Suddha jala (pure potable water) is good in taste, odorless, cold relieves thirst quickly and pleasing to heart /mind. While Dusta jala (impotable water) has bad taste, bad smell, polluted and causes disease.

Purification of water

Water in Vedas

Our vedas also tells us about the purification of water, which is essential for proper survival of human beings on earth. Nirdoshikarana (Purification of water), water can be purified by boiling, makes smell sweet by putting karpura etc. filtering through sieve or clean cloth of fine mesh size can purify it.

To prevent water from pollution and to purify the polluted water, vedas have given many methods:

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ऋ०७/४९/०४

According to this mantra of Rigveda, water can be purified by water purifying air (Dissolved oxygen) or any other gas, Sunrays or fire (temperature) and ions.

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। यजु०१/१२

By the help of scientific methods or natural methods passing of sunrays through water purifies it. A grass (Kusha grass) also purifies the water.

गुरुकुल-शोध-भारती 2005 अंक 3 (पृ0232-236)

STRESS AND HEALTH

Vikram Singh[1], Dr. C.P. Khokar[2].
Department of Psycology
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar

Right from the time of birth till the least breath drawn, an individual is invariable exposed to various stressful situations. Thus stress is a subject, which is hard to avoid. Different people have different views about it as stress can be experienced from a variety of sources.

The concept of stress in the modern sense is not easily found in the traditional texts of Indian culture and tradition such as Charak Samhita, Patanjali's Yogasutra and Bhagwad Gita. However, a number of concepts developed by ancient Indian scholars relate to or appear similar to the phenomenon of stress. Some of these, for examples, are dukha (pain, misery or suffering), Klesa (afflictions), Kama or Trisna (desires), atman and ahamkara (self and ego), adhi (mental aberrations) and prajnaparadha (failure or lapse of consciousness). It is interesting to note that the body-mind relationship, characteristic of modern stress studies, is emphasized in the Ayurvedic (Indian) system of medicine.

Palsane et al. (1993) have discussed this issue in detail. They noted that the Indian tradition is characterized by a holistic approach to human phenomena. Behavior is interpreted in terms of the totality of an individual's life style and total body-mind relationship. This synthetic/eclectic approach can be contrasted with the predominantly analytic approach of the Western social sciences that describe behavioral phenomena according to their constituent parts. The mind body level of analysis in Indian tradition is treated as less significant than analysis at a still higher transpersonal level of self, atman or soul, which in turn in equaled with Brahman–the ultimately. The authors have further observed that modern western psychological literature focusing on ideas related to the strength of motives and frustration and their behavioral consequences, the frustration aggression hypothesis, ego involvement, mind–body interactions (psychosomatic) and locus of control have their parallels in ancient Indian thought.

S.K.R. Rao (1983) has very succinctly traced the origin of stress in Indian thought. Going back to the Samkhya and Yoga systems, he has pointed out that there are two Sanskrit word klesa and dukha, which approximate stress. The ward klesa has its origin in the root khis, which means to torment 'cause pain' or to 'afflict', Klesas are not mental processes but are a set of 'hindering load' on our mental process, they produce agitations which act as restrictions or hindrances.

The Samkhya-Yoga system explains that the fundamental non-cognition, which leads to phenomenological stress, is avidya. This avidya leads to asmita (self–appraisal), raga (object appraisal), dvesha (threat appraisal) and abhinivesa (coping orientation). These three appraisals, namely, those concerning the self, the object and the threat are used for reality testing, Faulty evaluation in either or all of these can produces stress and torment. The Samkhya system postulates that the feeling of ducka or stress is experienced by the individual in the course of his her interaction with the world around him/her. This system mentions three types of stresses personal (adhyatmik), situational (adhibotik) and environmental (adhidevik). Personal stresses can again be of two types, namely, physiological and psychological (or mental).

Physiological stresses are born out of imbalances between the traces three fundamental physiologic constituents, namely, vata, pitta and kaph. Psychological stresses are caused by emotional

states of lust, hatred, greed, fear, jealousy and depression. Situational stresses are usually caused by 'Un whole some interpersonal transactions', which may include conflicts, competitiveness, aggression etc. The third type of stresses, namely, environmental stresses are occasioned by natural calamities like extremes of temperatures, storms, etc. The abhinivesa indicates the commencement of coping behaviors by arranging the behavior in a proper response sequence.

Looking back at the concepts of asmita, raga and dvesha, we find that they clearly indicate the 'increasing relevance of transactional cognitive processes to life 'situations' and also the increasing role of 'energy dynamics'. A study of self–appraisal reveals that the situation is purely cognitive, in object appraisal we find that intentionality is mainly cognitive with less energy mobilization. However, in threat appraisal the conditions of alarm are characterized by cognitive processes combining energy mobilization. It also involves emotions and other organic changes. The abhinivesa is supposedly non–specific just as the fundamental klesa and avidya are non–specific. The term avidya, which literally means non–cognition is an antonym of correct self – appraisal and the encounters between the self and the object Klesa, as stress has been defined, operates through four different modes. The first is prosupta or dormant. Given the right type of conditions, any mental process can become a stressor. The analogy is given of a seed, which can flower into a tree provided the facilitating conditions are present. The second is tonu or tenuous denoting comparatively weak stressors, which are held in check by more powerful stressors. They are present but without sufficient intensity and urgency. The third types of stressor are vichchinna or intercepted; these lack continuity due to conflict with competing responses. Their demand character is high but they alternate between levels of 'high operation' to 'dormant'? Naturally, they surrender their stressor value when in a dormant stage. The fourth mode is udara or operative stressors. These are potent stress responses, which have found full expression in clearly observable behavioral modes. They have overcome the weaknesses of the first three modes.

This model proposed in the Yoga sutra is a comprehensive one incorporating cognitive structuring, affective or emotional stages and adaptive reactions. It also presents the concept of 'Kriya Yoga' which is aimed at reducing the 'number and intensity of the stressors' and facilitates related conservation of mental energy devoid of tension which is defined as Samadhi bhavana.

'It is evident from this discussion that like Western researchers, Indian scholars also differently approached the problem of stress. They viewed this phenomenon from various perspectives ranging from stimulus-oriented to response and psychodynamic points of view. Ancient Indian scholars, however, seem to have paid due attention to this issue. The system of Yoga is analytical and not only helps the individual in understanding his own stresses but also leads him to the roots of these stresses. There are subtle variations in the intensity with which different stressors operate and it is not unlikely that the powerful stressors become less or even dormant after a period of time whereas the less powerful ones may disappear or return with greater vigor.

Stress and Disease:

Every era in history has been characterized by some debilitating disease. For instance, in the northern hemisphere, there were the plagues of the middle ages, the "consumption" of the romantic period, and the ravages of polio and pneumonia in the early 1900's. However, these diseases were eliminated once the environmental conditions improved or when their carriers were destroyed through drugs. Our society today also has a disease characteristic of it, but one that is not so easy to eliminate. It underlies such diverse conditions as psychosomatic diseases, heart diseases and can be a major contributor to disturbances in one's emotional, social and family life. It inhibits creativity and personal effectiveness and exhibits itself in a general dissatisfaction, so obvious in our day-to-day lives. The

name of this condition is 'stress' and it has been called the most debilitating medical and social problem of the present century (Neurenberga, 1990).

Stress is unique in the category of diseases. It has no biological carrier such as a germ or virus. Rather, it is the result of how our mind and body function and interact. It is psychosomatic in the true sense of the word Psyche meaning 'mind' and soma meaning 'body'. It is the consequence of how we regulate, or to put it more appropriately, how we do not regulate, the mental and physical functioning of our being. It is the 'dis-case' created by the abuse of our minds and bodies and can lead to totally different symptoms in different people. These may be as innocuous as temper tantrums or as destructive as a heart attack. Stress may express itself through alcoholism or depression. Though its symptoms are many, its causes often go unrecognized and untreated

WAYS TO MANAGE STRESS EFFECTIVELY:

Lazarus and his associates (1966) have suggested "intellectualization 'rationalization', isolation, and denial as effective cognitive-coping strategies. Through denial and isolation may not be considered very healthy coping strategies where in individual denies the stressfulness of the situation and adopts a detached attitude towards the situation of stress and threat, these may be quite appropriate when the situation of stress is totally beyond the control and coping capacity of the focal person.

Individuals can adopt following cognitive restructuring and cognitive-coping strategies to avoid or moderate the experience of stress. Many of these coping strategies form special features of our Indian culture (A.K. Srivastava, 1997).

1. Consider difficult, adverse. or demanding job situations as inevitable parts ofjob life.
2. Perceive stressful job situation as a temporary phase of the job.
3. Try to rationalize the situation of stress and its consequences.
4. Take excessive demands as a challenge.
5. Assess the severity of your job stress with reference to others who are facingsimilar or more severe stresses in their jobs.
6. Think that time itself takes care of such situations.
7. Accept the situation of stress thinking that there is nothing you can do to change them.
8. Simultaneously think about the positive outcomes of successful dealing with the situation of stress.
9. Believe that every problem ultimately has some remedy.
10. Think that no one is totally free from stresses, though of different nature and severity.
11. Remind yourself that work is not everything.
12. Believe in Gita's philosophy that "Your right is to do you job only, not to expect the fruits there of".
13. Accept the situations of stress as realities of life.
14. Besides the cognitive-coping strategies, the individuals can develop certain temperamental qualities and adopt specific behavior patterns or habits, which could help in preventing, 'mitigating, or effectively coping with situations of job stress. Though practice of some of

these behavioral patterns is difficult, individuals can develop them through self imposed behavior modification method.

15. Increase, self-esteem and the level of tolerance and patience.
16. Do not be rigid in your ways of functioning attitudes and decisions?
17. Do things at work in a planned and systematic manner?
18. Try to separate and maintain coordination between your job and other roles.
19. Avoid doing many things simultaneously.
20. Set your priorities for job activities.
21. Do work efficiently but avoid competitions.
22. Discuss the problems with supervisors and/or other competent colleagues or superiors.
23. Avoid time pressure and role overloading. Be regular and make proper distribution of the time for your job activities.
24. Do not try to reach the perfection level in all routine activities.
25. Work sincerely, but do not be over enthusiastic all the time in discharging your duties.
26. Frankly tell your limitations and inabilities.
27. Try to nip the problems in the bud.
28. Be a realist. Aspire within the framework of your capabilities and resources.
29. Try to overlook rather than to react to the irritating situations or behavior of people at work.
30. Before doing something, consider all its possible consequences.
31. If there is no way out, do your best to get out of the situation gracefully.

Coping With Stress Through Non Drug Methods:

There are basically two methods of coping with stress (a) drug therapy, and (b) non-drug method. In today's space age where one is always faced with a multitude of problems and tensions, it is not advisable to use drugs continuously to cope with stress and related ailments like headaches and backaches.

The non-drug methods of coping are advantageous and safer. Some of the non-drug methods like relaxation, acupuncture, exercise walking, yoga, medication, bio-feed back, and recreation.

Total Health Includes Spiritual Well-being:

The definition of health, which confines it to physio-psycho-socio fields, is incomplete. Health is an integral concept, which comprehends the totality of our being. True health must include not only physical fitness but also the simultaneous psychological and spiritual well-being. In a broader perspective, the physical part of the human being is not as important as the spiritual, intellectual and emotional aspects. Mind draws its power from the 'spirit', transmits it to all the body organs, and ensures their rhythmic and coordinated functioning.

Some experts feel that the contents of the hypothesized 'Factor X' could be conveniently included in the mental well-being dimension of health. This would have the advantage of not using the word spiritual' which connotes different meanings to different people depending upon their socio-

cultural background. The ambit of mental well-being could be extended to include human values.

Naidu and Pandey (1988) presented an interim research report on non-attachment and health. It was hypothesized that non-attachment would be implicated in stress process. It would have its main effects on stress and strain, and also moderate the relationship between stress and strain. It was predicted that non attached persons, compared to less non attached subjects, would perceive a lesser degree of stress, exhibit fewer symptoms of strain and show a smaller correlation between stress and strain.

The sample consisted of 465 Hindu adults in the age range of 30 to 50 years. They were 230 males and 235 females. They were administered a measure of Non-Attachment (specially developed for this study), a Stress Scale and a measure of Strain also developed for this study.

The results indicated that those who were none attached, though they experienced as many events as their attached counterparts, did not get as distressed by those events. Consequently, they exhibited fewer symptoms of mental and physical strain in comparison to those low on non-attachment. Thus, non-attachment is a powerful predictor of both perceived distress and strain. To that extent this data supports the assertions of the various commentaries on the Gita regarding the health endowing capacity of non-attachment. This study demonstrates that empirical work with indigenous concepts is a distinct possibility.

Reference

Palsane, M.N; Bhavasar, S.N, Goswami, R.P. and Evans, G.W. (1993): *The concept of stress in the Indian tradition*, Pure University of Poona. Press.

Srivastav, A.K. (1997): Dynamics of role stress an organization. In D.M. Pestanjee and U. Pareek (Eds.) studies in organizational role stress and coping. Jaipur/New Delhi; Rawat Publications.

S.K.R. Rao (1983): *The conception of stress in Indian thought* . The theoretical aspects of stress in Samkhya and Yoga systems. NIMHANS Journal, Vol 2, 115-121.

Nuernberger, P. (1990): *Freedom from stress. Pennsylvania:* Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy.

Naidu, R.K and Pande, N. (1988): *On qualifing a spiritual concept : An interim research report about non-attachment and health.* Paper presented at the National Seminar on Mental Health and Stress, Bhopal.

Lazarous, R.S (1966): *Psychological stress and the coping process*. New York: Mc Graw-Hill.

[1]Research Scholar, [2]Reader, Dept. of Psychology, G.K. University, Haridwar

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् ही प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।
- वैदिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-लेख प्रेषित करने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे मन्त्र पर उदात्त, अनुदात्तादि स्वरों को अङ्कित करें।